ॐ

श्रीमन्महर्षि वेदव्यास-प्रणीत

वेदान्त-दर्शन

[ब्रह्मसूत्र]

(सरल हिन्दी-व्याख्यासहित)

व्याख्याकार—

हरिकृष्णदास गोयन्दका

ॐ

श्रीमन्महर्षि वेदव्यासप्रणीत

वेदान्त-दर्शन

[ब्रह्मसूत्र]

(सरल हिन्दी-व्याख्यासहित)



व्याख्याकार—

हरिकृष्णदास गोयन्दका

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० २००९, प्रथम संस्करण १०,०००

मूल्य २) दो रुपया

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीपरमात्मने नमः

निवेदन

त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

मूकं करोति वाचालं पङ्गुं लङ्घयते गिरिम्।
यत्कृपा तमहं वन्दे परमानन्दमाधवम्॥

महर्षि वेदव्यासरचित ब्रह्मसूत्र बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें थोड़े-से शब्दोंमें परब्रह्मके स्वरूपका साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है, इसीलिये इसका नाम 'ब्रह्मसूत्र' है। यह ग्रन्थ वेदके चरम सिद्धान्तका निदर्शन कराता है, अतः इसे 'वेदान्त-दर्शन' भी कहते हैं। वेदके अन्त या शिरोभाग—ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद्के सूक्ष्म तत्त्वका दिग्दर्शन करानेके कारण भी इसका उक्त नाम सार्थक है। वेदके पूर्वभागकी श्रुतियोंमें कर्मकाण्डका विषय है, उसकी समीक्षा आचार्य जैमिनिने पूर्वमीमांसा-सूत्रोंमें की है। उत्तरभागकी श्रुतियोंमें उपासना एवं ज्ञानकाण्ड है; इन दोनोंकी मीमांसा करनेवाले वेदान्त-दर्शन या ब्रह्मसूत्रको 'उत्तर मीमांसा' भी कहते हैं। दर्शनोंमें इसका स्थान सबसे ऊँचा है; क्योंकि इसमें जीवके परम प्राप्य एवं चरम पुरुषार्थका प्रतिपादन किया गया है। प्रायः सभी सम्प्रदायोंके प्रधान-प्रधान आचार्योंने ब्रह्मसूत्रपर भाष्य लिखे हैं और सबने अपने-अपने सिद्धान्तको इस ग्रन्थका प्रतिपाद्य बतानेकी चेष्टा की है। इससे भी इस ग्रन्थकी महत्ता तथा विद्वानोंमें इसकी समादरणीयता सूचित होती है। प्रस्थानत्रयीमें ब्रह्मसूत्रका प्रधान स्थान है।

संस्कृत भाषामें इस ग्रन्थपर अनेक भाष्य एवं टीकाएँ उपलब्ध होती हैं; परंतु हिन्दीमें कोई सरल तथा सर्वसाधारणके समझने योग्य टीका नहीं थी; इससे हिन्दीभाषा-भाषियोंके लिये इस गहन ग्रन्थका भाव समझना बहुत कठिन हो रहा था। यद्यपि 'अच्युत ग्रन्थमाला' ने ब्रह्मसूत्र शाङ्करभाष्य एवं रत्नप्रभा व्याख्याका हिन्दीमें अनुवाद प्रकाशित करके हिन्दी-जगत्का महान् उपकार किया है; तथापि भाष्यकारकी व्याख्या शास्त्रार्थकी शैलीपर लिखी जानेके कारण साधारण बुद्धिवाले पाठकोंको उसके द्वारा सूत्रकारके भावको

समझनेमें कठिनाई होती है। इसके सिवा, वह ग्रन्थ भी बहुत बड़ा एवं बहुमूल्य हो गया है। जिससे साधारण जनता उसे प्राप्त भी नहीं कर सकती। अतः हिन्दीमें ब्रह्मसूत्रके एक ऐसे संस्करणको प्रकाशित करनेकी आवश्यकता प्रतीत हुई, जो सर्वसाधारणके लिये समझनेमें सुगम एवं सस्ता होनेके कारण सुलभ हो। इन्हीं बातोंको दृष्टिमें रखकर गतवर्ष वैशाख मासमें, जब मैं गोरखपुरमें था, मेरे एक पूज्य स्वामीजी महाराजने मुझे आज्ञा दी कि 'तुम सरल हिन्दीमें ब्रह्मसूत्रपर संक्षिप्त व्याख्या लिखो।' यद्यपि अपनी अयोग्यताको समझकर मैं इस महान् कार्यका भार अपने ऊपर लेनेका साहस नहीं कर पाता था, तथापि पूज्य स्वामीजीकी आग्रहपूर्ण प्रेरणाने मुझे इस कार्यमें प्रवृत्त कर दिया। मैं उसी समय गोरखपुरसे स्वर्गाश्रम (ऋषिकेश) चला गया और वहाँ पूज्यपाद भाईजी श्रीजयदयालजीसे स्वामीजीकी उक्त आज्ञा निवेदन की। उन्होंने भी इसका समर्थन किया। इससे मेरे मनमें और भी उत्साह और बल प्राप्त हुआ। भगवान्‌की अव्यक्त प्रेरणा मानकर मैंने कार्य प्रारम्भ कर दिया और उन्हीं सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी सहज कृपासे एक मास इक्कीस दिनमें ब्रह्मसूत्रकी यह व्याख्या पूरी हो गयी। इसमें व्याकरणकी दृष्टिसे तो बहुत-सी अशुद्धियाँ थीं ही, अन्य प्रकारकी भी त्रुटियाँ रह गयी थीं, अतः इस व्याख्याकी एक प्रति नकल कराकर मैंने उन्हीं पूज्य स्वामीजीके पास गोरखपुर भेज दी। उन्होंने मेरे प्रति विशेष कृपा और स्वाभाविक प्रेम होनेके कारण समय निकालकर दो मासतक परिश्रमपूर्वक इस व्याख्याको देखा और इसकी त्रुटियोंका मुझे दिग्दर्शन कराया। तदनन्तर चित्रकूटमें सत्सङ्गके अवसरपर पूज्यपाद श्रीभाई जयदयालजी तथा पूज्य स्वामी श्रीरामसुखदासजी महाराजने भी व्याख्याको आद्योपान्त सुना और उसके संशोधनके सम्बन्धमें अपनी महत्त्वपूर्ण सम्मति देनेकी कृपा की। यह सब हो जानेपर इस ग्रन्थको प्रकाशित करनेकी उत्सुकता हुई। फिर समय मिलते ही मैं गोरखपुर आ गया। फाल्गुन कृष्ण प्रतिपदासे इसके पुनः संशोधन और छपाई आदिका कार्य आरम्भ किया गया। इस समय पूज्य पण्डित श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्रीने इस व्याख्यामें व्याकरण आदिकी दृष्टिसे जो-जो अशुद्धियाँ रह गयी थीं, उनका अच्छी तरह संशोधन किया और भाषाको भी सुन्दर बनानेकी पूरी-पूरी चेष्टा की। साथ ही

आदिसे अन्ततक साथ रहकर प्रूफ देखने आदिके द्वारा भी प्रकाशनमें पूरा सहयोग किया । पूज्य भाई श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार तथा उपर्युक्त पूज्य स्वामीजीने भी प्रूफ देखकर उचित एवं आवश्यक संशोधनमें पूर्ण सहायता की । इन सब महानुभावोंके अथक परिश्रम और सहयोगसे आज यह ग्रन्थ पाठकोंके समक्ष इस रूपमें उपस्थित हो सका है ।

इस ग्रन्थकी व्याख्या लिखते समय मेरे पास हिन्दी या अन्य किसी भारतीय भाषाकी कोई पुस्तक नहीं थी । संस्कृत भाषाके आठ ग्रन्थ मेरे पास थे, जिनसे मुझे बहुत सहायता मिली और एतदर्थ मैं उन सभी व्याख्याकारोंका कृतज्ञ हूँ । उक्त ग्रन्थोंके नाम इस प्रकार हैं—(१) श्रीशङ्कराचार्यकृत शारीरक-भाष्य, (२) श्रीरामानुजाचार्यकृत श्रीभाष्य, (३) श्रीवल्लभाचार्यकृत अणुभाष्य, (४) श्रीनिम्बार्कभाष्य, (५) श्रीभास्कराचार्यकृत भाष्य, (६) ब्रह्मानन्ददीपिका, (७) श्रीविज्ञानभिक्षुकृत भाष्य तथा (८) आचार्य श्रीरामानन्दकृत व्याख्या ।

पाठक मेरी अल्पज्ञतासे तो परिचित होंगे ही; क्योंकि पहले योगदर्शनकी भूमिकामें मैं यह बात निवेदन कर चुका हूँ । मैं न तो संस्कृतभाषाका विद्वान् हूँ और न हिन्दी-भाषाका ही । अन्य किसी आधुनिक भाषाकी भी जानकारी मुझे नहीं है । इसके सिवा, आध्यात्मिक विषयमें भी मेरा विशेष अनुभव नहीं है । ऐसी दशामें इस गहन शास्त्रपर व्याख्या लिखना मेरे-जैसे अल्पज्ञके लिये सर्वथा अनधिकार चेष्टा है, तथापि अपने आध्यात्मिक विचारोंको दृढ बनाने, गुरुजनोंकी आज्ञाका पालन करने तथा मित्रोंको संतोष देनेके लिये अपनी समझके अनुसार यह टीका लिखकर इसे प्रकाशित करानेकी मैंने जो धृष्टता की है, उसे अधिकारी विद्वान् तथा संत महापुरुष अपनी सहज उदारतासे क्षमा करेंगे; यह आशा है । वस्तुतः इसमें जो कुछ भी अच्छापन है, वह सब पूर्वके प्रातःस्मरणीय पूज्य चरण आचार्यों और भाष्यकारोंका मङ्गलप्रसाद है और जो त्रुटियाँ हैं, वे सब मेरी अल्पज्ञताकी सूचक तथा मेरे अहङ्कारका परिणाम है । जहाँतक सम्भव हुआ है, मैंने प्रत्येक स्थलपर किसी भी आचार्यके ही चरणचिह्नोंका अनुसरण करनेकी चेष्टा की है । जहाँ स्वतन्त्रता प्रतीत होती है, वहाँ भी किसी-न-किसी प्राचीन महापुरुष या टीकाकारके भावोंका आश्रय लेकर ही वैसे भाव निकाले गये हैं । अनुभवी विद्वानोंसे मेरी विनम्र प्रार्थना है कि वे कृपापूर्वक इसमें प्रतीत

होनेवाली त्रुटियोंको सूचित करें, जिससे दूसरे संस्करणमें उनके सुधारका प्रयत्न किया जा सके।

यहाँ प्रसङ्गवश ब्रह्मसूत्र और उसके प्रतिपाद्य विषयके सम्बन्धमें भी कुछ निवेदन करना आवश्यक प्रतीत होता है। ब्रह्मसूत्र अत्यन्त प्राचीन ग्रन्थ है। कुछ आधुनिक विद्वान् इसमें सांख्य, वैशेषिक, बौद्ध, जैन, पाशुपत और पाञ्चरात्र आदि मतोंकी आलोचना देखकर इसे अर्वाचीन बतानेका साहस करते हैं और बादरायणको वेदव्याससे भिन्न मानते हैं; परंतु उनकी यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। ब्रह्मसूत्रमें जिन मतोंकी आलोचना की गयी है, वे प्रवाहरूपसे अनादि हैं। वैदिककालसे ही सद्वाद और असद्वाद (आस्तिक और नास्तिकमत) का विवाद चला आ रहा है। इन प्रवाहरूपसे चले आये हुए विचारोंमेंसे किसी एकको अपनाकर भिन्न-भिन्न दर्शनोंका संकलन हुआ है। सूत्रकारने कहीं भी अपने सूत्रमें सांख्य, जैन, बौद्ध या वैशेषिक मतके आचार्योंका नामोल्लेख नहीं किया है। उन्होंने केवल प्रधानकारणवाद, अणुकारणवाद, विज्ञानवाद आदि सिद्धान्तोंकी ही समीक्षा की है। सूत्रोंमें बादरि, औडुलोमि, जैमिनि, आश्मरथ्य, काशकृत्स्न और आत्रेय आदिके नाम आये हैं, जो अत्यन्त प्राचीन हैं; इनमेंसे कितनोंके नाम मीमांसासूत्रोंमें भी उल्लिखित हैं। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी 'हेतुमद्' विशेषणसहित 'ब्रह्मसूत्र'का नाम आता है, इससे भी इसकी परम प्राचीनता सिद्ध होती है। बादरायण शब्द पुराणकालसे ही श्रीवेदव्यासजीके लिये व्यवहृत होता आया है। अतः ब्रह्मसूत्र वेदव्यासजीकी ही रचना है, यह माननेमें कोई बाधा नहीं है। पाणिनिने पाराशर्य व्यासद्वारा रचित 'भिक्षुसूत्र' की भी चर्चा अपने सूत्रोंमें की है। वह अब उपलब्ध नहीं है। अथवा यह भी सम्भव है, वह ब्रह्मसूत्रसे अभिन्न रहा हो।

सूत्रकारने अपने ग्रन्थको चार अध्यायों और सोलह पादोंमें विभक्त किया है। पहले अध्यायमें बताया गया है कि सभी वेदान्तवाक्योंका एकमात्र परब्रह्मके प्रतिपादनमें ही अन्वय है; इसीलिये उसका नाम 'समन्वयाध्याय' है। दूसरे अध्यायमें सब प्रकारके विरोधाभासोंका निराकरण किया गया है, इसलिये उसका नाम 'अविरोधाध्याय' है। तीसरेमें परब्रह्मकी प्राप्ति या साक्षात्कारके साधनभूत ब्रह्मविद्या तथा दूसरी-दूसरी उपासनाओंके विषयमें निर्णय किया गया है, अतः उसको 'साधनाध्याय' कहते हैं और चौथेमें उन विद्याओंद्वारा साधकोंके अधिकारके

अनुरूप प्राप्त होनेवाले फलके विषयमें निर्णय किया गया है, इस कारण उसकी 'फलाध्याय' के नामसे प्रसिद्धि है । इस ग्रन्थमें वर्णित समग्र विषयोंका संक्षिप्त परिचय विषय-सूचीसे अवगत हो सकता है । यहाँ कुछ चुनी हुई सैद्धान्तिक बातोंका दिग्दर्शन कराया जाता है । ब्रह्मसूत्रमें पूज्यपाद वेदव्यासजीने अपने सिद्धान्तका प्रतिपादन करते समय मेरी अल्पबुद्धिके अनुसार इस प्रकार निर्णय दिया है—

(१) यह प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेवाला जो जडचेतनात्मक जगत् है, इसका उपादान और निमित्तकारण ब्रह्म ही है (ब्र० सू० १ । १ । २) ।

(२) सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरकी जो परा (चेतन जीवसमुदाय) और अपरा (परिवर्तनशील जडवर्ग) नामक दो प्रकृतियाँ हैं, वे उसीकी अपनी शक्तियाँ हैं, इसलिये उससे अभिन्न हैं (३ । २ । २८) । वह इन शक्तियोंका आश्रय है, अत: इनसे भिन्न भी है । परब्रह्म जीव और जडवर्गसे सर्वथा विलक्षण और उत्तम है (३ । २ । ३१) ।

(३) वह परब्रह्म परमेश्वर अपनी उपर्युक्त दोनों प्रकृतियोंको लेकर ही सृष्टिकालमें जगत्की रचना करता है और प्रलयकालमें इन दोनों प्रकृतियोंको अपनेमें विलीन कर लेता है ।

(४) परब्रह्म परमात्मा शब्द, स्पर्श आदिसे रहित, निर्विशेष, निर्गुण एवं निराकार भी है तथा अनन्त कल्याणमय गुणसमुदायसे युक्त सगुण एवं साकार भी है । इस प्रकार एक ही परमात्माका यह उभयविध स्वरूप स्वाभाविक तथा परम सत्य है, औपाधिक नहीं है (३ । २ । ११ से २६ तक) ।

(५) जीव-समुदाय उस परब्रह्मकी परा प्रकृतिका समूह है, इसलिये उसीका अंश है (२ । ३ । ४३) । इसी दृष्टिसे वह अभिन्न भी है । तथापि परमेश्वर जीवके कर्मफलोंकी व्यवस्था करनेवाला (२ । ४ । १६) सबका नियन्ता और स्वामी है ।

(६) जीव नित्य है (२ । ४ । १६) । उसका जन्मना और मरना शरीरके सम्बन्धसे औपचारिक है (३ । २ । ६) ।

(७) जीवका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें और लोकान्तरमें भी जाना-आना शरीरके सम्बन्धसे ही है । ब्रह्मलोकमें भी वह सूक्ष्मशरीरके सम्बन्धसे ही जाता है (४ । २ । ९) ।

(८) परब्रह्म परमेश्वरके परमधाममें पहुँचनेपर ज्ञानीका किसी प्रकारके प्राकृत शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, वह अपने दिव्यस्वरूपसे सम्पन्न होता है (४ । ४ । १) । वह उसकी सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित मुक्तावस्था है (४ । ४ । २) ।

(९) कार्यब्रह्मके लोकमें जानेवाले जीवको वहाँके भोगोंका उपभोग संकल्पमात्रसे भी होता है और उसके संकल्पानुसार प्राप्त हुए शरीरके द्वारा भी (४ । ४ । ८) तथा (४ । ४ । १२) ।

(१०) देवयान-मार्गसे जानेवाले विद्वानोंमेंसे कोई तो परब्रह्मके परमधाममें जाकर सायुज्य मुक्ति-लाभ कर लेते हैं (४ । ४ । ४) और कोई चैतन्यमात्र स्वरूपसे अलग भी रह सकते हैं (४ । ४ । ७) ।

(११) कार्यब्रह्मके लोकमें जानेवाले उस लोकके स्वामीके साथ प्रलय-कालके समय सायुज्यमुक्तिको प्राप्त हो जाते हैं (४ । ३ । १०) ।

(१२) उत्तरायण-मार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेवालोंके लिये रात्रिकाल या दक्षिणायनकालमें मृत्यु होना बाधक नहीं है (४ । २ । १९–२०) ।

(१३) जीवका कर्तापन शरीर और इन्द्रियोंके सम्बन्धसे औपचारिक है (२ । ३ । ३३ से ४० तक) ।

(१४) जीवके कर्तापनमें परमात्मा ही कारण है (२ । ३ । ४१) ।

(१५) जीवात्मा विभु है; उसका एकदेशित्व शरीरके सम्बन्धमे ही है, वास्तवमें नहीं है (२ । ३ । २९) ।

(१६) जिन ज्ञानी महापुरुषोंके मनमें किसी प्रकारकी कामना नहीं रहती, जो सर्वथा निष्काम और आप्तकाम हैं, उनको यहीं ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है । उनका ब्रह्मलोकमें जाना नहीं होता ।

(१७) ज्ञानी महापुरुष लोकसंग्रहके लिये सभी प्रकारके विहित कर्मोंका अनुष्ठान कर सकता है (४ । १ । १६–१७) ।

(१८) ब्रह्मज्ञान सभी आश्रमोंमें हो सकता है । सभी आश्रमोंमें ब्रह्म-विद्याका अधिकार है (३ । ४ । ४९) ।

(१९) ब्रह्मलोकमें जानेवालेका पुनरागमन नहीं होता (४ । ४ । २२) ।

(२०) ज्ञानीके पूर्वकृत संचित पुण्य-पापका नाश हो जाता है। नये कर्मोंसे उसका सम्बन्ध नहीं होता (४ । १ । १३-१४)। प्रारब्धकर्मका उपभोगद्वारा नाश हो जानेपर वर्तमान शरीर नष्ट हो जाता है और वह ब्रह्म-लोकको या वहीं परमात्माको प्राप्त हो जाता है (४ । १ । १९)।

(२१) ब्रह्मविद्याके साधकको यज्ञादि आश्रमकर्म भी निष्कामभावसे करने चाहिये (३ । ४ । २६)। शम-दम आदि साधन अवश्य कर्तव्य हैं (३ । ४ । २७)।

(२२) ब्रह्मविद्या कर्मोंका अङ्ग नहीं है (३ । ४ । २ से २५ तक)।

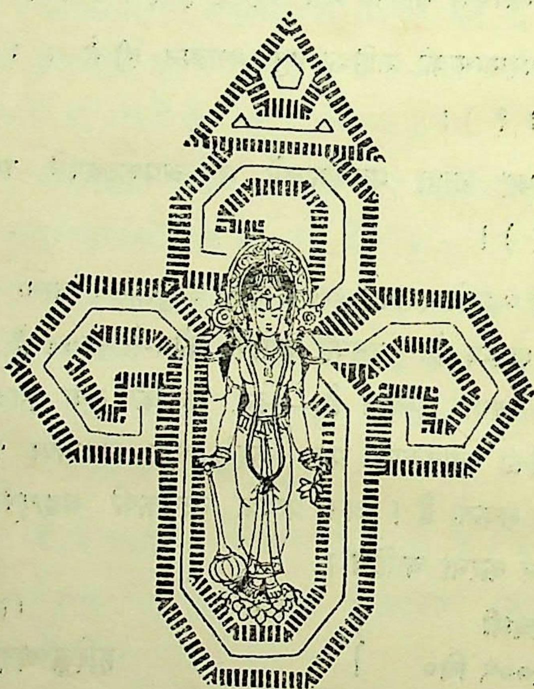
(२३) परमात्माकी प्राप्तिका हेतु ब्रह्मज्ञान ही है (३ । ३ । ४७) तथा (३ । ४ । १)।

(२४) यह जगत् प्रलयकालमें भी अप्रकटरूपसे वर्तमान रहता है (२ । १ । १६)।

इन सबको ध्यानमें रखकर इस ग्रन्थका अनुशीलन करना चाहिये। इससे परमात्माका क्या स्वरूप है, उनकी प्राप्तिके कौन-से साधन हैं और साधकका परमात्माके साथ क्या सम्बन्ध है,—इन बातोंकी तथा साधनोपयोगी अन्य आवश्यक विषयोंकी जानकारी प्राप्त करके एक निश्चयपर पहुँचनेमें विशेष सहायता प्राप्त हो सकती है। अतः प्रत्येक साधकको श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थका अध्ययन एवं मनन करना चाहिये।

श्रीरामनवमी
संवत् २००९ वि०

विनीत,
हरिकृष्णदास गोयन्दका



ॐ श्रीपरमात्मने नमः

वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) के प्रधान विषयोंकी सूची

पहला अध्याय

पहला पाद

दूसरा पाद

दूसरा अध्याय

पहला पाद

दूसरा पाद

तीसरा पाद

चौथा पाद

तीसरा अध्याय

पहला पाद

दूसरा पाद

तीसरा पाद

चौथा पाद

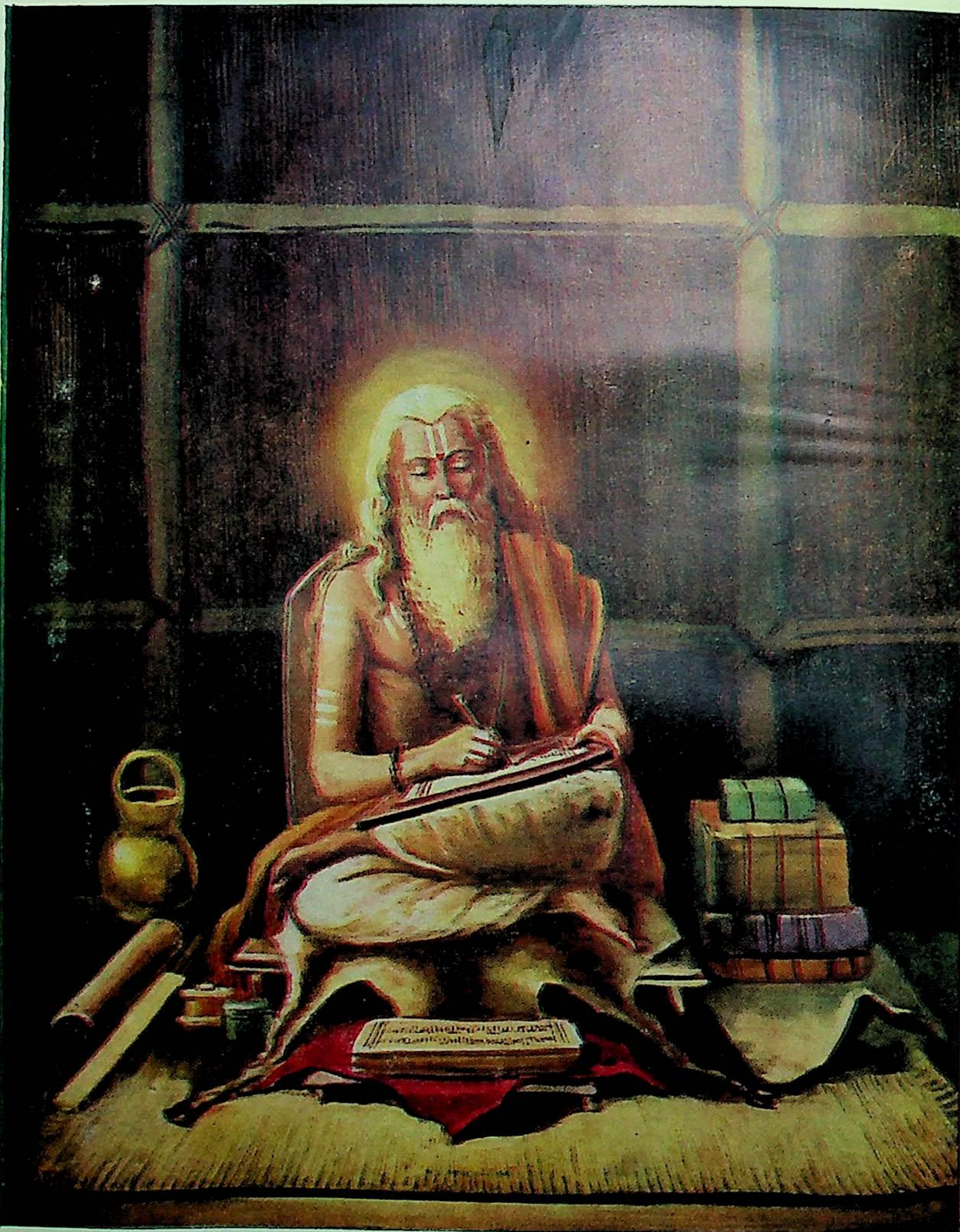
चौथा अध्याय

पहला पाद

दूसरा पाद

तीसरा पाद

चौथा पाद



वेदान्त-दर्शनके रचयिता श्रीव्यासदेव

ॐ

श्रीपरमात्मने नमः

वेदान्त-दर्शन

(ब्रह्मसूत्र)

(साधारण भाषा-टीकासहित)

पहला अध्याय

पहला पाद

अथातो ब्रह्मजिज्ञासा ॥ १ । १ । १ ॥

अथ=अब; **अतः**=यहाँसे; **ब्रह्मजिज्ञासा**=ब्रह्मविषयक विचार (आरम्भ किया जाता है) ।

व्याख्या—इस सूत्रमें ब्रह्मविषयक विचार आरम्भ करनेकी बात कहकर यह सूचित किया गया है कि ब्रह्म कौन है ? उसका स्वरूप क्या है ? वेदान्तमें उसका वर्णन किस प्रकार हुआ है ?—इत्यादि सभी ब्रह्मविषयक बातोंका इस ग्रन्थमें विवेचन किया जाता है ।

सम्बन्ध—पूर्व सूत्रमें जिस ब्रह्मके विषयमें विचार करनेकी प्रतिज्ञा की गयी है, उसका लक्षण बतलाते हैं—

जन्माद्यस्य यतः ॥ १ । १ । २ ॥

अस्य=इस जगत्के; **जन्मादि**=जन्म आदि (उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय); **यतः**=जिससे (होते हैं, वह ब्रह्म है) ।

व्याख्या—यह जो जड-चेतनात्मक जगत् सर्वसाधारणके देखने, सुनने और अनुभवमें आ रहा है, जिसकी अद्भुत रचनाके किसी एक अंशपर भी विचार करनेसे बड़े-बड़े वैज्ञानिकोंको आश्चर्यचकित होना पड़ता है, इस विचित्र विश्वके जन्म आदि जिससे होते हैं अर्थात् जो सर्वशक्तिमान् परात्पर परमेश्वर अपनी अलौकिक शक्तिसे इस सम्पूर्ण जगत्की रचना करता है, इसका धारण, पोषण तथा नियमितरूपसे सञ्चालन करता है; फिर प्रलयकाल आनेपर जो इस समस्त विश्वको अपनेमें विलीन कर लेता है, वह परमात्मा ही ब्रह्म है ।

भाव यह है कि देवता, दैत्य, दानव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि अनेक जीवोंसे परिपूर्ण, सूर्य, चन्द्रमा, तारा तथा नाना लोक-लोकान्तरोंसे सम्पन्न इस अनन्त ब्रह्माण्डका कर्ता-हर्ता कोई अवश्य है, यह हरेक मनुष्यकी समझमें आ सकता है; वही ब्रह्म है। उसीको परमेश्वर, परमात्मा और भगवान् आदि विविध नामोंसे कहते हैं; क्योंकि वह सबका आदि, सबसे बड़ा, सर्वाधार, सर्वज्ञ, सर्वेश्वर, सर्वव्यापी और सर्वरूप है। यह दृश्यमान जगत् उसकी अपार शक्तिके किसी एक अंशका दिग्दर्शनमात्र है।

शङ्का—उपनिषदोंमें तो ब्रह्मका वर्णन करते हुए उसे अकर्ता, अभोक्ता, असङ्ग, अव्यक्त, अगोचर, अचिन्त्य, निर्गुण, निरञ्जन तथा निर्विशेष बताया गया है और इस सूत्रमें उसे जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति एवं प्रलयका कर्ता बताया गया है। यह विपरीत बात कैसे ?

समाधान—उपनिषदोंमें वर्णित परब्रह्म परमेश्वर इस सम्पूर्ण जगत्‌का कर्ता होते हुए भी अकर्ता है (गीता ४ । १३)। अतः उसका कर्तापन साधारण जीवोंकी भाँति नहीं है; सर्वथा अलौकिक है। वह सर्वशक्तिमान्*एवं सर्वरूप होनेमें समर्थ होकर भी सबसे सर्वथा अतीत और असङ्ग है। सर्वगुणसम्पन्न होते हुए भी निर्गुण है† तथा समस्त विशेषणोंसे युक्त होकर भी निर्विशेष‡ है। इस

---

* **परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।** (श्वेता० ६ । ८)

'इस परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वाभाविक दिव्य शक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है।'

† **एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ (श्वेता० ६ । ११)

'वह एक देव ही सब प्राणियोंमें छिपा हुआ, सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तर्यामी परमात्मा है; वही सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सम्पूर्ण भूतोंका निवास-स्थान, सबका साक्षी, चेतनस्वरूप, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है।'

‡ **एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥**
(मा० उ० ६)

'यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह सबका अन्तर्यामी है, यह सम्पूर्ण जगत्‌का कारण है; क्योंकि समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका स्थान यही है।'

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्। अदृष्टमव्य-

प्रकार उस सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरमें विपरीत भावोंका समावेश स्वाभाविक होनेके कारण यहाँ शङ्काके लिये स्थान नहीं है।

सम्बन्ध—कर्तापन और भोक्तापनसे रहित, नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्मको इस जगत्‌का कारण कैसे माना जा सकता है? इसपर कहते हैं—

शास्त्रयोनित्वात् ॥ १ । १ । ३ ॥

शास्त्रयोनित्वात्=शास्त्र (वेद)में उस ब्रह्मको जगत्‌का कारण बताया गया है, इसलिये (उसको जगत्‌का कारण मानना उचित है)।

व्याख्या—वेदमें जिस प्रकार ब्रह्मके सत्य, ज्ञान और अनन्त (तै० उ० २ । १) आदि लक्षण बताये गये हैं, उसी प्रकार उसको जगत्‌का कारण भी बताया गया है।* इसलिये पूर्वसूत्रके कथनानुसार परब्रह्म परमेश्वरको जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण मानना सर्वथा उचित ही है।

सम्बन्ध—मृत्तिका आदि उपादानोंसे घट आदि वस्तुओंकी रचना करनेवाले कुम्भकार आदिकी भाँति ब्रह्मको जगत्‌का निमित्त कारण बतलाना तो युक्तिसङ्गत है; परन्तु उसे उपादान कारण कैसे माना जा सकता है? इसपर कहते हैं—

तत्तु समन्वयात् ॥ १ । १ । ४ ॥

वहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ (मा० उ० ७)

'जो न भीतरकी ओर प्रज्ञावाला है, न बाहरकी ओर प्रज्ञावाला है, न दोनों ओर प्रज्ञावाला है, न प्रज्ञानघन है, न जाननेवाला है, न नहीं जाननेवाला है, जो देखा नहीं गया है, जो व्यवहारमें नहीं लाया जा सकता, जो पकड़नेमें नहीं आ सकता, जिसका कोई लक्षण नहीं है, जो चिन्तन करनेमें नहीं आ सकता, जो बतलानेमें नहीं आ सकता, एकमात्र आत्माकी प्रतीति ही जिसका सार है, जिसमें प्रपञ्चका सर्वथा अभाव है, ऐसा सर्वथा शान्त, कल्याणमय, अद्वितीय तत्त्व परब्रह्म परमात्माका चतुर्थ पाद है, इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी मानते हैं। वह परमात्मा है, वह जाननेयोग्य है।'

*'**एष योनिः सर्वस्य**' (मा० उ० ६) 'यह परमात्मा सम्पूर्ण जगत्‌का कारण है।' '**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व। तद्ब्रह्मेति।**' (तै० उ० ३ । १) 'ये सब प्रत्यक्ष दीखनेवाले प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर जिसके सहारे जीवित रहते हैं तथा अन्तमें प्रयाण करते हुए जिसमें प्रवेश करते हैं, उसको जाननेकी इच्छा कर, वही ब्रह्म है।'

तु=तथा; **तत्**=वह ब्रह्म; **समन्वयात्**=समस्त जगत्में पूर्णरूपसे अनुगत (व्याप्त) होनेके कारण (उपादान भी है) ।

व्याख्या—जिस प्रकार अनुमान और शास्त्र-प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि इस विचित्र जगत्का निमित्त कारण परब्रह्म परमेश्वर है, उसी प्रकार यह भी सिद्ध है कि वही इसका उपादान कारण भी है; क्योंकि वह इस जगत्में पूर्णतया अनुगत (व्याप्त) है, इसका अणुमात्र भी परमेश्वरसे शून्य नहीं है । श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि 'चर या अचर, जड या चेतन, ऐसा कोई भी प्राणी या भूतसमुदाय नहीं है, जो मुझसे रहित हो ।' (१० । ३९) 'यह सम्पूर्ण जगत् मुझसे व्याप्त है ।' (गीता ९ । ४) उपनिषदोंमें भी स्थान-स्थानपर यह बात दुहरायी गयी है कि 'उस परब्रह्म परमेश्वरसे यह समस्त जगत् व्याप्त है ।'*

सम्बन्ध—सांख्यमतके अनुसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति भी समस्त जगत्में व्याप्त है, फिर व्याप्तिरूप हेतुसे जगत्का उपादान कारण ब्रह्मको ही क्यों मानना चाहिये, प्रकृतिको क्यों नहीं ? इसपर कहते हैं—

ईक्षतेर्नाशब्दम् ॥ १ । १ । ५ ॥

ईक्षतेः=श्रुतिमें 'ईक्ष' धातुका प्रयोग होनेके कारण; **अशब्दम्**=शब्द-प्रमाण-शून्य प्रधान (त्रिगुणात्मिका जड प्रकृति); **न**=जगत्का कारण नहीं है ।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जहाँ सृष्टिका प्रसङ्ग आया है, वहाँ 'ईक्ष' धातुकी क्रियाका प्रयोग हुआ है; जैसे 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० उ० ६ । २ । १) इस प्रकार प्रकरण आरम्भ करके 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ६ । २ । ३) अर्थात् 'उस सत्‌ने ईक्षण—सङ्कल्प किया कि मैं बहुत हो जाऊँ, अनेक प्रकारसे उत्पन्न होऊँ ।' ऐसा कहा गया है । इसी प्रकार दूसरी जगह भी 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीत्' इस प्रकार आरम्भ करके 'स ईक्षत लोकान्नु सृजै' (ऐ० उ० १ । १ । १) अर्थात् उसने ईक्षण—विचार किया कि निश्चय ही मैं लोकोंकी रचना करूँ ।' ऐसा कहा है । परन्तु त्रिगुणात्मिका प्रकृति जड है, उसमें ईक्षण या सङ्कल्प नहीं

* ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् । (ईशा० १)

बन सकता; क्योंकि वह चेतनका धर्म है; अतः शब्दप्रमाणरहित प्रधान (जड प्रकृति) को जगत्‌का उपादान कारण नहीं माना जा सकता ।

सम्बन्ध—ईक्षण या सङ्कल्प चेतनका धर्म होनेपर भी गौणीवृत्तिसे अचेतनके लिये प्रयोगमें लाया जा सकता है, जैसे लोकमें कहते हैं 'अमुक मकान अब गिरना ही चाहता है ।' इसी प्रकार यहाँ भी ईक्षण-क्रियाका सम्बन्ध गौणरूपसे त्रिगुणात्मिका जड प्रकृतिके साथ मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

गौणश्चेन्नात्मशब्दात् ॥ १ । १ । ६ ॥

चेत्=यदि कहो; **गौणः**=ईक्षणका प्रयोग गौणवृत्तिसे (प्रकृतिके लिये) हुआ है; **न**=तो यह ठीक नहीं है; **आत्मशब्दात्**=क्योंकि वहाँ 'आत्म'शब्दका प्रयोग है ।

व्याख्या—ऊपर उद्धृत की हुई ऐतरेयकी श्रुतिमें ईक्षणका कर्ता आत्माको बताया गया है; अतः गौण-वृत्तिसे भी उसका सम्बन्ध प्रकृतिके साथ नहीं हो सकता । इसलिये प्रकृतिको जगत्‌का कारण मानना वेदके अनुकूल नहीं है ।

सम्बन्ध—'आत्म' शब्दका प्रयोग तो मन, इन्द्रिय और शरीरके लिये भी आता है; अतः उक्त श्रुतिमें 'आत्मा'को गौणरूपसे प्रकृतिका वाचक मानकर उसे जगत्‌का कारण मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—

तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् ॥ १ । १ । ७ ॥

तन्निष्ठस्य=उस जगत्कारण (परमात्मा) में स्थित होनेवालेकी; **मोक्षोपदेशात्**=मुक्ति बतलायी गयी है; इसलिये (वहाँ प्रकृतिको जगत्कारण नहीं माना जा सकता) ।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्‌की दूसरी वल्लीके सातवें अनुवाकमें जो सृष्टिका प्रकरण आया है, वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि 'तदात्मानं स्वयमकुरुत'—'उस ब्रह्मने स्वयं ही अपने आपको इस जड-चेतनात्मक जगत्‌के रूपमें प्रकट किया ।' साथ ही यह भी बताया गया है कि 'यह जीवात्मा जब उस आनन्दमय परमात्मामें निष्ठा करता—स्थित होता है, तब यह अभय पदको पा लेता है ।' इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्‌में भी श्वेतकेतुके प्रति उसके पिताने उस परम कारणमें स्थित होनेका फल मोक्ष बताया है; किन्तु प्रकृतिमें स्थित होनेसे मोक्ष होना कदापि सम्भव

नहीं है, अतः उपर्युक्त श्रुतियोंमें 'आत्मा' शब्द प्रकृतिका वाचक नहीं है; इसीलिये प्रकृतिको जगत्का कारण नहीं माना जा सकता।

सम्बन्ध—उक्त श्रुतियोंमें आया हुआ 'आत्मा' शब्द प्रकृतिका वाचक नहीं हो सकता, इसमें दूसरा कारण बतलाते हैं—

हेयत्वावचनाच्च ॥ १ । १ । ८ ॥

हेयत्वावचनात्=त्यागनेयोग्य नहीं बताये जानेके कारण; **च**=भी (उस प्रसङ्गमें 'आत्मा' शब्द प्रकृतिका वाचक नहीं है)।

व्याख्या—यदि 'आत्मा' शब्द वहाँ गौणवृत्तिसे प्रकृतिका वाचक होता तो आगे चलकर उसे त्यागनेके लिये कहा जाता और मुख्य आत्मामें निष्ठा करनेका उपदेश दिया जाता; किन्तु ऐसा कोई वचन उपलब्ध नहीं होता है। जिसको जगत्का कारण बताया गया है, उसीमें निष्ठा करनेका उपदेश किया गया है; अतः परब्रह्म परमात्मा ही 'आत्म'शब्दका वाच्य है और वही इस जगत्का निमित्त एवं उपादान कारण है।

सम्बन्ध—'आत्मा' की ही भाँति इस प्रसङ्गमें 'सत्' शब्द भी प्रकृतिका वाचक नहीं है; यह सिद्ध करनेके लिये दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

स्वाप्ययात् ॥ १ । १ । ९ ॥

स्वाप्ययात्=अपनेमें विलीन होना बताया गया है, इसलिये (सत् शब्द भी जड प्रकृतिका वाचक नहीं हो सकता)।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (६ । ८ । १) में कहा है कि 'यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति नाम सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति तस्मादेनꣳ स्वपितीत्याचक्षते' अर्थात् 'हे सोम्य ! जिस अवस्थामें यह पुरुष (जीवात्मा) सोता है, उस समय यह सत् (अपने कारण)से सम्पन्न (संयुक्त) होता है; स्व—अपनेमें अपीत—विलीन होता है, इसलिये इसे 'स्वपिति' कहते हैं।'*

* यहाँ स्व (अपने) में विलीन होना कहा गया है; अतः यह सन्देह हो सकता है कि 'स्व' शब्द जीवात्माका ही वाचक है, इसलिये वही जगत्का कारण है, परन्तु ऐसा समझना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले जीवात्माका सत् (जगत्के कारण) से संयुक्त होना बताकर उसी सत्को पुनः 'स्व' नामसे कहा गया है और उसीमें जीवात्माके विलीन

इस प्रसङ्गमें जिस सत्‌को समस्त जगत्‌का कारण बताया है, उसीमें जीवात्माका विलीन होना कहा गया है और उस सत्‌को उसका स्वस्वरूप बताया गया है। अतः यहाँ 'सत्' नामसे कहा हुआ जगत्‌का कारण जडतत्त्व नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—यही बात प्रकारान्तरसे पुनः सिद्ध करते हैं—

गतिसामान्यात् ॥ १ । १ । १० ॥

गतिसामान्यात्=सभी उपनिषद्-वाक्योंका प्रवाह समानरूपसे चेतनको ही जगत्‌का कारण बतानेमें है, इसलिये (जड प्रकृतिको जगत्‌का कारण नहीं माना जा सकता)।

व्याख्या—'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः' (तै० उ० २ । १) 'निश्चय ही सर्वत्र प्रसिद्ध इस परमात्मासे आकाश उत्पन्न हुआ।' 'आत्मत एवेदꣳ सर्वम्' (छा० उ० ७ । २६ । १)—'परमात्मासे ही यह सब कुछ उत्पन्न हुआ है।' 'आत्मन एष प्राणो जायते' (प्र० उ० ३ । ३)—'परमात्मासे यह प्राण उत्पन्न होता है।' 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।' (मु० उ० २ । १ । ३)—'इस परमेश्वरसे प्राण उत्पन्न होता है; तथा मन (अन्तःकरण), समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल और सम्पूर्ण प्राणियोंको धारण करनेवाली पृथिवी—ये सब उत्पन्न होते हैं।' इस प्रकार सभी उपनिषद्-वाक्योंमें समानरूपसे चेतन परमात्माको ही जगत्‌का कारण बताया गया है; इसलिये जड प्रकृतिको जगत्‌का कारण नहीं माना जा सकता।

सम्बन्ध—पुनः श्रुति-प्रमाणसे इसी बातको दृढ करते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—

श्रुतत्वाच्च ॥ १ । १ । ११ ॥

श्रुतत्वात्=श्रुतियोंद्वारा जगह-जगह यही बात कही गयी है, इसलिये; **च**=भी (परब्रह्म परमेश्वर ही जगत्‌का कारण सिद्ध होता है)।

होनेकी बात कही गयी है। विलीन होनेवाली वस्तुसे लयका अधिष्ठान भिन्न होता है; अतः यहाँ लीन होनेवाली वस्तु जीवात्मा है और जिसमें वह लीन होता है, वह परमात्मा है। इसलिये यहाँ परमात्माको ही 'सत्'के नामसे जगत्‌का कारण बताया गया है, यही मानना ठीक है।

व्याख्या—'स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः।' (श्वेता० उ० ६ । ९)—'वह परमात्मा सबका परम कारण तथा समस्त करणोंके अधिष्ठाताओंका भी अधिपति है । कोई भी न तो इसका जनक है और न स्वामी ही है ।' 'स विश्वकृत्' (श्वेता० ६ । १६)—'वह परमात्मा समस्त विश्वका स्रष्टा है ।' 'अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वे' (मु० उ० २ । १ । ९)—'इस परमेश्वरसे समस्त समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं ।'—इत्यादिरूपसे उपनिषदोंमें स्थान-स्थानपर यही बात कही गयी है कि सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, परब्रह्म परमेश्वर ही जगत्का कारण है; अतः श्रुति-प्रमाणसे यही सिद्ध होता है कि सर्वाधार परमात्मा ही सम्पूर्ण जगत्का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है; जड प्रकृति नहीं ।

सम्बन्ध—'स्वाप्ययात्' १ । १ । ९ सूत्रमें जीवात्माके स्व (परमात्मा) में विलीन होनेकी बात कहकर यह सिद्ध किया गया कि जड प्रकृति जगत्का कारण नहीं है । किन्तु 'स्व' शब्द प्रत्यक्चेतन (जीवात्मा) के अर्थमें भी प्रसिद्ध है; अतः यह सिद्ध करनेके लिये कि प्रत्यक्चेतन भी जगत्का कारण नहीं है, आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है ।

तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्लीमें सृष्टिकी उत्पत्तिका वर्णन करते हुए सर्वात्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरसे ही आकाश आदिके क्रमसे सृष्टि बतायी गयी है। (अनु० १, ६, ७) । उसी प्रसङ्गमें अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय इन पाँचोंका वर्णन आया है । वहाँ क्रमशः अन्नमयका प्राणमयको, प्राणमयका मनोमयको, मनोमयका विज्ञानमयको और विज्ञानमयका आनन्दमयको अन्तरात्मा बताया गया है । आनन्दमयका अन्तरात्मा दूसरे किसीको नहीं बताया गया है; अपि तु उसीसे जगत्की उत्पत्ति बताकर आनन्दकी महिमाका वर्णन करते हुए सर्वात्मा आनन्दमयको जाननेका फल उसीकी प्राप्ति बताया गया और वहीं ब्रह्मानन्दवल्लीको समाप्त कर दिया गया है ।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि इस प्रकरणमें आनन्दमय नामसे किसका वर्णन हुआ है, परमेश्वरका ? या जीवात्माका ? अथवा अन्य किसीका ? इसपर कहते हैं—

आनन्दमयोऽभ्यासात् ॥ १ । १ । १२ ॥

अभ्यासात्=श्रुतिमें बारंबार 'आनन्द' शब्दका ब्रह्मके लिये प्रयोग होनेके कारण; **आनन्दमयः**='आनन्दमय' शब्द (यहाँ परब्रह्म परमेश्वरका ही वाचक है)।

व्याख्या—किसी बातको दृढ करनेके लिये बारंबार दुहरानेको 'अभ्यास' कहते हैं। तैत्तिरीय तथा बृहदारण्यक आदि अनेक उपनिषदोंमें 'आनन्द' शब्द-का ब्रह्मके अर्थमें बारंबार प्रयोग हुआ है; जैसे—तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्लीके छठे अनुवाकमें 'आनन्दमय' का वर्णन आरम्भ करके सातवें अनुवाकमें उसके लिये 'रसो वै सः। रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति' (२ । ७) अर्थात् 'वह आनन्दमय ही रसस्वरूप है, यह जीवात्मा इस रसस्वरूप परमात्माको पाकर आनन्द-युक्त हो जाता है। यदि वह आकाशकी भाँति परिपूर्ण आनन्दस्वरूप परमात्मा नहीं होता तो कौन जीवित रह सकता, कौन प्राणोंकी क्रिया कर सकता! सचमुच यह परमात्मा ही सबको आनन्द प्रदान करता है।' ऐसा कहा गया है। तथा 'सैषाऽऽनन्दस्य मीमाꣳसा भवति,' 'एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति।' (तै० उ० २ । ८) 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन।' (तै० उ० २ । ९) 'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्' (तै० उ० ३ । ६) 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृह० उ० ३ । ९ । २८)—इत्यादि प्रकारसे श्रुतियोंमें जगह-जगह परब्रह्मके अर्थमें 'आनन्द' एवं 'आनन्दमय' शब्दका प्रयोग हुआ है। इसलिये 'आनन्दमय' नामसे यहाँ उस सर्वशक्तिमान्, समस्त जगत्के परम कारण, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापी, सबके आत्मस्वरूप परब्रह्म परमेश्वरका ही वर्णन है, अन्य किसीका नहीं।

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि 'आनन्दमय' शब्दमें जो 'मयट्' प्रत्यय है, वह विकार अर्थका बोधक है और परब्रह्म परमात्मा निर्विकार है। अतः जिस प्रकार अन्नमय आदि शब्द ब्रह्मके वाचक नहीं हैं, वैसे ही, उन्हीं-के साथ आया हुआ यह 'आनन्दमय' शब्द भी परब्रह्मका वाचक नहीं होना चाहिये। इसपर कहते हैं—

विकारशब्दान्नेति चेन्न प्राचुर्यात् ॥ १ । १ । १३ ॥

चेत्=यदि कहो; **विकारशब्दात्**=मयट् प्रत्यय विकारका बोधक होनेसे; **न**=आनन्दमय शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता; **इति**=तो यह कथन; **न**=

ठीक नहीं है; **प्राचुर्यात्**=क्योंकि 'मयट्' प्रत्यय यहाँ प्रचुरताका बोधक है (विकारका नहीं)।

व्याख्या—'तत्प्रकृतवचने मयट्' (पा० सू० ५ । ४ । २१) इस पाणिनि-सूत्रके अनुसार प्रचुरताके अर्थमें भी 'मयट्' प्रत्यय होता है; अतः यहाँ 'आनन्द-मय' शब्दमें जो 'मयट्' प्रत्यय है, वह विकारका नहीं, प्रचुरता-अर्थका ही बोधक है अर्थात् वह ब्रह्म आनन्दघन है, इसीका द्योतक है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि 'आनन्दमय' शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता। परब्रह्म परमेश्वर आनन्दघनस्वरूप है, इसलिये उसे 'आनन्दमय' कहना सर्वथा उचित है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जब 'मयट्' प्रत्यय विकारका बोधक भी होता है, तब यहाँ उसे प्रचुरताका ही बोधक क्यों माना जाय? विकारबोधक क्यों न मान लिया जाय? इसपर कहते हैं—

तद्धेतुव्यपदेशाच्च ॥ १ । १ । १४ ॥

तद्धेतुव्यपदेशात्=(उपनिषदोंमें ब्रह्मको) उस आनन्दका हेतु बताया गया है, इसलिये; **च**=भी (यहाँ मयट् प्रत्यय विकार-अर्थका बोधक नहीं है)।

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकरणमें आनन्दमयको आनन्द प्रदान करनेवाला बताया गया है (तै० उ० २ । ७)। जो सबको आनन्द प्रदान करता है, वह स्वयं आनन्दघन है, इसमें तो कहना ही क्या है; क्योंकि जो अखण्ड आनन्दका भण्डार होगा, वही सदा सबको आनन्द प्रदान कर सकेगा। इसलिये यहाँ मयट् प्रत्ययको विकारका बोधक न मानकर प्रचुरताका बोधक मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध—केवल मयट् प्रत्यय प्रचुरताका बोधक होनेसे ही यहाँ 'आनन्द-मय' शब्द ब्रह्मका वाचक है, इतना ही नहीं, किन्तु—

मान्त्रवर्णिकमेव च गीयते ॥ १ । १ । १५ ॥

च=तथा; **मान्त्रवर्णिकम्**=मन्त्राक्षरोंमें जिसका वर्णन किया गया है, उस ब्रह्मका; **एव**=ही; **गीयते**=(यहाँ) प्रतिपादन किया जाता है (इसलिये भी आनन्दमय ब्रह्म ही है)।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्लीके आरम्भमें जो यह मन्त्र आया है कि—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता।' अर्थात् 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप

और अनन्त है। वह ब्रह्म विशुद्ध आकाशस्वरूप परम धाममें रहते हुए ही सबके हृदयरूप गुफामें छिपा हुआ है। जो उसको जानता है, वह सबको भलीभाँति जाननेवाले ब्रह्मके साथ समस्त भोगोंका अनुभव करता है।' इस मन्त्रद्वारा वर्णित ब्रह्मको यहाँ 'मान्त्रवर्णिक' कहा गया है। जिस प्रकार उक्त मन्त्रमें उस परब्रह्मको सबका अन्तरात्मा बताया गया है, उसी प्रकार ब्राह्मण-ग्रन्थमें 'आनन्दमय'को सबका अन्तरात्मा कहा है; इस प्रकार दोनों स्थलोंकी एकताके लिये यही मानना उचित है कि 'आनन्दमय' शब्द यहाँ ब्रह्मका ही वाचक है, अन्य किसीका नहीं।

सम्बन्ध—यदि 'आनन्दमय' शब्दको जीवात्माका वाचक मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

नेतरोऽनुपपत्तेः ॥ १।१।१६ ॥

इतरः=ब्रह्मसे भिन्न जो जीवात्मा है, वह; **न**=आनन्दमय नहीं हो सकता; **अनुपपत्तेः**=क्योंकि पूर्वापरके वर्णनसे यह बात सिद्ध नहीं होती।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्लीमें आनन्दमयका वर्णन करनेके अनन्तर यह बात कही गयी है कि 'उस आनन्दमय परमात्माने यह इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ; फिर उसने तप (सङ्कल्प) किया। तप करके इस समस्त जगत्की रचना की।' (तै० उ० २। ६) यह कथन जीवात्माके लिये उपयुक्त नहीं है; क्योंकि जीवात्मा अल्पज्ञ और परिमित शक्तिवाला है; जगत्की रचना आदि कार्य करनेकी उसमें सामर्थ्य नहीं है। अतः 'आनन्दमय' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—यही बात सिद्ध करनेके लिये दूसरा कारण बतलाते हैं—

भेदव्यपदेशाच्च ॥ १।१।१७ ॥

भेदव्यपदेशात्=जीवात्मा और परमात्माको एक दूसरेसे भिन्न बतलाया गया है, इसलिये; **च**=भी ('आनन्दमय' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं हो सकता)।

व्याख्या—उक्त वल्लीमें आगे चलकर (सातवें अनुवाकमें) कहा है कि 'यह ज़ो ऊपरके वर्णनमें 'सुकृत'नामसे कहा गया है, वही रसस्वरूप है। यह जीवात्मा इस रसस्वरूप परमात्माको पाकर आनन्दयुक्त हो जाता है।' इस प्रकार यहाँ

परमात्माको आनन्ददाता और जीवात्माको उसे पाकर आनन्दयुक्त होनेवाला बताया गया है। इससे दोनोंका भेद सिद्ध होता है। इसलिये भी 'आनन्दमय' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं है।

सम्बन्ध–आनन्दका हेतु जो सत्त्वगुण है, वह त्रिगुणात्मिका जड प्रकृतिमें भी विद्यमान है ही; अतः 'आनन्दमय' शब्दको प्रकृतिका ही वाचक क्यों न मान लिया जाय? इसपर कहते हैं—

कामाच्च नानुमानापेक्षा ॥ १ । १ । १८ ॥

च=तथा; **कामात्**=('आनन्दमय'में) कामनाका कथन होनेसे; **अनुमानापेक्षा**=(यहाँ) अनुमान-कल्पित जड प्रकृतिको 'आनन्दमय' शब्दसे ग्रहण करनेकी आवश्यकता; **न**=नहीं है।

व्याख्या–उपनिषद्में जहाँ 'आनन्दमय'का प्रसङ्ग आया है, वहाँ '**सोऽकामयत**' इस वाक्यके द्वारा आनन्दमयमें सृष्टिविषयक कामनाका होना बताया गया है, जो कि जड प्रकृतिके लिये असम्भव है। अतः उस प्रकरणमें वर्णित 'आनन्दमय' शब्दसे जड प्रकृतिको नहीं ग्रहण किया जा सकता।

सम्बन्ध–परब्रह्म परमात्माके सिवा, प्रकृति या जीवात्मा कोई भी 'आनन्दमय' शब्दसे गृहीत नहीं हो सकता; इस बातको दृढ़ करते हुए प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति ॥ १ । १ । १९ ॥

च=इसके सिवा; **अस्मिन्**=इस प्रकरणमें (श्रुति); **अस्य**=इस जीवात्माका; **तद्योगम्**=उस आनन्दमयसे संयुक्त होना (मिल जाना); **शास्ति**=बतलाती है (इसलिये जड तत्त्व या जीवात्मा आनन्दमय नहीं है)।

व्याख्या–तै० उ० (२ । ८)में श्रुति कहती है कि 'इस आनन्दमय परमात्माके तत्त्वको इस प्रकार जाननेवाला विद्वान् अन्नमयादि समस्त शरीरोंके आत्मस्वरूप आनन्दमय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।' बृहदारण्यकमें भी श्रुतिका कथन है कि '(ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष) ब्रह्मरूप होकर ही ब्रह्ममें लीन होता है' (बृह० उ० ४ । ४ । ६)। श्रुतिके इन वचनोंसे यह स्वतः सिद्ध हो जाता है' कि जड प्रकृति या जीवात्माको 'आनन्दमय' नहीं माना जा सकता; क्योंकि चेतन जीवात्मा-

का जड प्रकृतिमें अथवा अपने ही-जैसे परतन्त्र दूसरे किसी जीवमें लय होना नहीं बन सकता। इसलिये एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही 'आनन्दमय' शब्दका वाच्यार्थ है और वही सम्पूर्ण जगत्का कारण है; दूसरा कोई नहीं।

सम्बन्ध—तैत्तिरीय-श्रुतिमें जहाँ आनन्दमयका प्रकरण आया है, वह 'विज्ञानमय' शब्दसे जीवात्माको ग्रहण किया गया है, किन्तु बृहदारण्यक (४ । ४ । २२) में 'विज्ञानमय' को हृदयाकाशमें शयन करनेवाला अन्तरात्मा बताया गया है। अतः जिज्ञासा होती है कि वहाँ 'विज्ञानमय' शब्द जीवात्माका वाचक है अथवा ब्रह्मका ? इसी प्रकार छान्दोग्य (१ । ६ । ६) में जो सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्मय पुरुषका वर्णन आया है, वहाँ भी यह शङ्का हो सकती है कि इस मन्त्रमें सूर्यके अधिष्ठाता देवताका वर्णन हुआ है या ब्रह्मका ? अतः इसका निर्णय करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अन्तस्तद्धर्मोपदेशात् ॥ १ । १ । २० ॥

अन्तः=हृदयके भीतर शयन करनेवाला विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डलके भीतर स्थित हिरण्मय पुरुष ब्रह्म है; **तद्धर्मोपदेशात्**=क्योंकि (उसमें) उस ब्रह्मके धर्मोंका उपदेश किया गया है।

व्याख्या—उपर्युक्त बृहदारण्यक-श्रुतिमें वर्णित विज्ञानमय पुरुषके लिये इस प्रकार विशेषण आये हैं—'सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः····एष सर्वेश्वर एष भूतपालः' इत्यादि। तथा छान्दोग्यवर्णित सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती पुरुषके लिये 'सर्वेभ्यः पाप्मभ्य उदितः' (सब पापोंसे ऊपर उठा हुआ) यह विशेषण दिया गया है। ये विशेषण परब्रह्म परमेश्वरमें ही सम्भव हो सकते हैं। किसी भी स्थितिको प्राप्त देव, मनुष्य आदि योनियोंमें रहनेवाले जीवात्माके ये धर्म नहीं हो सकते। इसलिये वहाँ परब्रह्म परमेश्वरको ही विज्ञानमय तथा सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्मय पुरुष समझना चाहिये; अन्य किसीको नहीं।

सम्बन्ध—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

भेदव्यपदेशाच्चान्यः ॥ १ । १ । २१ ॥

च=तथा; **भेदव्यपदेशात्**=भेदका कथन होनेसे; **अन्यः**=सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती हिरण्मय पुरुष सूर्यके अधिष्ठाता देवतासे भिन्न है।

व्याख्या–बृहदारण्यकोपनिषद्के अन्तर्यामिब्राह्मणमें कहा है कि––'य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद यस्यादित्यः शरीरं य आदित्यमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' 'अर्थात् जो सूर्यमें रहनेवाला सूर्यका अन्तर्वर्ती है, जिसे सूर्य नहीं जानता, सूर्य जिसका शरीर है और जो भीतर रहकर सूर्यका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।' इस प्रकार वहाँ सूर्यान्तर्वर्ती पुरुषका सूर्यके अधिष्ठाता देवतासे भेद बताया गया है; इसलिये वह हिरण्मय पुरुष सूर्यके अधिष्ठातासे भिन्न परब्रह्म परमात्मा ही है ।

सम्बन्ध–यहाँतकके विवेचनसे यह सिद्ध किया गया कि जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका निमित्त और उपादान कारण परब्रह्म परमेश्वर ही है; जीवात्मा या जड प्रकृति नहीं । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि श्रुति (छा० उ० १ । ९ । १) में जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण आकाशको भी बताया गया है, फिर ब्रह्मका लक्षण निश्चित करते हुए यह कैसे कहा गया कि जिससे जगत्के जन्म आदि होते हैं, वह ब्रह्म है । इसपर कहते हैं––

आकाशस्तल्लिङ्गात् ॥ १ । १ । २२ ॥

आकाशः=(वहाँ) 'आकाश' शब्द परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है; **तल्लिङ्गात्**=क्योंकि (उस मन्त्रमें) जो लक्षण बताये गये हैं, वे उस ब्रह्मके ही हैं।

व्याख्या–छान्दोग्य (१ । ९ । १) में इस प्रकार वर्णन आया है–– 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्त आकाशम्प्रत्यस्तं यन्त्याकाशो ह्येवैभ्यो ज्यायानाकाशः परायणम् ।' अर्थात् 'ये समस्त भूत (पञ्चतत्त्व और समस्त प्राणी) निःसन्देह आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं और आकाशमें ही विलीन होते हैं । आकाश ही इन सबसे श्रेष्ठ और बड़ा है । वही इन सबका परम आधार है ।' इसमें आकाशके लिये जो विशेषण आये हैं, वे भूताकाशमें सम्भव नहीं हैं; क्योंकि भूताकाश तो स्वयं भूतोंके समुदायमें आ जाता है । अतः उससे भूतसमुदायकी या प्राणियोंकी उत्पत्ति बतलाना सुसङ्गत नहीं है । उक्त लक्षण एकमात्र परब्रह्म परमात्मामें ही सङ्गत हो सकते हैं । वही सर्वश्रेष्ठ, सबसे बड़ा और सर्वाधार है; अन्य कोई नहीं । इसलिये यही सिद्ध होता है कि उस श्रुतिमें 'आकाश' नामसे परब्रह्म परमेश्वरको ही जगत्का कारण बताया गया है ।

सम्बन्ध—अब प्रश्न उठता है कि श्रुति (छा० उ० १ । ११ । ५) में आकाशकी ही भाँति प्राणको भी जगत्‌का कारण बतलाया गया है; वहाँ 'प्राण' शब्द किसका वाचक है ? इसपर कहते हैं—

अत एव प्राणः ॥ १ । १ । २३ ॥

अत एव=इसीलिये अर्थात् श्रुतिमें कहे हुए लक्षण ब्रह्ममें ही सम्भव हैं, इस कारण वहाँ; **प्राणः**=प्राण (भी ब्रह्म ही है)।

व्याख्या—छान्दोग्य (१ । ११ । ५) में कहा है कि 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते।' अर्थात् 'निश्चय ही ये सब भूत प्राणमें ही विलीन होते हैं और प्राणसे ही उत्पन्न होते हैं।' ये लक्षण प्राणवायुमें नहीं घट सकते; क्योंकि समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण प्राणवायु नहीं हो सकता। अतः यहाँ 'प्राण' नामसे ब्रह्मका ही वर्णन हुआ है, ऐसा मानना चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें तो ब्रह्मसूचक लक्षण होनेसे आकाश तथा प्राणको ब्रह्मका वाचक मानना उचित है; किन्तु छान्दोग्योपनिषद् (३ । १३ । ७) में जिस ज्योति (तेज)को समस्त विश्वसे ऊपर सर्वश्रेष्ठ परमधाममें प्रकाशित बताया है तथा जिसकी शरीरान्तर्वर्ती पुरुषमें स्थित ज्योतिके साथ एकता बतायी गयी है, उसके लिये वहाँ कोई ऐसा लक्षण नहीं बताया गया है, जिससे उसको ब्रह्मका वाचक माना जाय। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि उक्त 'ज्योतिः' शब्द किसका वाचक है ? इसपर कहते हैं—

ज्योतिश्चरणाभिधानात् ॥ १ । १ । २४ ॥

चरणाभिधानात्=(उस प्रसङ्गमें) उक्त ज्योतिके चार पादोंका कथन होनेसे; **ज्योतिः**='ज्योतिः' शब्द वहाँ ब्रह्मका वाचक है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्‌के तीसरे अध्यायमें 'ज्योतिः'का वर्णन इस प्रकार हुआ है—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते विश्वतः पृष्ठेषु सर्वतः पृष्ठेष्वनुत्तमेषूत्तमेषु लोकेष्विदं वाव तद्यदिदमस्मिन्नन्तः पुरुषे ज्योतिः।' (३ । १३ । ७) अर्थात् 'जो इस स्वर्गलोकसे ऊपर परम ज्योति प्रकाशित हो रही है, वह समस्त विश्वके पृष्ठपर (सबके ऊपर), जिससे उत्तम दूसरा कोई लोक नहीं है, उस सर्वोत्तम परमधाममें

प्रकाशित हो रही है, वह निस्सन्देह यही है जो कि इस पुरुषमें आन्तरिक ज्योति है।' इस प्रसङ्गमें आया हुआ 'ज्योतिः' शब्द जड प्रकाशका वाचक नहीं है, यह बात तो इसमें वर्णित लक्षणोंसे ही स्पष्ट हो जाती है। तथापि यह 'ज्योतिः' शब्द किसका वाचक है? ज्ञानका या जीवात्माका अथवा ब्रह्मका? इसका निर्णय नहीं होता; अतः सूत्रकार कहते हैं कि यहाँ जो 'ज्योतिः' शब्द आया है, वह ब्रह्मका ही वाचक है; क्योंकि इसके पूर्व बारहवें खण्डमें इस ज्योतिर्मय ब्रह्मके चार पादोंका कथन है और समस्त भूतसमुदायको उसका एक पाद बताकर शेष तीन पादोंको अमृतस्वरूप तथा परमधाममें स्थित बताया है।* इसलिये इस प्रसङ्गमें आया हुआ 'ज्योतिः' शब्द ब्रह्मके सिवा अन्य किसीका वाचक नहीं हो सकता।

माण्डूक्योपनिषद्में आत्माके चार पादोंका वर्णन करते हुए उसके दूसरे पादको तैजस कहा है। यह 'तैजस' भी 'ज्योतिः'का पर्याय ही है। अतः 'ज्योतिः'की भाँति 'तैजस' शब्द भी ब्रह्मका ही वाचक है, जीवात्मा या अन्य किसी प्रकाशका नहीं। इस बातका निर्णय भी इसी प्रसङ्गके अनुसार समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि छान्दोग्योपनिषद्के तीसरे अध्यायके बारहवें खण्डमें 'गायत्री'के नामसे प्रकरणका आरम्भ हुआ है। गायत्री एक छन्दका नाम है। अतः उस प्रसङ्गमें ब्रह्मका वर्णन है, यह कैसे माना जाय? इसपर कहते हैं—

छन्दोऽभिधानान्नेति चेन्न तथा चेतोऽर्पणनिगदात्तथा हि दर्शनम् ॥ १ । १ । २५ ॥

चेत्=यदि कहो (उस प्रकरणमें); **छन्दोऽभिधानात्**=गायत्री छन्दका कथन होनेके कारण (उसीके चार पादोंका वर्णन है); **न**=ब्रह्मके चार पादोंका वर्णन नहीं है; **इति न**=तो यह ठीक नहीं (क्योंकि); **तथा**=उस प्रकारके वर्णनद्वारा;

---

* वह मन्त्र इस प्रकार है—

तावानस्य महिमा ततो ज्यायाँश्च पूरुषः। पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (छा० उ० ३ । १२ । ६)

चेतोऽर्पणनिगदात्=ब्रह्ममें चित्तका समर्पण बताया गया है; **तथा हि दर्शनम्**=वैसा ही वर्णन दूसरी जगह भी देखा जाता है।

व्याख्या—पूर्व प्रकरणमें 'गायत्री ही यह सब कुछ है' (छा० उ० ३ । १२ । १) इस प्रकार गायत्रीछन्दका वर्णन होनेसे उसीके चार पादोंका वहाँ वर्णन है, ब्रह्मका नहीं; ऐसी धारणा बना लेना ठीक नहीं है; क्योंकि गायत्रीनामक छन्दके लिये यह कहना नहीं बन सकता कि यह जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् गायत्री ही है। इसलिये यहाँ ऐसा समझना चाहिये कि सबके परम कारण सर्वात्मक परब्रह्म परमेश्वरमें चित्तका समाधान करानेके लिये उस ब्रह्मका ही वहाँ इस प्रकार गायत्री-नामसे वर्णन किया गया है। इसी तरह अन्यत्र भी उद्गीथ, प्रणव आदि नामोंके द्वारा ब्रह्मका वर्णन देखा जाता है। सूक्ष्म तत्त्वमें बुद्धिका प्रवेश करानेके लिये, किसी प्रकारकी समानताको लेकर स्थूल वस्तुके नामसे उसका वर्णन करना उचित ही है।

सम्बन्ध—इस प्रकरणमें 'गायत्री' शब्द ब्रह्मका ही वाचक है, इस बातकी पुष्टिके लिये दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेश्चैवम् ॥ १ । १ । २६ ॥

भूतादिपादव्यपदेशोपपत्तेः=(यहाँ ब्रह्मको ही गायत्रीके नामसे कहा गया है, यह माननेसे ही) भूत आदिको पाद बतलाना युक्तिसंगत हो सकता है, इसलिये; **च**=भी; **एवम्**=ऐसा ही है।

व्याख्या—छान्दोग्य (३ । १२) के प्रकरणमें गायत्रीको भूत, पृथिवी, शरीर और हृदयरूप चार पादोंसे युक्त बताया गया है। फिर उसकी महिमाका वर्णन करते हुए 'पुरुष' नामसे प्रतिपादित परब्रह्म परमात्माके साथ उसकी एकता करके समस्त भूतोंको (अर्थात् प्राणि-समुदायको) उसका एक पाद बतलाया गया है और अमृतस्वरूप तीन पादोंको परमधाममें स्थित कहा गया है। (छा० उ० ३ । १२ । ६)। इस वर्णनकी सङ्गति तभी लग सकती है, जब कि 'गायत्री'शब्दको गायत्री-छन्दका वाचक न मानकर परब्रह्म परमात्माका वाचक माना जाय। इसलिये यही मानना ठीक है।

सम्बन्ध—उक्त सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये सूत्रकार स्वयं ही शङ्का उपस्थित करके उसका समाधान करते हैं—

उपदेशभेदान्नेति चेन्नोभयस्मिन्नप्यविरोधात् ॥ १ । १ । २७ ॥

चेत्=यदि कहो; **उपदेशभेदात्**=उपदेशमें भिन्नता होनेसे; **न**=गायत्रीशब्द ब्रह्मका वाचक नहीं है; **इति न**=तो यह कथन ठीक नहीं है; **उभयस्मिन् अपि**=क्योंकि दो प्रकारका वर्णन होनेपर भी; **अविरोधात्**=(वास्तवमें) कोई विरोध नहीं है ।

व्याख्या—यदि कहा जाय कि पूर्वमन्त्र (३ । १२ । ६) में तो 'तीन पाद दिव्य लोकमें हैं' यह कहकर दिव्य लोकको ब्रह्मके तीन पादोंका आधार बताया गया है और बादमें आये हुए मन्त्र (३ । १३ । ७) में 'ज्योतिः' नामसे वर्णित ब्रह्मको उस दिव्य लोकसे परे बताया है । इस प्रकार पूर्वापरके वर्णनमें भेद होनेके कारण गायत्रीको ब्रह्मका वाचक बताना सङ्गत नहीं है; तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि दोनों जगहके वर्णनकी शैलीमें किञ्चित् भेद होनेपर भी वास्तवमें कोई विरोध नहीं है । दोनों स्थलोंमें श्रुतिका उद्देश्य गायत्रीशब्द-वाच्य तथा ज्योतिःशब्दवाच्य ब्रह्मको सर्वोपरि परम धाममें स्थित बतलाना ही है ।

सम्बन्ध—'अत एव प्राणः' (१ । १ । २३) इस सूत्रमें यह सिद्ध किया गया है कि श्रुतिमें 'प्राण' नामसे ब्रह्मका ही वर्णन है; किन्तु कौषीतकि-उपनिषद (३ । २) में प्रतर्दनके प्रति इन्द्रने कहा है कि 'मैं ज्ञानस्वरूप प्राण हूँ; तू आयु तथा अमृतरूपसे मेरी उपासना कर ।' इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि इस प्रकरणमें आया हुआ 'प्राण' शब्द किसका वाचक है? इन्द्रका ? प्राणवायुका ? जीवात्माका ? अथवा ब्रह्मका ? इसपर कहते हैं—

प्राणस्तथानुगमात् ॥ १ । १ । २८ ॥

प्राणः=प्राणशब्द (यहाँ ब्रह्मका ही वाचक है); **तथानुगमात्**=क्योंकि पूर्वापरके प्रसङ्गपर विचार करनेसे ऐसा ही ज्ञात होता है ।

व्याख्या—इस प्रकरणमें पूर्वापर प्रसङ्गपर भलीभाँति विचार करनेसे 'प्राण' शब्द ब्रह्मका ही वाचक सिद्ध होता है, अन्य किसीका नहीं; क्योंकि आरम्भमें प्रतर्दनने परम पुरुषार्थरूप वर माँगा है । उसके लिये परम हितपूर्ण इन्द्रके उपदेशमें कहा हुआ 'प्राण' 'ब्रह्म' ही होना चाहिये । ब्रह्मज्ञानसे बढ़कर दूसरा कोई हितपूर्ण उपदेश नहीं हो सकता । इसके अतिरिक्त उक्त प्राणको वहाँ प्रज्ञान-

स्वरूप बतलाया गया है, जो कि ब्रह्मके ही अनुरूप है तथा अन्तमें उसीको आनन्दस्वरूप अजर एवं अमर कहा गया है। फिर उसीको समस्त लोकोंका पालक, अधिपति एवं सर्वेश्वर बताया गया है।* ये सब बातें ब्रह्मके ही उपयुक्त हैं। प्रसिद्ध प्राणवायु, इन्द्र अथवा जीवात्माके लिये ऐसा कहना उपयुक्त नहीं हो सकता। इसलिये यही समझना चाहिये कि यहाँ 'प्राण'शब्द ब्रह्मका ही वाचक है।

सम्बन्ध—उक्त प्रकरणमें इन्द्रने स्पष्ट शब्दोंमें स्वयं अपनेको ही प्राण कहा है। इन्द्र एक प्रभावशाली देवता तथा अजर, अमर हैं ही; फिर वहाँ 'प्राण' शब्दको इन्द्रका ही वाचक क्यों न मान लिया जाय? इसपर कहते हैं—

न वक्तुरात्मोपदेशादिति चेदध्यात्मसम्बन्ध-भूमा ह्यस्मिन्॥ १।१।२९॥

चेत्=यदि कहो; **वक्तुः**=वक्ता (इन्द्र) का (उद्देश्य); **आत्मोपदेशात्**=अपनेको ही 'प्राण' नामसे बतलाना है, इसलिये; **न**=प्राणशब्द ब्रह्मका वाचक नहीं हो सकता; **इति**=(तो) यह कथन; (**न**)=ठीक नहीं है; **हि**=क्योंकि; **अस्मिन्**=इस प्रकरणमें; **अध्यात्मसम्बन्धभूमा**=अध्यात्मसम्बन्धी उपदेशकी बहुलता है।

व्याख्या—यदि कहो कि इस प्रकरणमें इन्द्रने स्पष्टरूपसे अपने आपको ही प्राण बतलाया है, ऐसी परिस्थितिमें 'प्राण'शब्दको इन्द्रका वाचक न मानकर ब्रह्मका वाचक मानना ठीक नहीं है; तो ऐसा कहना उचित नहीं है; क्योंकि इस प्रकरणमें अध्यात्मसम्बन्धी वर्णनकी बहुलता है।† यहाँ आधिदैविक वर्णन नहीं है; अतः उपास्यरूपसे बतलाया हुआ तत्त्व इन्द्र नहीं हो सकता। इसलिये यहाँ 'प्राण' शब्दको ब्रह्मका ही वाचक समझना चाहिये।

---

* कौषीतकि-उपनिषद्में यह प्रसङ्ग इस प्रकार है—

'स होवाच प्रतर्दनस्त्वमेव वृणीष्व यं त्वं मनुष्याय हिततमं मन्यस इति ...।' (कौ० उ० ३।१)

'स होवाच प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा।' (कौ० उ० ३।२) **'एष प्राण एव प्रज्ञात्माऽऽनन्दोऽजरोऽमृतः ...... एष लोकपाल एष लोकाधिपतिरेष सर्वेश्वरः।'** (कौ० उ० ३।९)

† इस प्रसङ्गमें अध्यात्मसम्बन्धी वर्णनकी बहुलता किस प्रकार है, यह पूर्वसूत्रकी टिप्पणीमें देखें।

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि यदि 'प्राण' शब्द इन्द्रका वाचक नहीं है तो इन्द्रने जो यह कहा कि 'मैं ही प्रज्ञानस्वरूप प्राण हूँ, तू मेरी उपासना कर।' इस कथनकी क्या गति होगी? इसपर कहते हैं—

शास्त्रदृष्ट्या तूपदेशो वामदेववत् ॥ १ । १ । ३० ॥

उपदेशः=(यहाँ) इन्द्रका अपनेको प्राण बतलाना; **तु**=तो; **वामदेववत्**=वामदेवकी भाँति; **शास्त्रदृष्ट्या**=(केवल) शास्त्र-दृष्टिसे है।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद् (१ । ४ । १०) में यह वर्णन आया है कि 'तद् यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्तथर्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवꣳ सूर्यश्चेति।' अर्थात् 'उस ब्रह्मको देवताओंमें जिसने जाना, वही ब्रह्मरूप हो गया। इसी प्रकार ऋषियों और मनुष्योंमें भी जिसने उसे जाना, वह तद्रूप हो गया। उसे आत्मरूपसे देखते हुए ऋषि वामदेवने जाना कि मैं मनु हुआ और मैं ही सूर्य हुआ।' इससे यह बात सिद्ध होती है कि जो महापुरुष उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त कर लेता है, वह उसके साथ एकताका अनुभव करता हुआ ब्रह्मभावापन्न होकर ऐसा कह सकता है। अतएव उस वामदेव ऋषिकी भाँति ही इन्द्रका ब्रह्मभावापन्न-अवस्थामें शास्त्रदृष्टिसे यह कहना है कि 'मैं ही ज्ञानस्वरूप प्राण हूँ अर्थात् परब्रह्म परमात्मा हूँ। तू मुझ परमात्माकी उपासना कर।' अतः 'प्राण' शब्दको ब्रह्मका वाचक माननेमें कोई आपत्ति नहीं रह जाती है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे शङ्का उपस्थित करके उसके समाधानद्वारा प्राणको ब्रह्मका वाचक सिद्ध करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेन्नोपासात्रैविध्यादाश्रितत्वादिह तद्योगात् ॥ १ । १ । ३१ ॥

चेत्=यदि कहो; **जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्**=(इस प्रसङ्गके वर्णनमें) जीवात्मा तथा प्रसिद्ध प्राणके लक्षण पाये जाते हैं, इसलिये; **न**=प्राण शब्द ब्रह्मका वाचक नहीं है; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं है; **उपासात्रैविध्यात्**=क्योंकि ऐसा माननेपर त्रिविध उपासनाका प्रसङ्ग उपस्थित होगा; **आश्रितत्वात्**=(इसके

सिवा) सब लक्षण ब्रह्मके आश्रित हैं (तथा); **इह तद्योगात्**=इस प्रसङ्गमें ब्रह्मके लक्षणोंका भी कथन है, इसलिये (यहाँ 'प्राण'शब्द ब्रह्मका ही वाचक है)।

व्याख्या—कौषीतकि-उपनिषद् (३ । ८) के उक्त प्रसङ्गमें जीवके लक्षणों-का इस प्रकार वर्णन हुआ है—'न वाचं विजिज्ञासीत । वक्तारं विद्यात् ।' अर्थात् 'वाणीको जाननेकी इच्छा न करे । वक्ताको जानना चाहिये ।' यहाँ वाणी आदि कार्य और करणके अध्यक्ष जीवात्माको जाननेके लिये कहा है । इसी प्रकार प्रसिद्ध प्राणके लक्षणका भी वर्णन मिलता है—'अथ खलु प्राण एव प्रज्ञात्मेदं शरीरं परिगृह्योत्थापयति ।' (३ । ३) अर्थात् 'निस्सन्देह प्रज्ञानात्मा प्राण ही इस शरीरको ग्रहण करके उठाता है ।' शरीरको धारण करना मुख्य प्राणका ही धर्म है; इस कथनको लेकर यदि यह कहो कि 'प्राण'शब्द ब्रह्मवाचक नहीं होना चाहिये, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ब्रह्मके अतिरिक्त जीव और प्राणको भी उपास्य माननेसे त्रिविध उपासनाका प्रसङ्ग उपस्थित होगा, जो उचित नहीं है । इसके सिवा, जीव और प्राण आदिके धर्मोंका आश्रय भी ब्रह्म ही है, इसलिये ब्रह्मके वर्णनमें उनके धर्मोंका आना अनुचित नहीं है । यहाँ ब्रह्मके लोकाधिपति, लोकपाल आदि लक्षणोंका भी स्पष्ट वर्णन मिलता है । इन सब कारणोंसे यहाँ 'प्राण' शब्द ब्रह्मका ही वाचक है । इन्द्र, जीवात्मा अथवा प्रसिद्ध प्राणका नहीं—यही मानना ठीक है ।

पहला पाद सम्पूर्ण ।



दूसरा पाद

प्रथम पादमें यह निर्णय किया गया कि 'आनन्दमय', 'आकाश', 'ज्योति' तथा 'प्राण' आदि नामोंसे उपनिषद्में जो जगत्के कारणका और उपास्यदेवका वर्णन आया है, वह परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन है। 'प्राण'शब्दका प्रसङ्ग आनेसे छान्दोग्योपनिषद् (३ । १४ । २) में आये हुए 'मनोमयः प्राण-शरीरः' आदि वचनोंका स्मरण हो आया। अतः उक्त उपनिषद्के तीसरे अध्यायके चौदहवें खण्डपर विचार करनेके लिये द्वितीय पाद प्रारम्भ करते हैं।

इस पादमें यह पहला प्रकरण आठ सूत्रोंका है। छान्दोग्योपनिषद्(३ । १४ । १) में पहले तो सम्पूर्ण जगत्को ब्रह्मरूप समझकर उसकी उपासना करनेके लिये कहा गया है। उसके बाद उसके लिये 'सत्यसंकल्प', 'आकाशात्मा' और 'सर्व-कर्मा' आदि विशेषण दिये गये हैं (३ । १४ । २), जो कि जीवात्माके प्रतीत होते हैं। तत्पश्चात् उसीको 'अणीयान्' अर्थात् अत्यन्त छोटा और 'ज्यायान्' अर्थात् सबसे बड़ा बताकर हृदयके भीतर रहनेवाला अपना आत्मा और ब्रह्म भी कहा है(३ । १४ । ३-४)। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि उक्त उपास्यदेव कौन है ? जीवात्मा या परमात्मा अथवा कोई दूसरा ही ? इसका निर्णय करनेके लिये यह प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात् ॥ १ । २ । १ ॥

सर्वत्र=सम्पूर्ण वेदान्त-वाक्योंमें; **प्रसिद्धोपदेशात्**=(जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और लयके कारणरूपसे) प्रसिद्ध परब्रह्मका ही उपास्यदेवके रूपमें उपदेश हुआ है, इसलिये (छान्दोग्यश्रुति ३ । १४ में बताया हुआ उपास्यदेव ब्रह्म ही है)।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् अध्याय ३ के चौदहवें खण्डके आरम्भमें सबसे पहले यह मन्त्र आया है—'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति स क्रतुं कुर्वीत।' अर्थात् 'यह सम्पूर्ण चराचर जगत् निश्चय ब्रह्म ही है; क्योंकि यह उसीसे उत्पन्न हुआ है, स्थितिके समय उसीमें चेष्टा करता है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाता है। साधकको राग-द्वेषरहित शान्तचित्त होकर इस

प्रकार उपासना करनी चाहिये । अर्थात् ऐसा ही निश्चयात्मक भाव धारण करना चाहिये; क्योंकि यह मनुष्य संकल्पमय है । इस लोकमें यह जैसे संकल्पसे युक्त होता है, यहाँसे चले जानेपर परलोकमें यह वैसा ही बन जाता है । अतः उसे उपर्युक्त निश्चय करना चाहिये ।' इस मन्त्रवाक्यमें उसी परब्रह्मकी उपासना करनेके लिये कहा गया है, जिससे इस जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं तथा जो समस्त वेदान्तवाक्योंमें जगत्के महाकारणरूपसे प्रसिद्ध है । अतः इस प्रकरणमें बताया हुआ उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है, दूसरा नहीं ।

सम्बन्ध—यहाँ यह प्रश्न उठता है कि छा० उ० (३ । १४ । २)में उपास्यदेवको मनोमय और प्राणरूप शरीरवाला कहा गया है । ये विशेषण जीवात्माके हैं; अतः उसको ब्रह्म मान लेनेसे उस वर्णनकी सङ्गति कैसे लगेगी ? इसपर कहते हैं—

विवक्षितगुणोपपत्तेश्च ॥ १ । २ । २ ॥

च=तथा; **विवक्षितगुणोपपत्तेः**=श्रुतिद्वारा वर्णित गुणोंकी सङ्गति उस परब्रह्ममें ही होती है, इसलिये (इस प्रकरणमें कथित उपास्यदेव ब्रह्म ही है) ।

व्याख्या—छा०उ० (३ । १४ । २)में उपास्यदेवका वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—'मनोमयः प्राणशरीरो भारूपः सत्यसंकल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ।' अर्थात् 'वह उपास्यदेव मनोमय, प्राणरूप शरीरवाला, प्रकाशस्वरूप, सत्य-संकल्प, आकाशके सदृश व्यापक, सम्पूर्ण जगत्का कर्ता, पूर्णकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, इस समस्त जगत्को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाणीरहित तथा संभ्रमशून्य है ।' इस वर्णनमें उपास्यदेवके जो उपादेय गुण बताये गये हैं, वे सब ब्रह्ममें ही सङ्गत होते हैं । ब्रह्मको 'मनोमय' तथा 'प्राणरूप शरीरवाला' कहना भी अनुचित नहीं है; क्योंकि वह सबका अन्तर्यामी आत्मा है । केनोपनिषद्में उसको मनका भी मन तथा प्राणका भी प्राण बताया है * । इसलिये इस प्रकरणमें बतलाया हुआ उपास्यदेव परब्रह्म परमेश्वर ही है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त सूत्रमें श्रुतिवर्णित गुणोंकी उपपत्ति (सङ्गति) ब्रह्ममें

---

* श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद् वाचो ह वाचँ स उ प्राणस्य प्राणः ।
(के० उ० १ । २)

बतायी गयी; अब जीवात्मामें उन गुणोंकी अनुपपत्ति बताकर पूर्वोक्त सिद्धान्तकी पुष्टि की जाती है--

अनुपपत्तेस्तु न शारीरः ॥ १ । २ । ३ ॥

तु=परन्तु; **अनुपपत्तेः**=जीवात्मामें श्रुतिवर्णित गुणोंकी सङ्गति न होनेके कारण; **शारीरः**=जीवात्मा; **न**=(इस प्रकरणमें कहा हुआ उपास्यदेव) नहीं है।

व्याख्या—उपासनाके लिये श्रुतिमें जो सत्य-संकल्पता, सर्वव्यापकता, सर्वात्मकता, सर्वशक्तिमत्ता आदि गुण बताये गये हैं, वे जीवात्मामें नहीं पाये जाते; इस कारण इस प्रसङ्गमें बताया हुआ उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है, ऐसा मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उसी बातको सिद्ध किया जाता है—

कर्मकर्तृव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । ४ ॥

कर्मकर्तृव्यपदेशात्=उक्त प्रकरणमें उपास्यदेवको प्राप्तिक्रियाका कर्म अर्थात् प्राप्त होने योग्य कहा है और जीवात्माको प्राप्तिक्रियाका कर्ता अर्थात् उस ब्रह्मको प्राप्त करनेवाला बताया है, इसलिये; **च**=भी (जीवात्मा उपास्य नहीं हो सकता)।

व्याख्या—छा० उ० (३ । १४ । ४) में कहा गया है कि 'सर्वकर्मा आदि विशेषणोंसे युक्त ब्रह्म ही मेरे हृदयमें रहनेवाला मेरा आत्मा है; मरनेके बाद यहाँसे जाकर परलोकमें मैं इसीको प्राप्त होऊँगा।'* इस प्रकार यहाँ पूर्वोक्त उपास्यदेवको प्राप्त होने योग्य तथा जीवात्माको उसे पानेवाला कहा गया है। अतः यहाँ उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा है और उपासक जीवात्मा। यही मानना उचित है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे पुनः उक्त बातकी ही पुष्टि करते हैं—

---

* 'एष म आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद् वा सर्षपाद् वा श्यामाकाद् वा श्यामाकतण्डुलाद् वैष म आत्मान्तर्हृदये ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षाज्ज्यायान् दिवो ज्यायानेभ्यो लोकेभ्यः ॥' (छा० उ० ३ । १४ । ३)

'सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादर एष म आत्मान्तर्हृदय एतद् ब्रह्मैतमितः प्रेत्याभिसंभवितास्मि।' (छा० उ० ३ । १४ । ४)

शब्दविशेषात् ॥ १ । २ । ५ ॥

शब्दविशेषात्=(उपास्य और उपासकके लिये) शब्दका भेद होनेके कारण भी (यह सिद्ध होता है कि यहाँ उपास्यदेव जीवात्मा नहीं है) ।

व्याख्या—छा० उ० ३ । १४ के तीसरे और चौथे मन्त्रमें कहा गया है* कि 'यह मेरे हृदयके अंदर रहनेवाला अन्तर्यामी आत्मा है । यह ब्रह्म है ।' इस कथनमें 'एषः' (यह) 'आत्मा' तथा 'ब्रह्म' ये प्रथमान्त शब्द उपास्यदेवके लिये प्रयुक्त हुए हैं और 'मे' अर्थात् 'मेरा' यह षष्ठ्यन्त पद भिन्नरूपसे उपासक जीवात्माके लिये प्रयुक्त हुआ है । इस प्रकार दोनोंके लिये प्रयुक्त हुए शब्दोंमें भेद होनेके कारण उपास्यदेव जीवात्मासे भिन्न सिद्ध होता है । अतः जीवात्माको उपास्यदेव नहीं माना जा सकता ।

सम्बन्ध—इसके सिवा—

स्मृतेश्च ॥ १ । २ । ६ ॥

स्मृतेः=स्मृति-प्रमाणसे; **च**=भी (उपास्य और उपासकका भेद सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—श्रीमद्भगवद्गीता आदि स्मृति-ग्रन्थसे भी उपास्य और उपासकका भेद सिद्ध होता है । जैसे—

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ॥ (गीता १२ । ८)

'मुझमें ही मनको लगा और मुझमें ही बुद्धिको लगा, इसके पश्चात् तू मुझमें ही निवास करेगा अर्थात् मुझे ही प्राप्त करेगा; इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥ (गीता ८ । ५)

'और जो पुरुष अन्तकालमें मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको त्यागकर जाता है, वह मेरे स्वरूपको प्राप्त होता है; इसमें कुछ भी संशय नहीं है ।'

अतः इस प्रसङ्गके वर्णनमें उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है, आत्मा या अन्य कोई नहीं । यही मानना ठीक है ।

---

* ये दोनों मन्त्र चौबीसवें पृष्ठकी टिप्पणीमें देखें ।

सम्बन्ध—छा० उ० ३ । १४ के तीसरे और चौथे मन्त्रोंमें उपास्यदेवको हृदयमें स्थित—एकदेशीय बतलाया है तथा तीसरे मन्त्रमें उसे सरसों और सावाँसे भी छोटा बताया है; इस अवस्थामें उसे परब्रह्म कैसे माना जा सकता है? इसपर कहते हैं—

अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चेन्न निचाय्यत्वादेवं व्योमवच्च ॥ १ । २ । ७ ॥

चेत्=यदि कहो; **अर्भकौकस्त्वात्**=उपास्यदेव हृदयरूप छोटे स्थानवाला है, इसलिये; **च**=तथा; **तद्व्यपदेशात्**=उसे अत्यन्त छोटा बताया गया है, इस कारण; **न**=वह ब्रह्म नहीं हो सकता; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं है; **निचाय्यत्वात्**=क्योंकि (वह) हृदयदेशमें द्रष्टव्य है, इसलिये; **एवम्**=उसके विषयमें ऐसा कहा गया है; **च**=तथा; **व्योमवत्**=वह आकाशकी भाँति सर्वत्र व्यापक है (इस दृष्टिसे भी ऐसा कहना उचित है) ।

व्याख्या—यदि कोई यह शङ्का करे कि छा० उ० ३ । १४ के तीसरे और चौथे मन्त्रोंमें उपास्यदेवका स्थान हृदय बताया गया है, जो बहुत छोटा है तथा तीसरे मन्त्रमें उसे धान, जौ, सरसों तथा सावाँसे भी अत्यन्त छोटा कहा गया है । इस प्रकार एकदेशीय और अत्यन्त लघु बताया जानेके कारण यहाँ उपास्यदेव परब्रह्म नहीं हो सकता; क्योंकि परब्रह्म परमात्माको सबसे बड़ा, सर्वव्यापी तथा सर्वशक्तिमान् बताया गया है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त मन्त्रमें जो परब्रह्म परमात्माको हृदयमें स्थित बताया गया है, वह उसके उपलब्धि-स्थानकी अपेक्षासे है । भाव यह है कि परब्रह्म परमात्माका स्वरूप आकाशकी भाँति सूक्ष्म और व्यापक है । अतः वह सर्वत्र है । प्रत्येक प्राणीके हृदयमें भी है और उसके बाहर भी * (ईशा० ५) । (गीता १३ । १५)† अतएव

---

* तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः । (ईशा० ५)

† बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥ (गीता १३ । १५)

'वह परमात्मा चराचर सब भूतोंके बाहर-भीतर परिपूर्ण है और चर-अचररूप भी वही है तथा वह सूक्ष्म होनेसे अविज्ञेय है और अत्यन्त समीप एवं दूरमें भी स्थित वही है ।'

उसे हृदयस्थ बता देनेमात्रसे उसका एकदेशीय होना सिद्ध नहीं होता तथा जो उसे धान, जौ, सरसों और सावाँसे भी छोटा बताया गया है, इससे श्रुतिका उद्देश्य उसे छोटे आकारवाला बताना नहीं है, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियोंद्वारा अग्राह्य (ग्रहण करनेमें न आनेवाला) बतलाना है। इसीलिये उसी मन्त्रमें यह भी कहा गया है कि वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, द्युलोक और समस्त लोकोंसे भी बड़ा है। भाव यह है कि वह इतना सूक्ष्म होते हुए भी समस्त लोकोंके बाहर-भीतर व्याप्त और उनसे परे भी है। सर्वत्र वही है। इसलिये यहाँ उपास्यदेव परब्रह्म परमात्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।

सम्बन्ध—परब्रह्म परमात्मा सबके हृदयमें स्थित होकर भी उनके सुख-दुःखसे अभिभूत नहीं होता; उसकी इस विशेषताको बतानेके लिये कहते हैं—

संभोगप्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्यात्॥ १ । २ । ८ ॥

चेत्=यदि कहो; **संभोगप्राप्तिः**=(सबके हृदयमें स्थित होनेसे चेतन होनेके कारण उसको) सुख-दुःखोंका भोग भी प्राप्त होता होगा; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **वैशेष्यात्**=क्योंकि जीवात्माकी अपेक्षा उस परब्रह्ममें विशेषता है।

व्याख्या—यदि कोई यह शङ्का करे कि आकाशकी भाँति सर्वव्यापक परमात्मा समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित होनेके कारण उन जीवोंके सुख-दुःखोंका भोग भी करता ही होगा; क्योंकि वह आकाशकी भाँति जड नहीं, चेतन है और चेतनमें सुख-दुःखकी अनुभूति स्वाभाविक है तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि परमात्मामें कर्तापनका अभिमान और भोक्तापन नहीं है। वह सबके हृदयमें रहता हुआ भी उनके गुण-दोषोंसे सर्वथा असङ्ग है। यही जीवोंकी अपेक्षा उसमें विशेषता है। जीवात्मा तो अज्ञानके कारण कर्ता और भोक्ता है; किन्तु परमात्मा सर्वथा निर्विकार है। वह केवलमात्र साक्षी है, भोक्ता नहीं (मु० उ० ३ । १ । १)* इसलिये जीवोंके कर्मफलरूप सुख-दुःखादिसे उसका सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है।

सम्बन्ध—ऊपर कहे हुए प्रकरणमें यह सिद्ध किया गया कि सबके हृदयमें निवास करते हुए भी परब्रह्म भोक्ता नहीं है; परन्तु वेदान्तमें कहीं-कहीं परमात्माको भोक्ता भी बताया गया है (क० उ० १ । २ । २५)। फिर वह वचन

---

* तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति॥ (मु० उ० ३ । १ । १)

किसी अन्यके विषयमें है या उसका कोई दूसरा ही अर्थ है ? यह निर्णय करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ करते हैं—

अत्ता चराचरग्रहणात् ॥ १ । २ । ९ ॥

चराचरग्रहणात्=चर और अचर सबको ग्रहण करनेके कारण यहाँ; **अत्ता**=भोजन करनेवाला अर्थात् प्रलयकालमें सबको अपनेमें विलीन करनेवाला (परब्रह्म परमेश्वर ही है)।

व्याख्या—कठोपनिषद् (१ । २ । २५) में कहा गया है कि 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभे भवत ओदनः । मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥' अर्थात् '(संहारकालमें) जिस परमेश्वरके ब्राह्मण और क्षत्रिय अर्थात् समस्त स्थावर-जङ्गम प्राणीमात्र भोजन बन जाते हैं तथा सबका संहार करनेवाला मृत्यु उपसेचन (व्यञ्जन—शाक आदि) बन जाता है, वह परमेश्वर जहाँ और जैसा है, यह कौन जान सकता है।' इस श्रुतिमें जिस भोक्ताका वर्णन है, वह कर्मफलरूप सुख-दुःख आदिका भोगनेवाला नहीं है। अपितु संहारकालमें मृत्युसहित समस्त **चराचर** जगत्को अपनेमें विलीन कर लेना ही यहाँ उसका भोक्तापन है। इसलिये **परब्रह्म** परमात्माको ही यहाँ अत्ता या भोक्ता कहा गया है, अन्य किसीको नहीं।

सम्बन्ध—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

प्रकरणाच्च ॥ १ । २ । १० ॥

प्रकरणात्=प्रकरणसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्रके पूर्व बीसवेंसे चौबीसवेंतक परब्रह्म परमेश्वरका ही **प्रकरण** है। उसीके स्वरूपका वर्णन करके उसे जाननेका महत्त्व तथा उसकी कृपाको ही उसे जाननेका उपाय बताया गया है। उक्त मन्त्रमें भी उस परमेश्वर-को जानना अत्यन्त दुर्लभ बतलाया गया है, जो कि पहलेसे चले आते हुए प्रकरण-के अनुरूप है। अतः पूर्वापरके प्रसङ्गको देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ **परब्रह्म** परमेश्वरको ही अत्ता (भोजन करनेवाला) कहा गया है।

सम्बन्ध—अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि इसके बादवाली श्रुति (१ । ३ । १) में (कर्मफलरूप) 'ऋत'को पीनेवाले छाया और धूपके सदृश

दो भोक्ताओंका वर्णन है। यदि परमात्मा कर्मफलका भोक्ता नहीं है तो उक्त दो भोक्ता कौन-कौन-से हैं? इसपर कहते हैं—

गुहां प्रविष्टावात्मानौ हि तद्दर्शनात् ॥ १ । २ । ११ ॥

गुहाम्=हृदयरूप गुहामें; **प्रविष्टौ**=प्रविष्ट हुए दोनों; **आत्मानौ**=जीवात्मा और परमात्मा; **हि**=ही हैं; **तद्दर्शनात्**=क्योंकि (दूसरी श्रुतिमें भी) ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (१ । ३ । १) में कहा है 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो ये च त्रिणाचिकेताः॥' अर्थात् 'शुभ कर्मोंके फलस्वरूप मनुष्य-शरीरके भीतर परब्रह्मके उत्तम निवास-स्थान (हृदयाकाश) में बुद्धिरूप गुहामें छिपे हुए तथा 'सत्य' का पान करनेवाले दो हैं, वे दोनों छाया और धूपकी भाँति परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले हैं। यह बात ब्रह्मवेत्ता ज्ञानी कहते हैं। तथा जो तीन बार नाचिकेत अग्निका चयन करनेवाले पञ्चाग्नि-सम्पन्न गृहस्थ हैं, वे भी कहते हैं।' इस मन्त्रमें कहे हुए दोनों भोक्ता जीवात्मा और परमात्मा ही हैं। उन्हींका वर्णन छाया और धूपके रूपमें हुआ है। परमात्मा सर्वज्ञ, पूर्ण ज्ञानस्वरूप एवं स्वप्रकाश है, अतः उसका धूपके नामसे वर्णन किया गया है। और जीवात्मा अल्पज्ञ है। उसमें जो कुछ स्वल्प ज्ञान है, वह भी परमात्माका ही है। जैसे छायामें जो थोड़ा प्रकाश होता है, वह धूपका ही अंश होता है। इसलिये जीवात्माको छायाके नामसे कहा गया है। दूसरी श्रुतिमें भी जीवात्मा और परमात्माका एक साथ मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट होना इस प्रकार कहा है—'सेयं देवतैक्षत हन्ताहमिमास्तिस्रो देवता अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' (छा० उ० ६ । ३ । २) अर्थात् 'उस देवता (परमात्मा) ने ईक्षण (संकल्प) किया कि मैं इस जीवात्माके सहित इन तेज आदि तीनों देवताओंमें अर्थात् इनके कार्यरूप शरीरमें प्रविष्ट होकर नाम और रूपको प्रकट करूँ।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त कठोपनिषद्के मन्त्रमें कहे हुए छाया और धूप सदृश दो भोक्ता जीवात्मा और परमात्मा ही हैं। यहाँ जो जीवात्माके साथ-साथ परमात्माको सत्य अर्थात् श्रेष्ठ कर्मोंके फलका भोगनेवाला बताया गया है, उसका यह भाव है कि परब्रह्म परमेश्वर ही समस्त देवता आदिके रूपमें प्रकारान्तरसे समस्त यज्ञ और तपरूप

शुभ कर्मोंके भोक्ता हैं ।* परन्तु उनका भोक्तापन सर्वथा निर्दोष है, इसलिये वे भोगते हुए भी अभोक्ता ही हैं । †

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथनकी सिद्धिके लिये ही दूसरा हेतु उपस्थित करते हैं—

विशेषणाच्च ॥ १ । २ । १२ ॥

विशेषणात्=(आगेके मन्त्रोंमें) दोनोंके लिये अलग-अलग विशेषण दिये गये हैं, इसलिये; **च**=भी (उपर्युक्त दोनों भोक्ताओंको जीवात्मा और परमात्मा मानना ही ठीक है) ।

व्याख्या—इसी अध्यायके दूसरे मन्त्रमें उस परम अक्षर ब्रह्मको संसारसे पार होनेकी इच्छावालोंके लिये 'अभय पद' बताया गया है । तथा उसके बाद रथके दृष्टान्तमें जीवात्माको रथी और उस परब्रह्म परमेश्वरको प्राप्तव्य परमधामके नामसे कहा गया है । इस प्रकार उन दोनोंके लिये पृथक्-पृथक् विशेषण होनेसे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ जिनको गुहामें प्रविष्ट बताया गया है, वे जीवात्मा और परमात्मा ही हैं ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि परमात्माकी उपलब्धि हृदयमें होती है, इसलिये उसे हृदयमें स्थित बताना तो ठीक है, परन्तु छान्दोग्योपनिषद् (४ । १५ । १) में ऐसा कहा है कि 'यह जो नेत्रमें पुरुष दीखता है, यह आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय और ब्रह्म है ।' अतः यहाँ नेत्रमें स्थित पुरुष कौन है ? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अन्तर उपपत्तेः ॥ १ । २ । १३ ॥

अन्तरे=जो नेत्रके भीतर दिखायी देनेवाला कहा गया है, वह ब्रह्म ही है; **उपपत्तेः**=क्योंकि ऐसा माननेसे ही पूर्वापर-प्रसङ्गकी सङ्गति बैठती है ।

व्याख्या—यह प्रसङ्ग छान्दोग्योपनिषद्में चौथे अध्यायके दशम खण्डसे आरम्भ हुआ है और पन्द्रहवें खण्डमें समाप्त । प्रसङ्ग यह है कि उपकोशल नामका

---

* भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥ (गीता ५ । २९)
अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च । (गीता ९ । २४)

† सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥ (गीता १३ । १४)

ब्रह्मचारी सत्यकाम नामक ऋषिके आश्रममें रहकर ब्रह्मचर्यका पालन करता हुआ गुरुकी और अग्नियोंकी सेवा करता था। सेवा करते-करते उसे बारह वर्ष व्यतीत हो गये; परन्तु गुरुने उसे न तो उपदेश दिया और न स्नातक ही बनाया। इसके विपरीत उसीके साथ आश्रममें प्रविष्ट होनेवाले दूसरे शिष्योंको स्नातक बनाकर घर भेज दिया। तब आचार्यसे उनकी पत्नीने कहा, 'भगवन्! इस ब्रह्मचारीने अग्नियोंकी अच्छी प्रकार सेवा की है। तपस्या भी इसने की ही है। अब इसे उपदेश देनेकी कृपा करें।' परन्तु अपनी भार्याकी बातको अनसुनी करके सत्यकाम ऋषि उपकोशलको उपदेश दिये बिना ही बाहर चले गये। तब मनमें दुखी होकर उपकोशलने अनशन व्रत करनेका निश्चय कर लिया। यह देख आचार्य-पत्नीने पूछा—'ब्रह्मचारी! तू भोजन क्यों नहीं करता है?' उसने कहा, 'मनुष्यके मनमें बहुत-सी कामनाएँ रहती हैं। मेरे मनमें बड़ा दुःख है, इसलिये मैं भोजन नहीं करूँगा।' तब अग्नियोंने एकत्र होकर विचार किया कि 'इसने हमारी अच्छी तरह सेवा की है, अतः उचित है कि हम इसे उपदेश करें' ऐसा विचार करके अग्नियोंने कहा—'प्राण ब्रह्म है, क ब्रह्म है, ख ब्रह्म है।' उपकोशल बोला—'यह बात तो मैं जानता हूँ कि प्राण ब्रह्म है। परन्तु 'क' और 'ख' को नहीं जानता।' अग्नियोंने कहा—'निस्सन्देह जो 'क' है, वही 'ख' है और जो 'ख' है, वही 'क' है तथा प्राण भी वही है।' इस प्रकार उन्होंने ब्रह्मको 'क' सुख-स्वरूप और 'ख' आकाशकी भाँति सूक्ष्म एवं व्यापक बताया तथा वही प्राणरूपसे सबको सत्ता-स्फूर्ति देनेवाला है; इस प्रकार संकेतसे ब्रह्मका परिचय कराया।

उसके बाद गार्हपत्य अग्निने प्रकट होकर कहा—'सूर्यमें जो यह पुरुष दीखता है, वह मैं हूँ; जो उपासक इस प्रकार जानकर उपासना करता है, वह पापोंका नाश करके अच्छे लोकोंका अधिकारी होता है तथा पूर्ण आयुष्मान् और उज्ज्वल जीवनसे युक्त होता है। उसका वंश कभी नष्ट नहीं होता।' इसके बाद 'अन्वाहार्यपचन' अग्निने प्रकट होकर कहा, 'चन्द्रमामें जो यह पुरुष दिखायी देता है, वह मैं हूँ। जो मनुष्य इस रहस्यको समझकर उपासना करता है, वह अच्छे लोकोंका अधिकारी होता है।' इत्यादि

तत्पश्चात् आहवनीय अग्निने प्रकट होकर कहा, 'बिजलीमें जो यह पुरुष

दीखता है, वह मैं हूँ ।' इसको जानकर उपासना करनेका फल भी उन्होंने दूसरी अग्नियोंकी भाँति ही बतलाया । तदनन्तर सब अग्नियोंने एक साथ कहा, 'हे उपकोशल! हमने तुमको हमारी विद्या (अग्नि-विद्या) और आत्म-विद्या दोनों ही बतलायी हैं । आचार्य तुमको इनका मार्ग दिखलावेंगे ।' इतनेमें ही उसके गुरु सत्यकाम आ गये । आचार्यने पूछा, 'सौम्य ! तेरा मुख ब्रह्मवेत्ताकी भाँति चमकता है, तुझे किसने उपदेश दिया है ?' उपकोशलने अग्नियोंकी ओर संकेत किया । आचार्यने पूछा, 'इन्होंने तुझे क्या बतलाया है ?' तब उपकोशलने अग्नियोंसे सुनी हुई सब बातें बता दीं । तत्पश्चात् आचार्यने कहा, 'हे सौम्य ! इन्होंने तुझे केवल उत्तम लोकप्राप्तिके साधनका उपदेश दिया है, अब मैं तुझे वह उपदेश देता हूँ, जिसको जान लेनेवालेको पाप उसी प्रकार स्पर्श नहीं कर सकते, जैसे कमलके पत्तेको जल ।' उपकोशलने कहा, 'भगवन् ! बतलानेकी कृपा कीजिये ।' इसके उत्तरमें आचार्यने कहा, 'जो नेत्रमें यह पुरुष दिखलायी देता है, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय और ब्रह्म है ।' उसके बाद उसीको 'संयद्वाम' 'वामनी' और 'भामनी' बतलाकर अन्तमें इन विद्याओंका फल अर्चिमार्गसे ब्रह्मको प्राप्त होना बताया है ।

इस प्रकरणको देखनेसे मालूम होता है कि आँखके भीतर दीखनेवाला पुरुष परब्रह्म ही है, जीवात्मा या प्रतिविम्बके लिये यह कथन नहीं है; क्योंकि ब्रह्मविद्याके प्रसङ्गमें उसका वर्णन करके उसे आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म कहा है । इन विशेषणोंकी उपपत्ति ब्रह्ममें ही लग सकती है, अन्य किसीमें नहीं ।

सम्बन्ध—अब यह जिज्ञासा होती है कि यहाँ ब्रह्मको आँखमें दीखनेवाला पुरुष क्यों कहा गया ? वह किसी स्थानविशेषमें रहनेवाला थोड़े ही है ? इसपर कहते हैं—

स्थानादिव्यपदेशाच्च ॥ १ । २ । १४ ॥

स्थानादिव्यपदेशात्=श्रुतिमें अनेक स्थलोंपर ब्रह्मके लिये स्थान आदिका निर्देश किया गया है, इसलिये; **च**= भी (नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष यहाँ ब्रह्म ही है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जगह-जगह ब्रह्मको समझानेके लिये उसके स्थान तथा नाम, रूप आदिका वर्णन किया गया है । जैसे अन्तर्यामि-ब्राह्मण (बृह० उ० ३ । ७ । ३—२३) में ब्रह्मको पृथ्वी आदि अनेक स्थानोंमें स्थित बताया

गया है । इसी प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी वर्णन आया है । अतः यहाँ ब्रह्मको नेत्रमें दीखनेवाला कहना अयुक्त नहीं है; क्योंकि ब्रह्म निर्लिप्त है और आँखमें दीखनेवाला पुरुष भी आँखके दोषोंसे सर्वथा निर्लिप्त रहता है । इस समानताको लेकर ब्रह्मका तत्त्व समझानेके लिये ऐसा कहना उचित ही है । इसीलिये वहाँ यह भी कहा है कि 'आँखमें घी या पानी आदि जो भी वस्तु डाली जाती है, वह आँखकी पलकोंमें ही रहती है, द्रष्टा पुरुषका स्पर्श नहीं कर सकती ।'

सम्बन्ध—उक्त सिद्धान्तको दृढ़ करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

सुखविशिष्टाभिधानादेव च ॥ १ । २ । १५ ॥

च=तथा; **सुखविशिष्टाभिधानात्**=नेत्रान्तर्वर्ती पुरुषको आनन्दयुक्त बताया गया है, इसलिये; **एव**=भी (यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म ही है) ।

व्याख्या—उक्त प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि 'यह नेत्रमें दीखनेवाला पुरुष ही अमृत, अभय और ब्रह्म है ।' इस कथनमें निर्भयता और अमृतत्व—ये दोनों ही सुखके सूचक हैं । तथा जब अग्नियोंने एकत्र होकर पहले-पहल उपदेश दिया है, वहाँ कहा गया है कि जो 'क' अर्थात् सुख है, वही 'ख' अर्थात् 'आकाश' है । भाव यह है कि वह ब्रह्म आकाशकी भाँति अत्यन्त सूक्ष्म, सर्वव्यापी और आनन्दस्वरूप है । इस प्रकार उसे आनन्दयुक्त बतलाया जानेके कारण वह ब्रह्म ही है ।

सम्बन्ध—इसके सिवा,

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानाच्च ॥ १ । २ । १६ ॥

श्रुतोपनिषत्कगत्यभिधानात्=उपनिषद् अर्थात् रहस्य-विज्ञानका श्रवण कर लेनेवाले ब्रह्मवेत्ताकी जो गति बतायी है, वही गति इस पुरुषको जाननेवालेकी भी कही गयी है, इससे; **च**=भी (यही ज्ञात होता है कि नेत्रमें दीखनेवाला पुरुष यहाँ ब्रह्म ही है) ।

व्याख्या—इस प्रसङ्गके अन्तमें इस नेत्रान्तर्वर्ती पुरुषको जाननेवालेकी वही पुनरावृत्तिरहित गति अर्थात् देवयानमार्गसे जाकर ब्रह्मलोकमें ब्रह्मको प्राप्त होने और वहाँसे पुनः इस संसारमें न लौटनेकी बात बतायी गयी है; जो अन्यत्र

ब्रह्मवेत्ताके लिये कही गयी है (प्र० उ० १ । १०) * । इससे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ नेत्रमें दीखनेवाला पुरुष ब्रह्म ही है ।

सम्बन्ध—यदि इस प्रकरणमें नेत्रके भीतर दिखायी देनेवाले प्रतिविम्ब, नेत्रेन्द्रियके अधिष्ठाता देवता अथवा जीवात्मा—इनमेंसे किसी एकको नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—

अनवस्थितेरसंभवाच्च नेतरः ॥ । १ २ । १७ ॥

अनवस्थितेः=अन्य किसीकी नेत्रमें निरन्तर स्थिति न होनेके कारण; **च**=तथा; **असंभवात्**=(श्रुतिमें बताये हुए अमृतत्व आदि गुण) दूसरे किसीमें सम्भव न होनेसे; **इतरः**=ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई भी; **न**=नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष नहीं है ।

व्याख्या—छाया-पुरुष या प्रतिविम्ब नेत्रेन्द्रियमें सदा नहीं रहता; जब कोई पुरुष सामने आता है, तब उसका प्रतिविम्ब नेत्रमें दिखायी देता है और उसके हटते ही अदृश्य हो जाता है । इन्द्रियानुग्राहक देवताकी स्थिति भी नेत्रमें सदा नहीं रहती, जिस समय वह इन्द्रिय अपने विषयको ग्रहण करती है, उसी समय वह उसके सहायक रूपसे उसमें स्थित माना जाता है । इसी प्रकार जीवात्मा भी मनके द्वारा एक समय किसी एक इन्द्रियके विषयको ग्रहण करता है तो दूसरे समय दूसरी ही इन्द्रियके विषयको; और सुषुप्तिमें तो किसीके भी विषयको नहीं ग्रहण करता । अतः निरन्तर एक-सी स्थिति आँखमें न रहनेके कारण इन तीनोंमेंसे किसीको नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष नहीं कहा जा सकता । इसके सिवा, नेत्रमें दिखायी देनेवाले पुरुषके जो अमृतत्व और निर्भयता आदि गुण श्रुतिने बताये हैं, वे ब्रह्मके अतिरिक्त और किसीमें सम्भव नहीं हैं; इस कारण भी उपर्युक्त तीनोंमेंसे किसीको नेत्रान्तर्वर्ती पुरुष नहीं माना जा सकता । इसलिये परब्रह्म परमेश्वरको ही यहाँ नेत्रमें दिखायी देनेवाला पुरुष कहा गया है; यही मानना ठीक है ।

---

* अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्यमभिजयन्ते । एतद् वै प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधः ।

'किन्तु जो तपस्याके साथ ब्रह्मचर्यपूर्वक और श्रद्धासे युक्त होकर अध्यात्मविद्याके द्वारा परमात्माकी खोज करके जीवन सार्थक कर लेते हैं, वे उत्तरायण-मार्गसे सूर्यलोकको जीत लेते (प्राप्त कर लेते) हैं । यही प्राणोंका केन्द्र है । यह अमृत और निर्भय पद है । यह परम गति है । इससे पुनः लौटकर नहीं आते । इस प्रकार यह निरोध—पुनरावृत्ति-निवारक है ।'

सम्बन्ध—पूर्वप्रकरणमें यह बात बतायी गयी है कि श्रुतिमें जगह-जगह ब्रह्मके लिये भिन्न-भिन्न स्थान आदिका निर्देश किया गया है । अब पुनः अधिदैव, अधिभूत आदिमें उस ब्रह्मकी व्याप्ति बतलाकर उसी बातका समर्थन करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अन्तर्याम्यधिदैवादिषु तद्धर्मव्यपदेशात् ॥ १ । २ । १८ ॥

अधिदैवादिषु=आधिदैविक और आध्यात्मिक आदि समस्त वस्तुओंमें; **अन्तर्यामी**=जिसे अन्तर्यामी बतलाया गया है (वह परब्रह्म ही है); **तद्धर्मव्यपदेशात्**=क्योंकि वहाँ उसीके धर्मोंका वर्णन है ।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद् (३ । ७) में यह प्रसङ्ग आया है । वहाँ उद्दालक ऋषिने याज्ञवल्क्य मुनिसे पहले तो सूत्रात्माके विषयमें प्रश्न किया है; फिर उस अन्तर्यामीके सम्बन्धमें पूछा है, जो इस लोक और परलोकको तथा समस्त भूत-प्राणियोंको उनके भीतर रहकर नियन्त्रणमें रखता है । इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने सूत्रात्मा तो वायुको बताया है और अन्तर्यामीका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए उसे जड-चेतनात्मक समस्त भूतों, सब इन्द्रियों और संपूर्ण जीवोंका नियन्ता बताकर अन्तमें इस प्रकार कहा है—'वह अन्तर्यामी देखनेमें न आनेवाला किन्तु स्वयं सबको देखनेवाला है, सुननेमें न आनेवाला किन्तु स्वयं सब कुछ सुननेवाला है और मनन करनेमें न आनेवाला किन्तु स्वयं सबका मनन करनेवाला है । वह विशेषरूपसे किसीके जाननेमें नहीं आता, किन्तु स्वयं सबको विशेषरूपसे भलीभाँति जानता है । ऐसा यह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है । इससे भिन्न सब कुछ विनाशशील है ।' इस वर्णनमें आये हुए महत्त्वसूचक विशेषण परब्रह्ममें ही सङ्गत हो सकते हैं । जीवात्माका अन्तर्यामी आत्मा ब्रह्मके सिवा दूसरा कोई नहीं हो सकता । अतः इस प्रसङ्गमें ब्रह्मको ही अन्तर्यामी बताया गया है—यही मानना ठीक है ।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें विधि-मुखसे यह बात सिद्ध की गयी कि अन्तर्यामी ब्रह्म ही है । अब निषेधमुखसे यह सिद्ध करते हैं कि अव्यक्त जड प्रकृति अन्तर्यामी नहीं हो सकती—

न च स्मार्तमतद्धर्माभिलापात् ॥ १ । २ । १९ ॥

स्मार्तम्=सांख्यस्मृतिद्वारा प्रतिपादित प्रधान (जड प्रकृति); **च**=भी; **न**=अन्तर्यामी नहीं है; **अतद्धर्माभिलापात्**=क्योंकि इस प्रकरणमें बताये हुए द्रष्टापन आदि धर्म प्रकृतिके नहीं हैं ।

व्याख्या—सांख्य-स्मृतिद्वारा प्रतिपादित जड प्रकृतिके धर्मोंका वर्णन वहाँ अन्तर्यामीके लिये नहीं हुआ है; अपितु चेतन परब्रह्मके धर्मोंका ही विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है । इस कारण वहाँ कहा हुआ अन्तर्यामी प्रकृति नहीं हो सकती । अतः यही सिद्ध होता है कि इस प्रकरणमें 'अन्तर्यामी' के नामसे परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन हुआ है ।

सम्बन्ध—यह ठीक है कि जड होनेके कारण प्रकृतिको अन्तर्यामी नहीं कहा जा सकता । परन्तु जीवात्मा तो चेतन है तथा वह शरीर और इन्द्रियोंके भीतर रहनेवाला और उनका नियमन करनेवाला भी प्रत्यक्ष है । अतः उसीको अन्तर्यामी मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—

शारीरश्चोभयेऽपि हि भेदेनैनमधीयते ॥ १ । २ । २० ॥

शारीरः=शरीरमें रहनेवाला जीवात्मा; **च**=भी; (**न**=) अन्तर्यामी नहीं है; **हि**=क्योंकि; **उभयेऽपि**=माध्यन्दिनी तथा काण्व दोनों ही शाखावाले; **एनम्**=इस जीवात्माको; **भेदेन**=अन्तर्यामीसे भिन्न समझते हुए; **अधीयते**=अध्ययन करते हैं ।

व्याख्या—माध्यन्दिनी[1] और काण्व[2]—दोनों शाखाओंवाले विद्वान् अन्तर्यामीको पृथिवी आदिकी भाँति जीवात्माके भी भीतर रहकर उसका नियमन करनेवाला मानते हैं । वहाँ जीवात्माको नियम्य और अन्तर्यामीको नियन्ता बताया गया है । इस प्रकार दोनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन होनेके कारण वहाँ 'अन्तर्यामी' पद परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है, जीवात्माका नहीं ।

---

१. 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो यमात्मा न वेद यस्यात्मा शरीरं य आत्मानमन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' (शतपथब्रा० १४ । ५ । ३०)

२. 'यो विज्ञाने तिष्ठन् विज्ञानादन्तरो यं विज्ञानं न वेद यस्य विज्ञानꣳ शरीरं यो विज्ञानमन्तरो यमयत्येष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' (बृ० उ० ३ । ७ । २२)

'जो जीवात्मामें रहनेवाला, जीवात्माके भीतर है, जिसे जीवात्मा नहीं जानता, जीवात्मा जिसका शरीर है और जो उसके भीतर रहकर जीवात्माका नियमन करता है, वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है ।'

सम्बन्ध—उन्नीसवें सूत्रमें यह बात कही गयी है कि द्रष्टापन आदि चेतनके धर्म जड प्रकृतिमें नहीं घट सकते; इसलिये वह अन्तर्यामी नहीं हो सकती। इसपर यह जिज्ञासा होती है कि मुण्डकोपनिषद्में जिसको अदृश्यता, अग्राह्यता आदि धर्मोंसे युक्त बतलाकर अन्तमें भूतोंका कारण बताया गया है, वह तो प्रकृति हो सकती है; क्योंकि उस जगह बताये हुए सभी धर्म प्रकृतिमें पाये जाते हैं। इसपर कहते हैं—

अदृश्यत्वादिगुणको धर्मोक्तेः॥ १। २। २१॥

अदृश्यत्वादिगुणकः=अदृश्यता आदि गुणोंवाला परब्रह्म परमेश्वर ही है; **धर्मोक्तेः**=क्योंकि उस जगह उसीके सर्वज्ञता आदि धर्मोंका वर्णन है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्में यह प्रसङ्ग आया है कि महर्षि शौनक विधिपूर्वक अङ्गिरा ऋषिकी शरणमें गये। वहाँ जाकर उन्होंने पूछा—'भगवन्! किसको जान लेनेपर यह सब कुछ जाना हुआ हो जाता है?' इसपर अङ्गिराने कहा—'जानने योग्य विद्याएँ दो हैं, एक अपरा, दूसरी परा। उनमेंसे अपरा विद्या तो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द तथा ज्यौतिष है और परा वह है, जिससे उस अक्षर ब्रह्मको जाना जाता है।' यह कहकर उस अक्षरको समझानेके लिये अङ्गिराने उसके गुण और धर्मोंका वर्णन करते हुए (मु० १। १। ६ में) कहा—

'यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादम्।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद् भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः॥'

अर्थात् 'जो इन्द्रियोंद्वारा अगोचर है, पकड़नेमें आनेवाला नहीं है, जिसका कोई गोत्र नहीं है, वर्ण नहीं है, जो आँख, कान तथा हाथ-पैरसे रहित है, नित्य, व्यापक, सर्वत्र परिपूर्ण, अत्यन्त सूक्ष्म और सर्वथा अविनाशी है। उसको धीर पुरुष देखते हैं, वह समस्त भूतोंका परम कारण है।'

फिर नवम मन्त्रमें कहा है—

'यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥'

'जो सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला है, ज्ञान ही जिसका तप है, उसीसे यह विराट्रूप समस्त जगत् तथा नाम, रूप और अन्न उत्पन्न होते हैं ।'

यहाँ जिन सर्वज्ञता आदि धर्मोंका वर्णन है, वे परब्रह्म परमेश्वरके ही हैं । तथा एक ब्रह्मको जान लेनेपर ही सब कुछ जाना हुआ हो सकता है, अन्य किसीके जाननेसे नहीं । इसलिये उस प्रकरणमें जिसे अदृश्यता आदि गुणोंवाला बताया गया है, वह परब्रह्म परमात्मा ही है, जीवात्मा या प्रकृति नहीं ।

सम्बन्ध—इसी बातकी पुष्टिके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्यां च नेतरौ ॥ १ । २ । २२ ॥

विशेषणभेदव्यपदेशाभ्याम्=परमेश्वरसूचक विशेषणोंका कथन होनेसे तथा प्रकृति और जीवात्मासे उसको भिन्न बताये जानेके कारण; **च**=भी; **इतरौ**=जीवात्मा और प्रकृति; **न**=अदृश्यता आदि गुणोंवाला जगत्कारण नहीं हो सकते ।

व्याख्या—इस प्रकरणमें जिसको अदृश्यता आदि गुणोंसे युक्त और सब भूतोंका कारण बताया गया है, उसके लिये 'सर्वज्ञ' आदि विशेषण दिये गये हैं, जो न तो प्रधान (जड प्रकृति) के लिये उपयुक्त हो सकते हैं और न अल्पज्ञ जीवात्माके लिये ही । इसके सिवा, उन दोनोंको ब्रह्मसे भिन्न कहा गया है । मुण्डकोपनिषद् (३ । १ । ७) में उल्लेख है कि—'पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ।' अर्थात् वह देखनेवालोंके शरीरके भीतर यहीं हृदय-गुफामें छिपा हुआ है ।' इसके अनुसार जीवात्मासे परमात्माकी भिन्नता स्वतः स्पष्ट हो जाती है । इसके सिवा, मुण्डक० ३ । १ । २ में भी कहा है कि—

'समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥'

'शरीररूप वृक्षपर रहनेवाला यह जीवात्मा शरीरमें आसक्त होकर डूब रहा है । अपनेको असमर्थ समझकर मोहित हो शोक करता रहता है । परन्तु वह जब वहीं स्थित तथा भक्तजनोंद्वारा सेवित अपनेसे भिन्न परमेश्वरको देख लेता है और उसकी महिमाको समझ लेता है, तब सर्वथा शोकरहित हो जाता है ।' इस प्रकार इस मन्त्रमें स्पष्ट शब्दोंद्वारा परमेश्वरको जीवात्मासे तथा शरीररूपी वृक्षसे भी भिन्न बताया गया है । अतः यहाँ जीव और

प्रकृति दोनोंमेंसे कोई भी अदृश्यता आदि गुणोंसे युक्त जगत्-कारण नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—इस प्रकरणमें जिसे समस्त भूतोंका कारण बताया गया है, वह परब्रह्म परमेश्वर ही है, इसकी पुष्टिके लिये दूसरा प्रमाण उपस्थित करते हैं—

रूपोपन्यासाच्च ॥ १ । २ । २३ ॥

रूपोपन्यासात्=श्रुतिमें उसीके निखिल लोकमय विराट् स्वरूपका वर्णन किया गया है, इससे; **च**=भी (वह परमेश्वर ही समस्त भूतोंका कारण सिद्ध होता है)।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (२ । १ । ४) में परब्रह्म परमेश्वरके सर्वलोकमय विराट्स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥'

'अग्नि इस परमेश्वरका मस्तक है, चन्द्रमा ओर सूर्य दोनों नेत्र हैं, सब दिशाएँ दोनों कान हैं और प्रकट हुए वेद उसकी वाणी हैं। वायु इसका प्राण और संपूर्ण विश्व हृदय है। इसके पैरोंसे पृथिवी उत्पन्न हुई है। यही समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा है।' इस प्रकार परमात्माके विराट् स्वरूपका उल्लेख करके उसे सबका अन्तरात्मा बताया गया है; इसलिये उक्त प्रकरणमें 'भूतयोनि'के नामसे परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन है, यह निश्चय होता है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि छान्दोग्योपनिषद् (५ । १८ । २) में 'वैश्वानर'के स्वरूपका वर्णन करते हुए 'द्युलोक'को उसका मस्तक बताया है। 'वैश्वानर' शब्द जठराग्निका वाचक है। अतः वह वर्णन जठरानलके विषयमें है या अन्य किसीके ? इस शङ्काका निवारण करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

वैश्वानरः साधारणशब्दविशेषात् ॥ १ । २ । २४ ॥

वैश्वानरः=(वहाँ) 'वैश्वानर' नामसे परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन है; **साधारणशब्दविशेषात्**=क्योंकि उस वर्णनमें 'वैश्वानर' और 'आत्मा' इन साधारण शब्दोंकी अपेक्षा (परब्रह्मके बोधक) विशेष शब्दोंका प्रयोग हुआ है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्‌में पाँचवें अध्यायके ग्यारहवें खण्डसे जो प्रसङ्ग आरम्भ हुआ है, वह इस प्रकार है—'प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न, जन तथा बुडिल—ये पाँचों ऋषि श्रेष्ठ गृहस्थ और महान् वेदवेत्ता थे। इन्होंने एकत्र होकर परस्पर विचार किया कि 'हमारा आत्मा कौन है और ब्रह्मका क्या स्वरूप है ?' जब वे किसी निर्णयपर नहीं पहुँच सके तो यह निश्चय किया कि 'इस समय महर्षि उद्दालक वैश्वानर आत्माके ज्ञाता हैं, हमलोग उन्हींके पास चलें।' इस निश्चयके अनुसार वे पाँचों ऋषि उद्दालक मुनिके यहाँ गये। उन्हें देखते ही मुनिने अनुमान कर लिया कि 'ये लोग मुझसे कुछ पूछेंगे, किन्तु मैं इन्हें पूर्णतया उत्तर नहीं दे सकूँगा। अतः अच्छा हो कि मैं इन्हें पहलेसे ही दूसरा उपदेष्टा बतला दूँ।' यह सोचकर उद्दालकने उनसे कहा—'आदरणीय महर्षियो ! इस समय केवल राजा अश्वपति ही वैश्वानर आत्माके ज्ञाता हैं। आइये, हम सब लोग उनके पास चलें।' यों कहकर उन सबके साथ उद्दालक मुनि वहाँ गये। राजाने उन सबका यथोचित सत्कार किया और दूसरे दिन उनसे यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये प्रार्थना करते हुए उन्हें पर्याप्त धन देनेकी बात कही। इसपर उन महर्षियोंने कहा—'हमें धन नहीं चाहिये, हम जिस प्रयोजनसे आपके पास आये हैं, वही दीजिये। हमें पता लगा है, आप वैश्वानर आत्माको जानते हैं, उसीका हमारे लिये उपदेश करें।' राजाने दूसरे दिन उन्हें अपने पास बुलाया और एक-एकसे क्रमशः पूछा, 'इस विषयमें आपलोग क्या जानते हैं ?' उनमेंसे उपमन्युपुत्र प्राचीनशालने उत्तर दिया—'मैं 'द्युलोक'को आत्मा समझकर उसकी उपासना करता हूँ।' फिर सत्ययज्ञ बोले—'मैं सूर्यकी उपासना करता हूँ।' इन्द्रद्युम्नने कहा—'मैं वायुकी उपासना करता हूँ।' जनने अपनेको आकाशका और बुडिलने जलका उपासक बताया। इन सबकी बात सुनकर राजाने कहा—'आपलोग उस विश्वके आत्मा वैश्वानरकी उपासना तो करते हैं; परन्तु उसके एक-एक अङ्गकी ही उपासना आपके द्वारा होती है; अतः यह सर्वाङ्गपूर्ण नहीं है; क्योंकि—'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादावुर एव वेदिर्लोमानि बर्हिर्हृदयं गार्हपत्यो मनोऽन्वाहार्यपचन आस्यमाहवनीयः।' अर्थात् 'उस इस विश्वके आत्मा वैश्वानरका द्युलोक मस्तक है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश शरीरका मध्यभाग है, जल बस्ति-स्थान है,

पृथिवी दोनों चरण है, वेदी वक्षःस्थल है, दर्भ लोम है, गार्हपत्य अग्नि हृदय है अन्वाहार्यपचन अग्नि मन है और आहवनीय अग्नि मुख है।'

इस वर्णनसे मालूम होता है कि यहाँ विश्वके आत्मारूप विराट् पुरुषको ही वैश्वानर कहा गया है; क्योंकि इस प्रकरणमें जठराग्नि आदिके वाचक साधारण शब्दोंकी अपेक्षा, परब्रह्मके वाचक विशेष शब्दोंका जगह-जगह प्रयोग हुआ है।

सम्बन्ध—इसी बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरा कारण प्रस्तुत करते हैं—

स्मर्यमाणमनुमानं स्यादिति ॥ १ । २ । २५ ॥

स्मर्यमाणम्=स्मृतिमें जो विराट्स्वरूपका वर्णन है, वह; **अनुमानम्**=मूलभूत श्रुतिके वचनका अनुमान कराता हुआ वैश्वानरके 'परमेश्वर' होनेका निश्चय करनेवाला है; **इति स्यात्**=इसलिये इस प्रकरणमें वैश्वानर परमात्मा ही है।

व्याख्या—महाभारत, शान्तिपर्व (४७ । ७०) में कहा है—

'यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुः दिशः श्रोत्रं तस्मै लोकात्मने नमः ॥'

'अग्नि जिसका मुख, द्युलोक मस्तक, आकाश नाभि, पृथिवी दोनों चरण, सूर्य नेत्र तथा दिशाएँ कान हैं, उस सर्वलोकस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।' इस प्रकार इस स्मृतिमें परमेश्वरका अखिल विश्वके रूपमें वर्णन आया है। स्मृतिके वचनसे उसकी मूलभूत किसी श्रुतिका होना सिद्ध होता है। उपर्युक्त छान्दोग्य-श्रुतिमें जो वैश्वानरके स्वरूपका वर्णन है, वही पूर्वोक्त स्मृतिवचनका मूल आधार है। अतः यहाँ उस परब्रह्मके विराट्रूपको ही वैश्वानर कहा गया है, यह बात स्मृतिसे भी सिद्ध होती है। अतएव जहाँ-जहाँ आत्मा या परमात्माके वर्णनमें 'वैश्वानर' शब्दका प्रयोग आवे, वहाँ उसे परब्रह्मके विराट्स्वरूपका ही वाचक मानना चाहिये, जठरानल या जीवात्माका नहीं। माण्डूक्योपनिषद्में ब्रह्मके चार पादोंका वर्णन करते समय ब्रह्मका पहला पाद वैश्वानरको बताया है। वहाँ भी वह परमेश्वरके विराट्स्वरूपका ही वाचक है; जठराग्नि या जीवात्माका नहीं।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बातकी सिद्धिके लिये सूत्रकार स्वयं ही शङ्का उपस्थित करके उसका समाधान करते हैं—

शब्दादिभ्योऽन्तःप्रतिष्ठानाच्च नेति चेन्न तथा दृष्ट्युपदेशादसंभवात्पुरुषमपि चैनमधीयते ॥ १ । २ । २६ ॥

चेत्=यदि कहो; **शब्दादिभ्यः**=शब्दादि हेतुओंसे अर्थात् अन्य श्रुतिमें वैश्वानर शब्द अग्निके अर्थमें विशेषरूपमें प्रयुक्त हुआ है और इस मन्त्रमें गार्हपत्य आदि अग्नियोंको वैश्वानरका अङ्ग बताया गया है, इसलिये; **च**=तथा; **अन्तः-प्रतिष्ठानात्**=श्रुतिमें वैश्वानरको शरीरके भीतर प्रतिष्ठित कहा गया है, इसलिये भी; **न**=(यहाँ वैश्वानर शब्द परब्रह्म परमात्माका वाचक) नहीं है; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं है; **तथा दृष्ट्युपदेशात्**=क्योंकि वहाँ वैश्वानरमें ब्रह्मदृष्टि करनेका उपदेश है; **असंभवात्**=इसके सिवा, केवल जठरानलका विराट्रूपमें वर्णन होना संभव नहीं है, इसलिये; **च**=तथा; **एनम्**=इस वैश्वानरको; **पुरुषम्**='पुरुष' नाम देकर; **अपि**=भी; **अधीयते**=पढ़ते हैं (इसलिये उक्त प्रकरणमें वैश्वानर शब्द परब्रह्मका ही वाचक है)।

व्याख्या—यदि कहो कि अन्य श्रुतिमें 'स यो हैतमेवमग्निं वैश्वानरं पुरुषविधं पुरुषेऽन्तःप्रतिष्ठितं वेद ।' (शतपथब्रा० १० । ६ । १ । ११) अर्थात् 'जो इस वैश्वानर अग्निको पुरुषके आकारका तथा पुरुषके भीतर प्रतिष्ठित जानता है ।' इस प्रकार वैश्वानर शब्द अग्निके विशेषणरूपसे प्रयुक्त हुआ है, तथा जिस श्रुतिपर विचार चल रहा है, इसमें भी गार्हपत्य आदि तीनों अग्नियोंको वैश्वानरका अङ्ग बताया गया है । इसी प्रकार भगवद्गीतामें भी कहा है कि 'मैं ही वैश्वानररूपसे प्राणियोंके शरीरमें स्थित हो चार प्रकारके अन्नका पाचन करता हूँ।' (१५ । १४) इन सब कारणोंसे यहाँ वैश्वानरके नामसे जठराग्निका ही वर्णन है, परमात्माका नहीं, तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि शतपथब्राह्मणकी श्रुतिमें जो वैश्वानर अग्निको जाननेकी बात कही गयी है, वह जठराग्निमें ब्रह्म-दृष्टि करानेके उद्देश्यसे ही है । यदि ऐसा न होता तो उसको पुरुष नहीं कहा जाता । तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भी जो वैश्वानर अग्निको सब प्राणियोंके शरीरमें स्थित बताया है, वहाँ भी उसमें परमात्मबुद्धि करानेके लिये भगवान्‌ने अपनी विभूतिके रूपमें ही कहा है । इसके सिवा, जिसपर विचार चल रहा है, उस श्रुतिमें समस्त ब्रह्माण्डको 'वैश्वानर' का शरीर बताया है, सिरसे लेकर पैरोंतक उसके अङ्गोंमें समस्त लोकोंकी कल्पना की गयी है । यह जठराग्निके लिये असम्भव भी है । एवं शतपथब्राह्मणमें तथा यहाँ भी इस वैश्वानरको पुरुषके आकारवाला और पुरुष कहा गया है; जो कि जठराग्निके उपयुक्त नहीं है । इन सब कारणोंसे इस प्रकरणमें कहा हुआ वैश्वानर परब्रह्म परमेश्वर ही है । जठराग्नि या अन्य कोई नहीं ।

सम्बन्ध—इस प्रसङ्गमें पृथक्-पृथक् उपास्यरूपसे आये हुए 'दिव्', 'आदित्य', 'वायु,' 'आकाश', 'जल' तथा 'पृथिवी' भी वैश्वानर नहीं हैं; यह सिद्ध करनेके लिये कहते हैं—

अत एव न देवता भूतं च ॥ १ । २ । २७ ॥

अतः=उपर्युक्त कारणोंसे; **एव**=ही (यह भी सिद्ध होता है कि); **देवता**=द्यौ, सूर्य आदि लोकोंके अधिष्ठाता देवगण; **च**=और; **भूतम्**=आकाश आदि भूतसमुदाय (भी); **न**=वैश्वानर नहीं हैं।

व्याख्या—उक्त प्रकरणमें 'द्यौ' 'सूर्य' आदि लोकोंकी तथा आकाश, वायु आदि भूतसमुदायकी अपने आत्माके रूपमें उपासना करनेका प्रसङ्ग आया है। इसलिये सूत्रकार स्पष्ट कर देते हैं कि पूर्वसूत्रमें बताये हुए कारणोंसे यह भी समझ लेना चाहिये कि उन-उन लोकोंके अभिमानी देवताओं तथा आकाश आदि भूतोंका भी 'वैश्वानर' शब्दसे ग्रहण नहीं है; क्योंकि समस्त ब्रह्माण्डको वैश्वानरका शरीर बताया गया है। यह कथन न तो देवताओंके लिये सम्भव हो सकता है और न भूतोंके लिये ही। इसलिये यही मानना चाहिये कि 'जो विश्वरूप भी है और नर (पुरुष) भी, वह वैश्वानर है।' इस व्युत्पत्तिके अनुसार परब्रह्म परमेश्वरको ही वैश्वानर कहा गया है।

सम्बन्ध—पहले २६वें सूत्रमें यह बात बतायी गयी है कि शतपथब्राह्मणके मन्त्रमें जो वैश्वानर अग्निको जाननेकी बात कही गयी है, वह जठराग्निमें ब्रह्मदृष्टि करानेके उद्देश्यसे है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि शालग्राम-शिलामें विष्णुकी उपासनाके सदृश यहाँ 'वैश्वानर' नामक जठराग्निमें परमेश्वरकी प्रतीकोपासना बतलानेके लिये 'वैश्वानर' नामसे उस परब्रह्मका वर्णन है; अतः इसपर सूत्रकार आचार्य जैमिनिका मत बतलाते हैं—

साक्षादप्यविरोधं जैमिनिः ॥ १ । २ । २८ ॥

साक्षात्='वैश्वानर' शब्दको साक्षात् परब्रह्मका वाचक माननेमें; **अपि**=भी; **अविरोधम्**=कोई विरोध नहीं है, ऐसा; **जैमिनिः (आह)**= आचार्य जैमिनि कहते हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिका कथन है कि वैश्वानर शब्दको साक्षात् विश्वरूप

परमात्माका वाचक माननेमें कोई विरोध नहीं है । अतः यहाँ जठराग्निको प्रतीक मानकर उसके रूपमें परमात्माकी उपासना माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त सूत्रोंद्वारा यह बात सिद्ध की गयी कि 'वैश्वानर' नामसे इस प्रकरणमें परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन किया गया है । परन्तु निर्विकार निराकार अव्यक्त परब्रह्म परमात्माको इस प्रकार साकार विराट्रूपमें देशविशेषसे सम्बद्ध बतलाना किस अभिप्रायसे है ? निर्गुण निराकारको सगुण साकार बताना विरुद्ध-सा प्रतीत होता है । इसपर २९ वें सूत्रसे ३१ वें तक विभिन्न आचार्यों-का मत बताते हुए अन्तमें ३२ वें सूत्रमें अपना सिद्धान्त कहकर सूत्रकार इस दूसरे पादको समाप्त करते हैं—

अभिव्यक्तेरित्याश्मरथ्यः ॥ १ । २ । २९ ॥

अभिव्यक्तेः=(भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये) देश-विशेषमें ब्रह्मका प्राकट्य होता है, इसलिये; (**अविरोधः**=)कोई विरोध नहीं है; **इति**=ऐसा; **आश्मरथ्यः**=आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं ।

व्याख्या—आश्मरथ्य आचार्यका कहना है कि भक्तजनोंपर अनुग्रह करके उन्हें दर्शन देनेके लिये भगवान् समय-समयपर उनकी श्रद्धाके अनुसार नाना रूपोंमें प्रकट होते हैं; तथा अपने भक्तोंको दर्शन, स्पर्श और प्रेमालाप आदिके द्वारा सुख पहुँचाने, उनका उद्धार करने और जगत्में अपनी कीर्ति फैलाकर उसके कथन-मननद्वारा साधकोंको परम लाभ पहुँचानेके लिये भगवान् मनुष्य आदिके रूपमें भी समय-समयपर प्रकट होते हैं । यह बात उपनिषद् (केन० ३ । २), गीता (४ । ६–९) और अन्यान्य सद्ग्रन्थोंसे भी प्रमाणित है । इस कारण विराट्रूपमें उस परब्रह्म परमात्माको सगुण-साकार तथा देश-विशेषसे सम्बद्ध माननेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि वह सर्वसमर्थ भगवान् देश-कालातीत और देशकालसे सम्बन्ध रखनेवाला भी है । वह जिस प्रकार निर्गुण-निराकार है, उसी प्रकार सगुण-साकार भी है । यह बात माण्डूक्यो-पनिषद्में परब्रह्म परमात्माके चार पादोंका वर्णन करके भलीभाँति समझायी गयी है ।

सम्बन्ध—अब इस विषयमें बादरि आचार्यका मत उपस्थित करते हैं—

अनुस्मृतेर्बादरिः ॥ १ । २ । ३० ॥

अनुस्मृतेः=विराट्रूपमें परमेश्वरका निरन्तर स्मरण करनेके लिये; उसको देश-विशेषसे सम्बद्ध बतानेमें (**अविरोधः**=) कोई विरोध नहीं है; (**इति**=) ऐसा; **बादरिः**=बादरि नामक आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर यद्यपि देशकालातीत हैं, तो भी उनका निरन्तर भजन, ध्यान, स्मरण करनेके लिये उन्हें देश-विशेषमें स्थित मानने, कहने और समझनेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि भगवान् सर्वसमर्थ हैं। उनके भक्त उनका जिस-जिस रूपमें चिन्तन करते हैं, उनपर कृपा करनेके लिये वे उसी-उसी रूपमें उनको मिलते हैं।*

सम्बन्ध—इसी विषयमें आचार्य जैमिनिका मत बताते हैं—

सम्पत्तेरिति जैमिनिस्तथा हि दर्शयति ॥ १ । २ । ३१ ॥

सम्पत्तेः=परब्रह्म परमेश्वर अनन्त ऐश्वर्यसे सम्पन्न है, इसलिये (उसे देश-विशेषसे सम्बन्ध रखनेवाला माननेमें कोई विरोध नहीं है); **इति**=ऐसा; **जैमिनिः**=जैमिनि आचार्य मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **तथा**=ऐसा ही भाव; **दर्शयति**= दूसरी श्रुति भी प्रकट करती है।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिका यह कथन है कि परब्रह्म परमेश्वर अनन्त ऐश्वर्यसे सम्पन्न है, अतः उस निर्विकार, निराकार, देशकालातीत परमात्माको सगुण, साकार और किसी देश-विशेषसे सम्बन्ध रखनेवाला माननेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि दूसरी श्रुति भी ऐसा ही भाव प्रकट करती है। (मु० उ० २ । १ । ४)†

सम्बन्ध—अब सूत्रकार अपने मतका वर्णन करते हुए इस पादका उपसंहार करते हैं—

आमनन्ति चैनमस्मिन् ॥ १ । २ । ३२ ॥

अस्मिन्=इस वेदान्त-शास्त्रमें; **एनम्**=इस परमेश्वरको; (**एवम्**=) ऐसा; **च**= ही; **आमनन्ति**=प्रतिपादन करते हैं।

---

* श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

यद्यद्धिया त उरुगाय विभावयन्ति तत्तद्वपुः प्रणयसे सदनुग्रहाय। (३ । ९ । ११)

'महान् यशस्वी परमेश्वर! आपके भक्तजन अपने हृदयमें आपको जिस-जिस रूपमें चिन्तन करते हैं, आप उन संत-महात्माओंपर अनुग्रह करनेके लिये वही-वही शरीर धारण कर लेते हैं।'

† यह मन्त्र पृष्ठ ३९ के अन्तर्गत २३ वें सूत्रकी व्याख्यामें अर्थसहित आ गया है।

व्याख्या—इस वेदान्तशास्त्रमें सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, सबके निवास-स्थान, सर्वसमर्थ परब्रह्म परमेश्वरका ज्ञानीजन ऐसा ही प्रतिपादन करते हैं* इस विषयमें शास्त्र ही प्रमाण है । युक्ति-प्रमाण यहाँ नहीं चल सकता; क्योंकि परमात्मा तर्कका विषय नहीं है । वह सगुण, निर्गुण, साकार-निराकार, सविशेष-निर्विशेष आदि सब कुछ है । यह विश्वास करके साधकको उसके स्मरण और चिन्तनमें लग जाना चाहिये । वह व्यापक भगवान् सभी देशोंमें सर्वदा विद्यमान है । अतः उसको किसी भी देश-विशेषसे संयुक्त मानना विरुद्ध नहीं है तथा वह सब देशोंसे सदा ही निर्लिप्त है ! इस कारण उसको देश-कालातीत मानना भी उचित ही है । अतः सभी आचार्योंकी मान्यता ठीक है ।

दूसरा पाद सम्पूर्ण ।



* अनाद्यनन्तं कलिलस्य मध्ये विश्वस्य स्रष्टारमनेकरूपम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

(श्वेता० ५ । १३)

'दुर्गम संसारके भीतर व्याप्त, आदि-अन्तसे रहित, समस्त जगत्की रचना करनेवाले, अनेक रूपधारी, समस्त जगत्को सब ओरसे घेरे हुए एक अद्वितीय परमेश्वरको जानकर मनुष्य समस्त बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है ।'

तीसरा पाद

सम्बन्ध—पहले दो पादोंमें सर्वान्तर्यामी परब्रह्म परमात्माके व्यापक रूपका भलीभाँति प्रतिपादन किया गया । अब उसी परमेश्वरको सबका आधार बतलाते हुए तीसरा पाद आरम्भ करते हैं—

द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात् ॥ १ । ३ । १ ॥

द्युभ्वाद्यायतनम्=(मु० उ० २ । २ । ५ में) स्वर्ग और पृथिवी आदिका जो आधार बताया गया है (वह परब्रह्म परमात्मा ही है); **स्वशब्दात्**=क्योंकि वहाँ उस परमात्माके बोधक 'आत्मा' शब्दका प्रयोग है ।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (२ । २ । ५) में कहा गया है कि—

'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥'

अर्थात् 'जिसमें स्वर्ग, पृथिवी और उसके बीचका आकाश तथा समस्त प्राणोंके सहित मन गुँथा हुआ है, उसी एक सबके आत्मरूप परमेश्वरको जानो, दूसरी सब बातोंको सर्वथा छोड़ दो । यही अमृतका सेतु है ।' इस मन्त्रमें जिस एक आत्माको उपर्युक्त ऊँचे-से-ऊँचे स्वर्ग और नीचे पृथिवी आदि सभी जगत्‌का आधार बताया है; वह परब्रह्म परमेश्वर ही है, जीवात्मा या प्रकृति नहीं; क्योंकि इसमें परब्रह्मबोधक 'आत्मा' शब्दका प्रयोग है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बातकी सिद्धिके लिये दूसरा हेतु देते हैं—

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात् ॥ १ । ३ । २ ॥

मुक्तोपसृप्यव्यपदेशात्=(उस सर्वाधार परमात्माको) मुक्त पुरुषोंके लिये प्राप्तव्य बतलाया गया है, इसलिये (वह जीवात्मा नहीं हो सकता) ।

व्याख्या—उक्त उपनिषद्‌में ही आगे चलकर कहा गया है कि—

'यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥' (मु० उ० ३ । २ । ८)

'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नाम-रूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती

हैं, वैसे ही ज्ञानी महात्मा नामरूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

इस प्रकार श्रुतिने परमपुरुष परमात्माको मुक्त (ज्ञानी) पुरुषोंके लिये प्राप्तव्य बताया है; इसलिये (मु० उ० २ । २ । ५) में द्युलोक और पृथिवी आदिके आधाररूपसे जिस 'आत्मा'का वर्णन आया है, वह 'जीवात्मा' नहीं, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ही है । इसके पूर्ववर्ती चौथे मन्त्रमें भी परमात्माको जीवात्माका प्राप्य बताया गया है । वह मन्त्र इस प्रकार है—

'प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

'प्रणव तो धनुष है और जीवात्मा बाणके सदृश है । ब्रह्मको उसका लक्ष्य कहते हैं । प्रमादरहित (सतत सावधान) मनुष्यके द्वारा वह लक्ष्य बींधा जाने योग्य है; इसलिये साधकको उचित है कि उस लक्ष्यको बेधकर बाणकी ही भाँति उसमें तन्मय हो जाय—सब बन्धनोंसे मुक्त हो सदा परमेश्वरके चिन्तनमें ही तत्पर रहकर तन्मय हो जाय ।'

इस प्रकार इस प्रसङ्गमें जगह-जगह परमात्माको जीवका प्राप्य बताये जानेके कारण पूर्वोक्त श्रुतिमें वर्णित द्युलोक आदिका आधारभूत आत्मा परब्रह्म ही हो सकता है; दूसरा कोई नहीं ।

सम्बन्ध—अब यहाँ यह शंका होती है कि पृथिवी आदि सम्पूर्ण भूत-प्रपञ्च जड प्रकृतिका कार्य है; कार्यका आधार कारण ही होता है; अतः प्रधान (जड प्रकृति) को ही सबका आधार माना जाय तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—

नानुमानमतच्छब्दात् ॥ १ । ३ । ३ ॥

अनुमानम्=अनुमान-कल्पित प्रधान; **न**=द्युलोक और पृथिवी आदिका आधार नहीं हो सकता; **अतच्छब्दात्**=क्योंकि उसका प्रतिपादक कोई शब्द (इस प्रकरणमें) नहीं है ।

व्याख्या—इस प्रकरणमें ऐसा कोई शब्द नहीं प्रयुक्त हुआ है, जो जड प्रकृतिको स्वर्ग और पृथिवी आदिका आधार बताता हो । अतः उसे इनका आधार नहीं माना जा सकता । वह जगत्का कारण नहीं है, यह बात तो पहले ही सिद्ध की जा चुकी है । अतः उसे कारण बताकर इनका आधार माननेके लिये तो कोई सम्भावना ही नहीं है ।

सम्बन्ध—प्रकृतिका वाचक शब्द उस प्रकरणमें नहीं है, यह तो ठीक है ? परन्तु जीवात्माका वाचक 'आत्म' शब्द तो वहाँ है ही; अतः उसीको द्युलोक आदिका आधार माना जाय तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—

प्राणभृच्च ॥ १ । ३ । ४ ॥

प्राणभृत्=प्राणधारी जीवात्मा; **च**=भी; (**न**=) द्युलोक आदिका आधार नहीं हो सकता; (क्योंकि उसका वाचक शब्द भी इस प्रकरणमें नहीं है) ।

व्याख्या—जैसे प्रकृतिका वाचक शब्द इस प्रकरणमें नहीं है, वैसे ही जीवात्माका बोधक शब्द भी नहीं प्रयुक्त हुआ है । 'आत्मा' शब्द अन्यत्र जीवात्माके अर्थमें प्रयुक्त होनेपर भी इस प्रकरणमें वह जीवात्माका वाचक नहीं है; क्योंकि मु० उ० (२ । २ । ७) में इसके लिये 'आनन्दरूप' और 'अमृत' विशेषण दिये गये हैं; जो कि परब्रह्म परमात्माके ही अनुरूप हैं । इसलिये प्राणधारी जीवात्मा भी द्युलोक आदिका आधार नहीं माना जा सकता ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त अभिप्रायकी सिद्धिके लिये दूसरा कारण देते हैं—

भेदव्यपदेशात् ॥ १ । ३ । ५ ॥

भेदव्यपदेशात्=यहाँ कहे हुए आत्माको जीवात्मासे भिन्न बताये जानेके कारण; (**प्राणभृत् न**=) प्राणधारी जीवात्मा सबका आधार नहीं है ।

व्याख्या—इसी मन्त्र (मु० उ० २ । २ । ५) में यह बात कही गयी है कि 'उस आत्माको जानो ।' अतः ज्ञातव्य आत्मासे उसको जाननेवाला भिन्न होगा ही । इसी प्रकार आगेवाले मन्त्र (मु० उ० ३ । १ । ७) में उस आत्माको जाननेवालेकी हृदय-गुफामें छिपा हुआ बताया गया है । इससे भी ज्ञातव्य आत्माकी भिन्नता सिद्ध होती है; इसलिये इस प्रकरणमें बतलाया हुआ द्युलोक आदिका आधार परब्रह्म परमेश्वर ही है, जीवात्मा नहीं ।

सम्बन्ध—यहाँ जीवात्मा और जड प्रकृति दोनों ही द्युलोक आदिके आधार नहीं हैं, इसमें दूसरा कारण बताते हैं—

प्रकरणात् ॥ १ । ३ । ६ ॥

प्रकरणात्=यहाँ परब्रह्म परमात्माका प्रकरण है, इसलिये; (भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा और जड प्रकृति द्युलोक आदिके आधार नहीं हैं) ।

व्याख्या—इस प्रकरणमें आगे-पीछेके सभी मन्त्रोंमें उस परमात्माको सर्वाधार, सबका कारण, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् बताकर उसीको जीवात्माके लिये प्राप्तव्य ब्रह्म कहा है; इसलिये यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मा एक दूसरेसे भिन्न हैं तथा यहाँ बतलाया हुआ स्वर्ग और पृथिवी आदिका आधार वह परब्रह्म ही है; जीव या जड प्रकृति नहीं ।

सम्बन्ध—इसके सिवा——

स्थित्यदनाभ्यां च ॥ १ । ३ । ७ ॥

स्थित्यदनाभ्याम्=एककी शरीरमें साक्षीरूपसे स्थिति और दूसरेके द्वारा सुख-दुःखप्रद विषयका उपभोग बताया गया है, इसलिये; **च**=भी (जीवात्मा और परमात्माका भेद सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (३ । १ । १) में कहा है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'

'एक साथ रहते हुए परस्पर सख्यभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही शरीररूप वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं । उन दोनोंमेंसे एक (जीवात्मा) तो उस वृक्षके कर्मफलरूप सुख-दुःखोंका स्वाद ले-लेकर (आसक्तिपूर्वक) उपभोग करता है, किन्तु दूसरा (परमात्मा) न खाता हुआ केवल देखता रहता है ।' इस वर्णनमें जीवात्माको कर्मफलका भोक्ता तथा परमात्माको केवल साक्षीरूपसे स्थित रहनेवाला बताया गया है । इससे दोनोंका भेद स्पष्ट है । अतः इस प्रकरणमें द्युलोक, पृथिवी आदि समस्त जड-चेतनात्मक जगत्का आधार परब्रह्म परमेश्वर ही सिद्ध होता है, जीवात्मा नहीं ।

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें यह बात कही गयी कि जिसे द्युलोक और पृथिवी आदिका आधार बताया गया है, उसीको 'आत्मा' कहा गया है; अतः वह परब्रह्म परमात्मा ही है, जीवात्मा नहीं । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि छान्दोग्योपनिषद्के सातवें अध्यायमें नारदजीके द्वारा आत्माका स्वरूप पूछे जानेपर सनत्कुमारजीने क्रमशः नाम, वाणी, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मरण और आशाको उत्तरोत्तर बड़ा बताया

है। फिर अन्तमें प्राणको इन सबकी अपेक्षा बड़ा बताकर उसीकी उपासना करनेके लिये कहा है। उसे सुनकर नारदजीने फिर कोई प्रश्न नहीं किया है। इस वर्णनके अनुसार यदि इस प्रकरणमें सबसे बड़ा प्राण है और उसीको 'भूमा' एवं आत्मा भी कहते हैं; तब तो पूर्व प्रकरणमें भी सबका आधार प्राणशब्दवाच्य जीवात्माको ही मानना चाहिये; इसका समाधान करनेके लिये आगेका प्रकरण आरम्भ किया जाता है--

भूमा संप्रसादादध्युपदेशात् ॥ १ । ३ । ८ ॥

भूमा=(उक्त प्रकरणमें कहा हुआ) 'भूमा' (सबसे बड़ा) ब्रह्म ही है; **संप्रसादात्**=क्योंकि उसे प्राणशब्दवाच्य जीवात्मासे भी; **अधि**=ऊपर (बड़ा); **उपदेशात्**=बताया गया है।

व्याख्या—उक्त प्रकरणमें नाम आदिके क्रमसे एककी अपेक्षा दूसरेको बड़ा बताते हुए पंद्रहवें खण्डमें प्राणको सबसे बड़ा बताकर कहा है—'यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वꣳ समर्पितम्। प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति। प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।' (छा० उ० ७। १५। १) अर्थात् 'जैसे अरे रथचक्रकी नाभिके आश्रित रहते हैं, उसी प्रकार समस्त जगत् प्राणके आश्रित है, प्राण ही प्राणके द्वारा गमन करता है, प्राण ही प्राण देता है, प्राणके लिये देता है, प्राण पिता है, प्राण माता है, प्राण भ्राता है, प्राण बहिन है, प्राण आचार्य है और प्राण ही ब्राह्मण है।' इससे यह मालूम होता है कि यहाँ प्राणके नामसे जीवात्माका वर्णन है, क्योंकि सूत्रकारने यहाँ उस प्राणका ही दूसरा नाम 'संप्रसाद' रक्खा है और संप्रसाद नाम जीवात्माका है, यह बात इसी उपनिषद् (छा० उ० ८। ३। ४) में स्पष्ट कही गयी है। इस प्राणशब्दवाच्य जीवात्माके विषयमें आगे चलकर यह भी कहा है कि 'यह सब कुछ प्राण ही है, इस प्रकार जो चिन्तन करनेवाला, देखनेवाला और जाननेवाला है, वह अतिवादी होता है।' इसलिये यहाँ यह धारणा होनी स्वाभाविक है कि इस प्रकरणमें प्राणशब्दवाच्य जीवात्माको ही सबसे बड़ा बताया गया है; क्योंकि इस उपदेशको सुनकर नारदजीने पुनः अपनी ओरसे कोई प्रश्न नहीं उठाया। मानो उन्हें अपने प्रश्नका पूरा उत्तर

मिल गया हो । परंतु भगवान् सनत्कुमार तो जानते थे कि इससे आगेकी बात समझाये बिना, इसका ज्ञान अधूरा ही रह जायगा, अतः उन्होंने नारदके बिना पूछे ही सत्य शब्दसे ब्रह्मका प्रकरण उठाया अर्थात् 'तु' शब्दका प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया कि 'वास्तविक अतिवादी तो वह है, जो सत्यको जानकर उसके बलपर प्रतिवाद करता है ।' इस कथनसे नारदके मनमें सत्य तत्त्वकी जिज्ञासा उत्पन्न करके उसे जाननेके साधनरूप विज्ञान, मनन, श्रद्धा, निष्ठा और क्रियाको बताया । फिर सुखरूपसे भूमाको अर्थात् सबसे महान् परब्रह्म परमात्माको बतलाकर प्रकरणका उपसंहार किया । इस प्रकार प्राण-शब्दवाच्य जीवात्मासे अधिक (बड़ा) भूमाको बताये जानेके कारण इस प्रकरणमें 'भूमा' शब्द सत्य ज्ञानानन्दस्वरूप सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है । प्राण, जीवात्मा अथवा प्रकृतिका वाचक नहीं ।

सम्बन्ध—*इतना ही नहीं, अपि तु*—

धर्मोपपत्तेश्च ॥ १ । ३ । ९ ॥

धर्मोपपत्तेः=(उक्त प्रकरणमें) जो भूमाके धर्म बतलाये गये हैं, वे भी ब्रह्ममें ही सुसंगत हो सकते हैं—इसलिये; **च**=भी; (यहाँ 'भूमा' ब्रह्म ही है)

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकरणमें उस भूमाके धर्मोंका इस प्रकार वर्णन किया गया है—'यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत् पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद् विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि ।' (छा० उ० ७ । २४ । १) अर्थात् "जहाँ पहुँचकर न अन्य किसीको देखता है, न अन्यको सुनता है, न अन्यको जानता है, वह भूमा है । जहाँ अन्यको देखता, सुनता और जानता है, वह अल्प है । जो भूमा है, वही अमृत है और जो अल्प है, वह नाशवान् है । इसपर नारदने पूछा—'भगवन् ! वह भूमा किसमें प्रतिष्ठित है ?' उत्तरमें सनत्कुमारने कहा—'अपनी महिमामें ।'" आगे चलकर फिर कहा है कि 'धन, सम्पत्ति, मकान आदि जो महिमाके नामसे प्रसिद्ध हैं, ऐसी महिमामें वह भूमा प्रतिष्ठित नहीं है; किन्तु वही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायें और बायें है; तथा वही यह सब कुछ है ।' इसके बाद उस भूमाको ही आत्माके नामसे कहा है और यह भी बताया है कि 'आत्मा ही नीचे, ऊपर, आगे, पीछे, दायें और बायें है तथा वही सब कुछ है । जो इस प्रकार देखने, मानने तथा

विशेष रूपसे जाननेवाला है, वह आत्मामें ही क्रीडा करनेवाला, आत्मामें ही रतिवाला, आत्मामें ही जुड़ा हुआ तथा आत्मामें ही आनन्दवाला है ।' इत्यादि । इन सब धर्मोंकी संगति परब्रह्म परमात्मामें ही लग सकती है, अतः वही इस प्रकरणमें 'भूमा'के नामसे कहा गया है ।

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें भूमाके जो धर्म बताये गये हैं, वे ही बृहदारण्यकोपनिषद् (३ । ८ । ७) में 'अक्षर' के भी धर्म कहे गये हैं । अक्षर शब्द प्रणवरूप वर्णको भी कहते हैं; अतः यहाँ 'अक्षर' शब्द किसका वाचक है ? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अक्षरमम्बरान्तधृतेः ॥ १ । ३ । १० ॥

अक्षरम्=(उक्त प्रकरणमें) अक्षर शब्द परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है; **अम्बरान्तधृतेः**=क्योंकि उसको आकाशपर्यन्त सम्पूर्ण जगत्को धारण करनेवाला बताया गया है ।

व्याख्या—यह प्रकरण इस प्रकार है—'स होवाच यदूर्ध्वं याज्ञवल्क्य दिवो यदवाक् पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद् भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षते कस्मिन् तदोतं च प्रोतं चेति ।' (३ । ८ । ६) गार्गीने याज्ञवल्क्यसे पूछा—'याज्ञवल्क्य ! जो द्युलोकसे भी ऊपर, पृथिवीसे भी नीचे और इन दोनोंके बीचमें भी है तथा जो यह पृथिवी और द्युलोक है, ये सब-के-सब एवं जिसको भूत, भविष्यत् और वर्तमान कहते हैं, वह काल किसमें ओतप्रोत है ?' इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा—'गार्गि ! यह सब आकाशमें ओतप्रोत है ।' इसपर गार्गीने पूछा—'वह आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' (३ । ८ । ७) तब याज्ञवल्क्यने कहा—'उस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्तालोग **'अक्षर'** कहते हैं ।' (३ । ८ । ८) इस प्रकार वह अक्षर आकाशपर्यन्त सबको धारण करनेवाला बताया गया है, इसलिये यहाँ 'अक्षर' नामसे उस परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन है, अन्य किसीका नहीं ।

सम्बन्ध—कारण अपने कार्यको धारण करता है, यह सभी मानते हैं । जिनके मतमें प्रकृति ही जगत्का कारण है, वे उसे ही आकाशपर्यन्त सभी भूतोंको धारण करनेवाली मान सकते हैं । अतः उनके मतके अनुसार यहाँ 'अक्षर'

शब्द प्रकृतिका ही वाचक हो सकता है । इस शङ्काका निवारण करनेके लिये कहते हैं—

सा च प्रशासनात् ॥ १ । ३ । ११ ॥

च=और, **सा**=वह आकाशपर्यन्त सब भूतोंको धारण करनारूप क्रिया, (परमेश्वरकी ही है); **प्रशासनात्**=क्योंकि उस अक्षरको सबपर भलीभाँति शासन करनेवाला कहा है ।

व्याख्या—इस प्रकरणमें आगे चलकर कहा है कि 'इसी अक्षरके प्रशासनमें द्युलोक, पृथिवी, निमेष, मुहूर्त, दिन-रात आदि नामोंसे कहा जानेवाला काल—ये सब विशेषरूपसे धारण किये हुए स्थित हैं । इसीके प्रशासनमें पूर्व और पश्चिमकी ओर बहनेवाली सब नदियाँ अपने-अपने निर्गम-स्थान पर्वतोंसे निकलकर बहती हैं ।' इत्यादि । (बृह० उ० ३ । ८ । ९) इस प्रकार उस अक्षरको सबपर भलीभाँति शासन करते हुए आकाशपर्यन्त सबको धारण करनेवाला बताया गया है । यह कार्य जड प्रकृतिका नहीं हो सकता । अतः वह सबको धारण करनेवाला अक्षरतत्त्व ब्रह्म ही है, अन्य कोई नहीं ।

सम्बन्ध—इसके सिवा—

अन्यभावव्यावृत्तेश्च ॥ १ । ३ । १२ ॥

अन्यभावव्यावृत्तेः—यहाँ अक्षरमें अन्य (प्रधान आदि) के लक्षणोंका निराकरण किया गया है, इसलिये; **च**=भी; 'अक्षर' शब्द ब्रह्मका ही वाचक है ।

व्याख्या—उक्त प्रसङ्गमें आगे चलकर कहा गया है—'वह अक्षर देखनेमें न आनेवाला, किन्तु स्वयं सबको देखनेवाला है, सुननेमें न आनेवाला, किन्तु स्वयं सुननेवाला है, मनन करनेमें न आनेवाला, किन्तु स्वयं मनन करनेवाला है; जाननेमें न आनेवाला, किन्तु स्वयं सबको भलीभाँति जाननेवाला है' इत्यादि । (बृह० उ० ३ । ८ । ११) इस प्रकार यहाँ उस अक्षरमें देखने, सुनने और जाननेमें आनेवाले प्रधान आदिके धर्मोंका निराकरण किया गया है;* इसलिये भी 'अक्षर' शब्द विनाशशील जड

---

* उपर्युक्त श्रुतिमें अक्षरको सर्वद्रष्टा बताकर उसमें प्रकृतिके जडत्व और जीवात्माके अल्पज्ञत्व आदि धर्मोंका निराकरण किया गया है ।

प्रकृतिका वाचक नहीं हो सकता । अतः यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'अक्षर' नामसे परब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकरणमें 'अक्षर' शब्दको परब्रह्मका वाचक सिद्ध किया गया । किन्तु प्रश्नोपनिषद् (५ । २—७) में ॐकार अक्षरको परब्रह्म और अपरब्रह्म दोनोंका प्रतीक बताया गया है । अतः वहाँ अक्षरको अपरब्रह्म भी माना जा सकता है, इस शङ्काकी निवृत्तिके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात् सः ॥ १ । ३ । १३ ॥

ईक्षतिकर्मव्यपदेशात्=यहाँ परम पुरुषको 'ईक्षते' क्रियाका कर्म बताये जानेके कारण; **सः**=वह परब्रह्म परमेश्वर ही (त्रिमात्रासम्पन्न 'ओम्' इस अक्षरके द्वारा चिन्तन करनेयोग्य बताया गया है) ।

व्याख्या—इस सूत्रमें जिस मन्त्रपर विचार चल रहा है, वह इस प्रकार है—

'यः पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये सम्पन्नः । यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात् परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते ।' (प्र० उ० ५ । ५) । अर्थात् 'जो तीन मात्राओंवाले 'ओम्' रूप इस अक्षरके द्वारा ही इस परम पुरुषका निरन्तर ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्यलोकमें जाता है । तथा जिस प्रकार सर्प केंचुलीसे अलग हो जाता है, ठीक उसी तरह, वह पापोंसे सर्वथा मुक्त हो जाता है । इसके बाद वह सामवेदकी श्रुतियोंद्वारा ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है । वह इस जीव-समुदायरूप परतत्त्वसे अत्यन्त श्रेष्ठ अन्तर्यामी परम पुरुष पुरुषोत्तमको साक्षात् कर लेता है ।' इस मन्त्रमें जिसको तीनों मात्राओंसे सम्पन्न ॐकारके द्वारा ध्येय बतलाया गया है, वह पूर्ण-ब्रह्म परमात्मा ही है, अपरब्रह्म नहीं; क्योंकि उस ध्येयको, जीव-समुदायके नामसे वर्णित हिरण्यगर्भरूप अपरब्रह्मसे अत्यन्त श्रेष्ठ बताकर 'ईक्षते' क्रियाका कर्म बतलाया गया है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकरणमें मनुष्यशरीररूप पुरमें शयन करनेवाले पुरुषको 'परब्रह्म परमात्मा सिद्ध किया गया है । किन्तु छान्दोग्योपनिषद् (८ । १ । १) में ब्रह्मपुरान्तर्गत दहर (सूक्ष्म) आकाशका वर्णन करके उसमें स्थित वस्तुको

जाननेके लिये कहा है । वह एकदेशीय वर्णन होनेके कारण जीवपरक हो सकता है । इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि उक्त प्रकरणमें 'दहर' नामसे कहा हुआ तत्त्व क्या है ? इसपर कहते हैं—

दहर उत्तरेभ्यः ॥ १ । ३ । १४ ॥

दहरः=उक्त प्रकरणमें 'दहर' शब्दसे जिस ज्ञेय तत्त्वका वर्णन किया गया है, वह ब्रह्म ही है; **उत्तरेभ्यः**=क्योंकि उसके पश्चात् आये हुए वचनोंसे यही सिद्ध होता है ।

व्याख्या—छान्दोग्य (८ । १ । १) में कहा है कि 'अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशस्तस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद् वाव विजिज्ञासितव्यम् ।' अर्थात् 'इस ब्रह्मके नगररूप मनुष्य-शरीरमें कमलके आकारवाला एक घर (हृदय) है, उसमें सूक्ष्म आकाश है । उसके भीतर जो वस्तु है, उसको जाननेकी इच्छा करनी चाहिये ।' इस वर्णनमें जिसे ज्ञातव्य बताया गया है, वह 'दहर' शब्दका लक्ष्य परब्रह्म परमेश्वर ही है; क्योंकि आगेके वर्णनमें इसीके भीतर समस्त ब्रह्माण्डको निहित बताया है तथा उसके विषयमें यह भी कहा है कि 'यह आत्मा, सब पापोंसे रहित, जरामरणवर्जित, शोकशून्य, भूख-प्याससे रहित, सत्यकाम तथा सत्यसंकल्प है । इत्यादि (८ । १ । ५) । तदनन्तर आगे चलकर (छा० उ० ८ । ३ । ४ में) कहा है कि 'यही आत्मा, अमृत, अभय और ब्रह्म है । इसीका नाम सत्य है ।' इससे यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'दहर' शब्द परब्रह्मका ही बोधक है ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातको सिद्ध करते हैं—

गतिशब्दाभ्यां तथा दृष्टं लिङ्गं च ॥ १ । ३ । १५ ॥

गतिशब्दाभ्याम्=ब्रह्ममें गतिका वर्णन और ब्रह्मवाचक शब्द होनेसे; **तथा दृष्टम्**=एवं दूसरी श्रुतियोंमें ऐसा ही वर्णन देखा गया है; **च**=और; **लिङ्गम्**=इस वर्णनमें आये हुए लक्षण भी ब्रह्मके हैं; इसलिये यहाँ 'दहर' नामसे ब्रह्मका ही वर्णन हुआ है ।

व्याख्या—इस प्रसङ्गमें यह बात कही गयी है कि—'इमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्यूढाः ॥ (छा० उ० ८ ।

३ । २) अर्थात् 'ये जीव-समुदाय प्रतिदिन सुषुप्तिकालमें इस ब्रह्मलोकको जाते हैं, परन्तु असत्यसे आवृत रहनेके कारण उसे जानते नहीं हैं ।' इस वाक्यमें प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें जानेके लिये कहना, तो गतिका वर्णन है और उस 'दहर'को ब्रह्मलोक कहना उसका वाचक शब्द है । इन दोनों कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि यहाँ 'दहर' शब्द ब्रह्मका ही बोधक है ।

इसके सिवा दूसरी जगह (६ । ८ । १ में) भी ऐसा ही वर्णन पाया जाता है-—यथा—'सता सोम्य तदा सम्पन्नो भवति ।' अर्थात् 'हे सोम्य ! उस सुषुप्त-अवस्थामें जीव 'सत्' नामसे कहे जानेवाले परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होता है ।' इत्यादि । तथा आगे बताये गये अमृत, अभय आदि लक्षण भी ब्रह्ममें ही सुसंगत होते हैं । इन दोनों कारणोंसे भी यही सिद्ध होता है कि यहाँ 'दहर' नामसे परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बातकी सिद्धिके लिये दूसरा कारण बताते हैं—

धृतेश्च महिम्नोऽस्यास्मिन्नुपलब्धेः ॥ १ । ३ । १६ ॥

धृतेः=इस 'दहर' में समस्त लोकोंको धारण करनेकी शक्ति बतायी जानेके कारण; **च**=भी; (यह परब्रह्मका ही वाचक है) क्योंकि **अस्य**=इसकी; **महिम्नः**=(समस्त लोकोंको धारण करनेकी सामर्थ्यरूप) महिमाका; **अस्मिन्**=इस परब्रह्म परमात्मामें होना; **उपलब्धेः**=अन्य श्रुतियोंमें भी पाया जाता है, इसलिये ('दहर' नामसे ब्रह्मका वर्णन मानना सर्वथा उचित है) ।

*व्याख्या—*छान्दोग्य (८ । ४ । १) में कहा गया है कि 'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानाम् ।' अर्थात् 'यह जो आत्मा है, वही इन सब लोकोंको धारण करनेवाला सेतु है ।' इस प्रकार यहाँ उस 'दहर' शब्दवाच्य आत्मामें समस्त लोकोंको धारण करनेकी शक्तिका वर्णन होनेके कारण 'दहर' यहाँ परमात्माका ही वाचक है; क्योंकि दूसरी श्रुतियोंमें भी परमेश्वरमें ऐसी महिमा होनेका वर्णन इस प्रकार उपलब्ध होता है—'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः ।' (बृह० उ० ३ । ८ । ९) अर्थात् 'हे गार्गि ! 'इस अक्षर' परमात्माके ही शासनमें रहकर सूर्य और चन्द्रमा भलीभाँति धारण किये हुए स्थित

हैं।'इत्यादि। इसके सिवा यह भी कहा है कि 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपाल एष सेतुर्विधरण एषां लोकानामसंभेदाय।' (बृह० उ० ४ । ४ । २२) अर्थात् 'यह सबका ईश्वर है, यह सम्पूर्ण प्राणियोंका स्वामी है, यह सब भूतोंका पालन-पोषण करनेवाला है तथा यह इन समस्त लोकोंको विनाशसे बचानेके लिये उनको धारण करनेवाला सेतु है ।' परब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कोई भी इन सम्पूर्ण लोकोंको धारण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता; इसलिये यहाँ 'दहर' नामसे परब्रह्म परमेश्वरका ही वर्णन है ।

सम्बन्ध—अब दूसरा हेतु देकर उसी बातकी पुष्टि करते हैं—

प्रसिद्धेश्च ॥ १ । ३ । १७ ॥

प्रसिद्धेः=आकाश शब्द परमात्माके अर्थमें प्रसिद्ध है । इस कारण; **च**= भी ('दहर' नाम परब्रह्मका ही है) ।

व्याख्या—श्रुतिमें 'दहराकाश' नाम आया है । आकाश शब्द परमात्माके अर्थमें प्रसिद्ध है । यथा—को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात् ।' (तै० उ० २ । ७ । १) अर्थात् 'यदि यह आनन्दस्वरूप आकाश सबको (अवकाश देनेवाला परमात्मा) न होता तो कौन जीवित रह सकता ? कौन प्राणोंकी क्रिया कर सकता ?' तथा—'सर्वाणि ह वा इमानि भूतान्याकाशादेव समुत्पद्यन्ते ।' (छा० उ० १ । ९ । १) । अर्थात् 'निश्चय ही ये सब प्राणी आकाशसे ही उत्पन्न होते हैं ।' इसलिये भी 'दहर' शब्द परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है ।

सम्बन्ध—अब 'दहर' शब्दसे जीवात्माका ग्रहण क्यों न किया जाय—यह शङ्का उठाकर समाधान करते हैं—

इतरपरामर्शात् स इति चेन्नासंभवात् ॥ १ । ३ । १८ ॥

चेत्=यदि कहो; **इतरपरामर्शात्**=दूसरे अर्थात् जीवात्माका सङ्केत होनेके कारण; **सः**=वही 'दहर' नामसे कहा गया है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **असंभवात्**=क्योंकि वहाँ कहे हुए लक्षण जीवात्मामें सम्भव नहीं हैं ।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (८ । १ । ५) में इस प्रकार वर्णन आया है—

'स ब्रूयान्नास्य जरयैतज्जीर्यति न वधेनास्य हन्यत एतत्सत्यं ब्रह्मपुरमस्मिन्

कामाः समाहिता एष आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पो यथा ह्येवेह प्रजा अन्वाविशन्ति यथानुशासनं यं यमन्तमभिकामा भवन्ति यं जनपदं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति ।'

अर्थात् '(शिष्योंके पूछनेपर) आचार्य इस प्रकार कहे कि 'इस (देह) की जरावस्थासे यह जीर्ण नहीं होता, इसके वधसे इसका नाश नहीं होता । यह ब्रह्मपुर सत्य है । इसमें संपूर्ण कामनाएँ सम्यक् प्रकारसे स्थित हैं । यह आत्मा पुण्य-पापसे रहित, जरा-मृत्युसे शून्य, शोकहीन, भूख-प्याससे रहित, सत्यकाम तथा सत्यसङ्कल्प है । जैसे इस लोकमें प्रजा यदि राजाकी आज्ञाका अनुसरण करती है तो वह जिस-जिस वस्तुको कामना तथा जिस-जिस जनपद एवं क्षेत्रभागकी अभिलाषा करती है, उसी-उसीको पाकर सुखपूर्वक जीवन धारण करती है ।' इस मन्त्रके अनुसार 'देहकी जरावस्थासे यह जीर्ण नहीं होता और इसके वधसे इसका नाश नहीं होता'—इस कथनसे जीवात्माको लक्ष्य करानेवाला संकेत मिलता है । क्योंकि इसके आगेवाले मन्त्रमें कर्मफलकी अनित्यता बतायी गयी है, और कर्मफल-भोगका सम्बन्ध जीवात्मासे ही है । इस प्रकार जीवात्माको लक्ष्य करानेवाला संकेत होनेके कारण यहाँ 'दहर' नामसे 'जीवात्मा'का ही प्रतिपादन है, ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि पूर्वोक्त मन्त्रमें ही जो 'सत्यसङ्कल्प' आदि लक्षण बताये गये हैं, वे जीवात्मामें होने सम्भव नहीं हैं, इसलिये यहाँ 'दहर' शब्दसे परब्रह्म परमात्माका ही वर्णन हुआ है, ऐसा मानना सर्वथा उचित है ।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त मतकी ही पुष्टिके लिये पुनः शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हैं—

उत्तराच्चेदाविर्भूतस्वरूपस्तु ॥ १ । ३ । १९ ॥

चेत्=यदि कहो; **उत्तरात्**=उसके बादवाले वर्णनसे भी 'दहर' शब्द जीवात्माका ही बोधक सिद्ध होता है; **तु**=तो यह कथन ठीक नहीं है; (क्योंकि) **आविर्भूतस्वरूपः**=उस मन्त्रमें जिसका वर्णन है, वह अपने शुद्धस्वरूपको प्राप्त हुआ आत्मा है ।

व्याख्या—"छान्दोग्योपनिषद् (८ । ३ । ४) में कहा है कि 'अथ य एष संप्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यत

एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति तस्य ह वा एतस्य ब्रह्मणो नाम सत्यम् ।' अर्थात् 'यह जो संप्रसाद है, वह इस शरीरसे निकलकर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने शुद्ध स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है । यह आत्मा है, यह अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है—ऐसा आचार्यने कहा । उस इस ब्रह्मका नाम सत्य है ।' इस मन्त्रमें 'संप्रसाद'के नामसे स्पष्ट ही जीवात्माका वर्णन है और उसके लिये भी वे ही अमृत, अभय आदि विशेषण दिये गये हैं, जो अन्यत्र ब्रह्मके लिये आते हैं; इसलिये इन लक्षणोंका जीवात्मामें होना असंभव नहीं है, अतएव 'दहर' शब्दको 'जीवात्मा'का वाचक माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये ।" ऐसी शङ्का उठायी जाय तो ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त मन्त्रमें अपने शुद्ध स्वरूपको प्राप्त हुए जीवात्माके लिये वैसे विशेषण आये हैं । इसलिये उसके आधारपर 'दहर' शब्दको जीवात्माका वाचक नहीं माना जा सकता ।

सम्बन्ध—यदि ऐसी बात है, तो उक्त प्रकरणमें जीवात्माको लक्ष्य करानेवाले शब्दोंका प्रयोग क्यों किया गया है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

अन्यार्थश्च परामर्शः ॥ १ । ३ । २० ॥

परामर्शः=(उक्त प्रकरणमें) जीवात्माको लक्ष्य करानेवाला संकेत; **च**=भी; **अन्यार्थः**=दूसरे ही प्रयोजनके लिये है ।

व्याख्या—पूर्वोक्त प्रकरणमें जो जीवात्माको लक्ष्य करानेवाले शब्दोंका प्रयोग हुआ है, वह 'दहर' शब्दसे जीवात्माका ग्रहण करानेके लिये नहीं, अपितु दूसरे ही प्रयोजनसे है । अर्थात् उस दहर शब्दवाच्य परमात्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान हो जानेपर जीवात्मा भी वैसे ही गुणोंवाला बन जाता है, यह भाव प्रदर्शित करनेके लिये ही वहाँ जीवात्माका उस रूपमें वर्णन है । परब्रह्मका ज्ञान हो जानेपर बहुत-से दिव्य गुण जीवात्मामें आ जाते हैं, यह बात भगवद्गीतामें भी कही गयी है (१४ । २) । इसलिये उक्त प्रकरणमें जीवात्माका वर्णन आ जानेमात्रसे यह नहीं सिद्ध होता कि वहाँ 'दहर' शब्द जीवात्माका वाचक है ।

सम्बन्ध—इसी बातकी सिद्धिके लिये सूत्रकार पुनः शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हैं—

अल्पश्रुतेरिति चेत्तदुक्तम् ॥ १ । ३ । २१ ॥

चेत्=यदि कहो; **अल्पश्रुतेः**=श्रुतिमें 'दहर'को बहुत छोटा बताया गया

है, इसलिये; ('दहर' शब्दसे यहाँ जीवात्माका ही ग्रहण है) **इति**=ऐसा मानना चाहिये; **तदुक्तम्**=तो इसका उत्तर दिया जा चुका है ।

व्याख्या—"श्रुतिमें दहराकाशको अत्यन्त अल्प (लघु) बताया गया है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह जीवात्मा है; क्योंकि उसीका स्वरूप 'अणु' माना गया है ।" परन्तु ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि, इसका उत्तर पहले (सूत्र १ । २ । ७ में) दिया जा चुका है । अतः बारम्बार उसीको दुहरानेकी आवश्यकता नहीं है ।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें उठायी हुई शङ्काका उत्तर प्रकारान्तरसे दिया जाता है—

अनुकृतेस्तस्य च ॥ १ । ३ । २२ ॥

तस्य=उस जीवात्माका; **अनुकृतेः**=अनुकरण करनेके कारण; **च**=भी; (परमात्माको अल्प परिमाणवाला कहना उचित है) ।

व्याख्या—मनुष्यके हृदयका माप अङ्गुष्ठके बराबर माना गया है; उसीमें जीवात्माके साथ परमात्माके प्रविष्ट होनेकी बात श्रुतिमें इस प्रकार बतायी गयी है— 'ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्धे ।' (क० उ० १ । ३ । १) अर्थात् 'शुभ कर्मोंके फलरूप मनुष्य-शरीरमें परब्रह्मके निवास-स्थानरूप हृदयाकाशके अन्तर्गत बुद्धिरूप गुहामें छिपे हुए सत्यका पान करनेवाले दो (जीवात्मा और परमात्मा) हैं ।' 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् ।' (तै० उ० २ । ६) 'परमात्मा उस जड-चेतनात्मक संपूर्ण जगत्‌की रचना करके स्वयं भी जीवात्माके साथ उसमें प्रविष्ट हो गया ।' तथा—'सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।' (छा० उ० ६ । ३ । ३) 'उस परमात्माने त्रिविध तत्त्वरूप देवता अर्थात् उनके कार्यरूप मनुष्य-शरीरमें जीवात्माके सहित प्रविष्ट होकर नाम-रूपका विस्तार किया ।' इत्यादि । इस प्रकार उस परमात्माको जीवात्माका अनुकरण करनेवाला बताया जानेके कारण भी उसे अल्प परिमाणवाला कहना सर्वथा उचित ही है । इसी भावको लेकर वेदोंमें जगह-जगह परमात्माका स्वरूप 'अणोरणीयान्'—छोटे-से-छोटा तथा 'महतो महीयान्'—बड़े-से-बड़ा बताया गया है ।

सम्बन्ध—इस विषयमें स्मृतिका भी प्रमाण देते हैं—

अपि च स्मर्यते ॥ १ । ३ । २३ ॥

च=इसके सिवा; **स्मर्यते अपि**=यही बात स्मृतिमें भी कही गयी है।

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वर सबके हृदयमें स्थित है और वह छोटे-से भी छोटा है—ऐसा वर्णन स्मृतियोंमें इस प्रकार आया है—'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टः।' (गीता १५।१५)। 'हृदि सर्वस्य विष्ठितम्।' (गीता १३।१७)। 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।' (गीता १८।६१)। 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।' (गीता १३।१६)। 'अणोरणीयांसम्।' (गीता ८।९) इत्यादि। ऐसा वर्णन होनेके कारण उस सर्वव्यापी परब्रह्म परमेश्वरको स्थानकी अपेक्षासे छोटे आकारवाला कहना उचित ही है। अतः 'दहर' शब्दसे परब्रह्म परमेश्वरका ही वर्णन है, जीवात्माका नहीं।

सम्बन्ध—उपर्युक्त विवेचन पढ़कर यह जिज्ञासा होती है कि कठोपनिषद् (२।१।१२, १३ तथा २।३।१७) में जिसे अङ्गुष्ठके बराबर बताया गया है, वह जीवात्मा है या परमात्मा ? अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

शब्दादेव प्रमितः ॥ १ । ३ । २४ ॥

शब्दात्=(उक्त प्रकरणमें आये हुए) शब्दसे; **एव**=ही; (यह सिद्ध होता है कि) **प्रमितः**=अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला पुरुष (परमात्मा ही है)।

व्याख्या—कठोपनिषद्में कहा है कि 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति।' (२।१।१२) तथा 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः। ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः॥' (२।१।१३)। अर्थात् 'अङ्गुष्ठके बराबर मापवाला परम पुरुष शरीरके मध्यभाग (हृदय) में स्थित है।' तथा अङ्गुष्ठके बराबर मापवाला परम पुरुष धूमरहित ज्योतिकी भाँति एकरस है, वह भूत, वर्तमान और भविष्यपर शासन करनेवाला है। वह आज भी है और कल भी रहेगा; अर्थात् वह नित्य सनातन है।' इस प्रकरणमें जिसे अङ्गुष्ठके बराबर मापवाला पुरुष बताया गया है, वह परब्रह्म परमात्मा ही है; यह बात उन्हीं मन्त्रोंमें कहे हुए शब्दोंसे सिद्ध होती है। क्योंकि वहाँ उस पुरुषको भूत, वर्तमान और भविष्यमें होनेवाली समस्त प्रजाका शासक, धूमरहित अग्निके सदृश एकरस और सदा रहनेवाला बताया गया है तथा आगे चलकर उसीको विशुद्ध अमृतस्वरूप जाननेके लिये कहा गया है (२।३।१७)।

सम्बन्ध—अब यह जिज्ञासा होती है कि उस परब्रह्म परमात्माको अङ्गुष्ठके बराबर मापवाला क्यों बताया गया है ? इसपर कहते हैं—

हृद्यपेक्षया तु मनुष्याधिकारत्वात् ॥ १ । ३ । २५ ॥

तु=उस परमपुरुषको अङ्गुष्ठके बराबर मापवाला कहना तो; **हृदि**=हृदयमें स्थित बताये जानेकी; **अपेक्षया**=अपेक्षासे है; **मनुष्याधिकारत्वात्**=क्योंकि (ब्रह्मविद्यामें) मनुष्यका ही अधिकार है ।

व्याख्या—उपनिषदोंमें वर्णित ब्रह्मविद्याके द्वारा ब्रह्मको जाननेका अधिकार मनुष्यको ही है । अन्य पशु-पक्षी आदि अधम योनियोंमें यह जीवात्मा उस परब्रह्म परमात्माको नहीं जान सकता और मनुष्यके हृदयका माप अङ्गुष्ठके बराबर माना गया है; इस कारण यहाँ मनुष्य-हृदयके मापकी अपेक्षासे उस परब्रह्म परमेश्वरको 'अङ्गुष्ठमात्र पुरुष' कहा गया है ।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें अधिकारकी बात आ जानेसे प्रसङ्गवश दूसरा प्रकरण चल पड़ा । पहले यह बताया गया है कि वेदाध्ययनपूर्वक ब्रह्मविद्याके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त करनेका अधिकार मनुष्योंका ही है । इसपर यह जिज्ञासा होती है कि क्या मनुष्यको छोड़कर अन्य किसीका भी अधिकार नहीं है ? इसपर कहते हैं—

तदुपर्यपि बादरायणः संभवात् ॥ १ । ३ । २६ ॥

बादरायणः=आचार्य बादरायण कहते हैं कि; **तदुपरि**=मनुष्यसे ऊपर जो देवता आदि हैं, उनका; **अपि**=भी (अधिकार है); **संभवात्**=क्योंकि उन्हें वेद-ज्ञानपूर्वक ब्रह्मज्ञान होना संभव है ।

व्याख्या—मनुष्यसे नीचेकी योनियोंमें तो वेदविद्याको पढ़ने तथा उसके द्वारा परमात्म-ज्ञान प्राप्त करनेकी सामर्थ्य ही नहीं है, इसलिये उनका अधिकार न बतलाना तो उचित ही है । परन्तु देवादि योनि मनुष्ययोनिसे ऊपर है । जो मनुष्य धर्म तथा ज्ञानमें श्रेष्ठ होते हैं, उन्हींको देवादि योनि प्राप्त होती है । अतः उनमें पूर्वजन्मके अभ्याससे ब्रह्मविद्याको जाननेकी सामर्थ्य होती ही है । अतएव साधन करनेपर उन्हें ब्रह्मका ज्ञान होना संभव है । इसलिये भगवान् बादरायणका कहना है कि मनुष्योंसे ऊपरवाली योनियोंमें भी ब्रह्मज्ञान प्राप्त करनेका अधिकार है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बातकी सिद्धिके लिये ही सूत्रकार स्वयं शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हैं—

विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात् ॥ १ । ३ । २७ ॥

चेत्=यदि कहो (देवता आदिको शरीरधारी मान लेनेसे); **कर्मणि**=यज्ञादि कर्ममें; **विरोधः**=विरोध आता है; **इति न**=तो यह कथन ठीक नहीं है; **अनेकप्रतिपत्तेः**=क्योंकि उनके द्वारा एक ही समय अनेक रूप धारण करना संभव है; **दर्शनात्**=शास्त्रमें ऐसा देखा गया है ।

व्याख्या—"यदि देवता आदिको भी मनुष्योंके समान विशेष आकृतियुक्त या शरीरधारी मान लिया जायगा तो वे एक देशमें ही रहनेवाले माने जा सकते हैं। ऐसी दशामें एक ही समय अनेक यज्ञोंमें उनके निमित्त दी जानेवाली हविष्यकी आहुतिको वे कैसे ग्रहण कर सकते हैं । अतः पृथक्-पृथक् अनेक याज्ञिकोंद्वारा एक समय यज्ञादि कर्ममें जो उनके लिये हवि समर्पित करनेका विधान है, उसमें विरोध आवेगा । इस विरोधकी निवृत्ति तभी हो सकती है, जब देवताओंको एकदेशीय न मानकर व्यापक माना जाय ।' परन्तु ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि देवोंमें अनेक विग्रह धारण करनेकी सहज शक्ति होती है । अतः वे योगीकी भाँति एक ही कालमें अनेक शरीर धारण करके अनेक स्थानोंमें एक साथ उनके लिये समर्पित की हुई हविको ग्रहण कर सकते हैं । शास्त्रमें भी देवताओंके सम्बन्धमें ऐसा वर्णन देखा जाता है । बृहदारण्यकोपनिषद् (३ । ९ । १–२) में एक प्रसङ्ग आता है, जिसमें शाकल्य तथा याज्ञवल्क्यका संवाद है । शाकल्यने पूछा—'देवता कितने हैं ?' याज्ञवल्क्य बोले—'तीन और तीन सौ तथा तीन और तीन सहस्र ।' फिर प्रश्न हुआ 'कितने देवता हैं ?' उत्तर मिला—'तैंतीस ।' बार-बार प्रश्नोत्तर होनेपर अन्तमें याज्ञवल्क्यने कहा—'ये सब तो इनकी महिमा हैं अर्थात् ये एक-एक ही अनेक हो जाते हैं । वास्तवमें देवता तैंतीस ही हैं ।' इत्यादि । इस प्रकार श्रुतिने देवताओंमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्तिका वर्णन किया है । योगियोंमें भी ऐसी शक्ति देखी जाती है; इसलिये कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—देवताओंको शरीरधारी माननेसे उन्हें विनाशशील मानना पड़ेगा; ऐसी दशामें वेदोंमें जिन-जिन देवताओंका वर्णन आता है, उनकी नित्यता नहीं

सिद्ध होगी और इसीलिये वेदको भी नित्य एवं प्रमाणभूत नहीं माना जा सकेगा; इस विरोधका परिहार कैसे हो ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

शब्द इति चेन्नातः प्रभवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ १ । ३ । २८ ॥

चेत्=यदि कहो; **शब्दे**=(देवताको शरीरधारी माननेपर) वैदिक शब्दमें विरोध आता है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **अतः प्रभवात्**=क्योंकि इस वेदोक्त शब्दसे ही देवता आदि जगत्‌की उत्पत्ति होती है; **प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**=यह बात प्रत्यक्ष (वेद) और अनुमान (स्मृति) दोनों प्रमाणोंसे सिद्ध होती है ।

व्याख्या—"देवताओंमें अनेक शरीर धारण करनेकी शक्ति मान लेनेसे कर्ममें विरोध नहीं आता, यह तो ठीक है; परन्तु ऐसा माननेसे जो वेदोक्त शब्दोंको नित्य एवं प्रमाणभूत माना जाता है, उसमें विरोध आवेगा; क्योंकि शरीरधारी होनेपर देवताओंको भी जन्म-मरणशील मानना पड़ेगा । ऐसी दशामें वे नित्य नहीं होंगे तथा नित्य वैदिक शब्दोंके साथ उनके नाम-रूपोंका नित्य सम्बन्ध भी नहीं रह सकेगा ।" ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि जहाँ कल्पके आदिमें देवादिकी उत्पत्तिका वर्णन आता है, वहाँ यह बताया गया है कि 'किस रूप और ऐश्वर्यवाले देवताका क्या नाम होगा ।' इस प्रकार वेदोक्त शब्दसे ही उनके नाम, रूप और ऐश्वर्य आदिकी कल्पना की जाती है अर्थात् पूर्वकल्पमें जितने देवता, जिस-जिस नाम, रूप तथा ऐश्वर्यवाले थे, वर्तमान कल्पमें भी उतने ही देवता वैसे ही नाम, रूप और ऐश्वर्यसे युक्त उत्पन्न किये जाते हैं । इससे यह ज्ञात होता है कि कल्पान्तरमें देवता आदिके जीव तो बदल जाते हैं, परन्तु नाम-रूप पूर्वकल्पके अनुसार ही रहते हैं । यह बात प्रत्यक्ष (श्रुति) और अनुमान (स्मृति) के प्रमाणसे भी सिद्ध है । श्रुतियों और स्मृतियोंमें उपर्युक्त बातका वर्णन इस प्रकार आता है—'स भूरिति व्याहरत् स भूमिमसृजत' 'स भुवरिति व्याहरत् सोऽन्तरिक्षमसृजत ।' (तै० ब्रा० २ । २ । ४ । २) 'उसने मन-ही-मन 'भूः' का उच्चारण किया, फिर भूमिकी सृष्टि की ।' 'उसने मनमें 'भुवः' का उच्चारण किया, फिर अन्तरिक्षकी सृष्टि की ।' इत्यादि । इस वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि प्रजापतिने पहले वाचक शब्दका स्मरण करके उसके अर्थभूत स्वरूपका निर्माण किया । इसी प्रकार स्मृतिमें भी कहा है—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥

(मनु० १ । २१)

'उन सृष्टिकर्ता परमात्माने पहले सृष्टिके प्रारम्भमें सबके नाम और पृथक्-पृथक् कर्म तथा उन सबकी अलग-अलग व्यवस्थाएँ भी वेदोक्त शब्दोंके अनुसार ही बनायीं ।'

सम्बन्ध--उपर्युक्त कथनको ही वेदकी नित्यतामें हेतु बतलाते हैं--

अतएव च नित्यत्वम् ॥ १ । ३ । २९ ॥

अतएव=इसीसे; **नित्यत्वम्**=वेदकी नित्यता; **च**=भी; (सिद्ध होती है)।

व्याख्या--सृष्टिकर्ता परमेश्वर वैदिक शब्दोंके अनुसार ही समस्त जगत्‌की रचना करते हैं, यह कहा गया है । इससे वेदोंकी नित्यता स्वतः सिद्ध हो जाती है; क्योंकि प्रत्येक कल्पमें परमेश्वरद्वारा वेदोंकी भी नयी रचना की जाती है; यह बात कहीं नहीं कही गयी है ।

सम्बन्ध--प्रत्येक कल्पमें देवताओंके नाम-रूप बदल जानेके कारण वेदोक्त शब्दोंकी नित्यतामें विरोध कैसे नहीं आयेगा ? इस जिज्ञासापर कहते हैं--

समाननामरूपत्वाच्चावृत्तावप्यविरोधो दर्शनात् स्मृतेश्च ॥ १ । ३ । ३० ॥

च=तथा; **समाननामरूपत्वात्**=(कल्पान्तरमें उत्पन्न होनेवाले देवादिकोंके) नाम-रूप पहलेके ही समान होते हैं, इस कारण; **आवृत्तौ**=पुनः आवृत्ति होनेपर; **अपि**=भी; **अविरोधः**=किसी प्रकारका विरोध नहीं है; **दर्शनात्**=क्योंकि (श्रुतिमें) ऐसा ही वर्णन देखा गया है; **च**=और; **स्मृतेः**=स्मृतिसे भी (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या--वेदमें यह कहा गया है कि 'सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत् ।' (ऋ० १० । १९० । ३) अर्थात् 'जगत्-स्रष्टा परमेश्वरने सूर्य, चन्द्रमा आदि सबको पहलेकी भाँति बनाया ।' श्वेताश्वतरोपनिषद् (६ । १८) में इस प्रकार वर्णन आता है--

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाꣳश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ॥

'जो परमेश्वर निश्चय ही, सृष्टिकालमें सबसे पहले ब्रह्माको उत्पन्न करता है और उन्हें समस्त वेदोंका उपदेश देता है, उस आत्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं मुमुक्षुभावसे शरण ग्रहण करता हूँ।' इसी प्रकार स्मृतिमें भी कहा गया है कि—

तेषां ये यानि कर्माणि प्राक्सृष्ट्यां प्रतिपेदिरे।
तान्येव ते प्रपद्यन्ते सृज्यमानाः पुनः पुनः॥ (महा०)

'पूर्वकल्पकी सृष्टिमें जिन्होंने जिन कर्मोंको अपनाया था, बादकी सृष्टिमें बारंबार रचे हुए वे प्राणी फिर उन्हीं कर्मोंको प्राप्त होते हैं।'

इस प्रकार श्रुतियों तथा स्मृतियोंके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि कल्पान्तर-में उत्पन्न होनेवाले देवादिकोंके नाम, रूप पहलेके सदृश ही वेद-वचनानुसार रचे जाते हैं; इसलिये उनको बार-बार आवृत्ति होती रहनेपर भी वेदकी नित्यता तथा प्रामाणिकतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं आता है।

सम्बन्ध—२६ वें सूत्रमें जो प्रसङ्गवश यह बात कही गयी थी कि ब्रह्म-विद्यामें देवादिका भी अधिकार है, ऐसा वेदव्यासजी मानते हैं; उसीकी पुष्टि तीसवें सूत्रतक की गयी। अब आचार्य जैमिनिके मतानुसार यह बात कही जाती है कि ब्रह्मविद्यामें देवता आदिका अधिकार नहीं है—

मध्वादिष्वसंभवादनधिकारं जैमिनिः॥ १। ३। ३१॥

जैमिनिः=जैमिनि नामक आचार्य; **मध्वादिषु**=मधु-विद्या आदिमें; **अनधिकारम् (आह)**=देवता आदिका अधिकार नहीं बताते हैं; **असंभवात्**=क्योंकि यह संभव नहीं है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्के तीसरे अध्यायमें प्रथमसे लेकर ग्यारहवें खण्डतक मधुविद्याका प्रकरण है। वहाँ 'सूर्य' को देवताओंका 'मधु' बताया गया है। मनुष्योंके लिये साधनद्वारा प्राप्त होनेवाली वस्तु देवताओंको स्वतः प्राप्त है, इस कारण देवताओंके लिये मधु-विद्या अनावश्यक है; अतः उस विद्यामें उनका अधिकार मानना सम्भव नहीं है। इसी प्रकार स्वर्गादि देवलोकके भोगोंकी प्राप्तिके लिये जो वेदोंमें यज्ञादिके द्वारा देवताओंकी सकाम उपासनाका वर्णन है, उसका अनुष्ठान भी देवताओंके लिये अनावश्यक होनेके कारण उनके द्वारा किया जाना सम्भव नहीं है। अतएव उसमें भी उनका अधिकार नहीं है,

इसलिये यह सिद्ध होता है कि जैसे मनुष्योंके लिये यज्ञादि कर्मद्वारा स्वर्गादिकी प्राप्ति करानेवाली वेदवर्णित विद्याओंमें देवताओंका अधिकार नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्यामें भी उनका अधिकार नहीं है। यों आचार्य जैमिनि कहते हैं।

सम्बन्ध—इसी बातको पुष्ट करनेके लिये आचार्य जैमिनि दूसरी युक्ति देते हैं—

ज्योतिषि भावाच्च ॥ १ । ३ । ३२ ॥

ज्योतिषि=ज्योतिर्मय लोकोंमें; **भावात्**=देवताओंकी स्थिति होनेके कारण; **च**=भी; (उनका यज्ञादि कर्म और ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है)।

व्याख्या—वे देवता स्वभावसे ही ज्योतिर्मय देवलोकोंमें निवास करते हैं, वहाँ उन्हें स्वभावसे ही सब प्रकारका ऐश्वर्य प्राप्त है, नये कर्मोंद्वारा उनको किसी प्रकारका नूतन ऐश्वर्य नहीं प्राप्त करना है; अतएव उन सब लोकोंकी प्राप्तिके लिये बताये हुए कर्मोंमें उनकी प्रवृत्ति सम्भव नहीं है; इसलिये जिस प्रकार वेदविहित अन्य विद्याओंमें उनका अधिकार नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मविद्यामें भी नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त दो सूत्रोंमें जैमिनिके मतानुसार पूर्वपक्षकी स्थापना की गयी। अब उसके उत्तरमें सूत्रकार अपना निश्चित मत बतलाकर देवताओंके अधिकारविषयक प्रकरणको समाप्त करते हैं—

भावं तु बादरायणोऽस्ति हि ॥ १ । ३ । ३३ ॥

तु=किन्तु; **बादरायणः**=बादरायण आचार्य (यज्ञादि कर्म तथा ब्रह्म-विद्यामें) देवता आदिके भी अधिकारका; **भावम् (मन्यते)**=भाव (अस्तित्व) मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **अस्ति**=श्रुतिमें (उनके अधिकारका) वर्णन है।

व्याख्या—बादरायण आचार्य अपने मतका दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन करते हुए 'तु' इस अव्यय पदके द्वारा यह सूचित करते हैं कि पूर्वपक्षीका मत शब्द-प्रमाणसे रहित होनेके कारण मान्य नहीं है। निश्चय ही यज्ञादि कर्म तथा ब्रह्म-विद्यामें देवताओंका भी अधिकार है; क्योंकि वेदमें उनका यह अधिकार सूचित करनेवाले वचन मिलते हैं। जैसे—'प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति स एतदग्नि-

होत्रं मिथुनमपश्यत् । तदुदिते सूर्येऽजुहोत् ।' (तै० ब्रा० २ । १ । २ । ८) तथा 'देवा वै सत्रमासत ।' (तै० सं० २ । ३ । ३) अर्थात् 'प्रजापतिने इच्छा की कि मैं प्रजारूपसे उत्पन्न होऊँ' उन्होंने अग्निहोत्ररूप मिथुनपर दृष्टिपात किया और सूर्योदय होनेपर उसका हवन किया ।' तथा 'निश्चय ही देवताओंने यज्ञका अनुष्ठान किया ।' इत्यादि वचनोंद्वारा देवताओंका कर्माधिकार सूचित होता है । इसी प्रकार ब्रह्मविद्यामें देवताओंका अधिकार बतानेवाले वचन ये हैं—'तद् यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत् ।' (बृह० १ । ४ । १०) अर्थात् 'देवताओंमेंसे जिसने उस ब्रह्मको जान लिया, वही वह ब्रह्म हो गया ।' इत्यादि । इसके सिवा, छान्दोग्योपनिषद्में (८ । ७ । २ से ८ । १२ । ६ तक) यह प्रसङ्ग आता है कि इन्द्र और विरोचनने ब्रह्माजीकी सेवामें रहकर बहुत वर्षोंतक ब्रह्मचर्य पालन करनेके पश्चात् ब्रह्मविद्या प्राप्त की । इन सब प्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि देवता आदिका भी कर्म और ब्रह्मविद्यामें अधिकार है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या सभी वर्णके मनुष्योंका वेदविद्यामें अधिकार है ? क्योंकि छान्दोग्योपनिषद्में ऐसा वर्णन मिलता है कि रैक्वने राजा जानश्रुतिको शूद्र कहते हुए भी उन्हें ब्रह्मविद्याका उपदेश दिया । इससे तो यही सिद्ध होता है कि शूद्रका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार है । अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

शुगस्य तदनादरश्रवणात्तदाद्रवणात् सूच्यते हि ॥ १ । ३ । ३४ ॥

तदनादरश्रवणात्=उन हंसोंके मुखसे अपना अनादर सुनकर; **अस्य**=इस राजा जानश्रुतिके मनमें; **शुक्**=शोक उत्पन्न हुआ; **तत्**=तदनन्तर; **आद्रवणात्**=(जिनकी अपेक्षा अपनी तुच्छता सुनकर शोक हुआ था) उन रैक्वमुनिके पास वह विद्या-प्राप्तिके लिये दौड़ा गया; (इस कारण उस रैक्वने उसे शूद्र कहकर पुकारा) **हि**=क्योंकि (इससे); **सूच्यते**=(रैक्वमुनिकी सर्वज्ञता) सूचित होती है ।

व्याख्या—इस प्रकरणमें रैक्वने राजा जानश्रुतिको जो शूद्र कहकर संबोधित किया, इसका यह अभिप्राय नहीं है कि वह जातिसे शूद्र था; अपि तु वह शोकसे व्याकुल होकर दौड़ा आया था, इसलिये उसे शूद्र[1] कहा । यही बात उस प्रकरणकी समालोचनासे सिद्ध होती है ।

१–शुचम् आद्रवति इति शूद्रः—जो शोकके पीछे दौड़ता है, वह शूद्र है, इस व्युत्पत्तिके अनुसार रैक्वने उसे 'शूद्र' कहा ।

छान्दोग्योपनिषद्में (४ । १ । १ से ४ तक) वह प्रकरण इस प्रकार है—'राजा जानश्रुति श्रद्धापूर्वक बहुत दान देनेवाला था। वह अतिथियोंके भोजनके लिये बहुत अधिक अन्न तैयार कराकर रखता था। उनके ठहरनेके लिये उसने बहुत-सी विश्रामशालाएँ भी बनवा रक्खी थीं। एक दिनकी बात है, राजा जानश्रुति रातके समय अपने महलकी छतपर बैठा था। उसी समय उसके ऊपरसे आकाशमें कुछ हंस उड़ते हुए जा रहे थे। उनमेंसे एक हंसने दूसरेको पुकारकर कहा—'अरे! सावधान, इस राजा जानश्रुतिका महान् तेज आकाशमें फैला हुआ है, कहीं भूलसे उसका स्पर्श न कर लेना, नहीं तो वह तुझे भस्म कर देगा।' यह सुनकर आगे जानेवाले हंसने कहा—'अरे भाई! तू किस महत्ताको लेकर इस राजाको इतना महान् मान रहा है, क्या तू इसको गाड़ीवाले रैक्कके समान समझता है!' इसपर पीछेवाले हंसने पूछा—'रैक्क कैसा है?' अगले हंसने उत्तर दिया—'यह सारी प्रजा जो कुछ भी शुभ कर्म करती है, वह सब उस रैक्कको प्राप्त होता है, तथा जिस तत्त्वको रैक्क जानता है, उसे जो कोई भी जान ले, उसकी भी ऐसी ही महिमा हो जाती है।' इस प्रकार हंसोंसे अपनी तुच्छताकी बात सुनकर राजाके मनमें शोक हुआ; फिर वह रैक्ककी खोज कराकर उनके पास विद्या-ग्रहणके लिये गया। रैक्क मुनि सर्वज्ञ थे, वे राजाकी मनःस्थितिको जान गये। उन्होंने उसके मनमें जगे हुए ईर्ष्याभावको दूर करके उसमें श्रद्धाका भाव उत्पन्न करनेका विचार किया और अपनी सर्वज्ञता सूचित करके उसे सावधान करते हुए 'शूद्र' कहकर पुकारा। यह जानते हुए भी कि जानश्रुति क्षत्रिय है, रैक्कने उसे 'शूद्र' इसलिये कहा कि वह शोकके वशीभूत होकर दौड़ा आया था। अतः इससे यह नहीं सिद्ध होता कि वेदविद्यामें शूद्रका अधिकार है।

सम्बन्ध—राजा जानश्रुतिका क्षत्रिय होना कैसे सिद्ध होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

क्षत्रियत्वावगतेश्चोत्तरत्र चैत्ररथेन लिङ्गात् ॥ १ । ३ । ३५ ॥

क्षत्रियत्वावगतेः=जानश्रुतिका क्षत्रिय होना प्रकरणमें आये हुए लक्षणसे जाना जाता है इससे; **च**=तथा; **उत्तरत्र**=बादमें कहे हुए; **चैत्ररथेन**=चैत्ररथके सम्बन्धसे; **लिङ्गात्**=जो क्षत्रियत्वसूचक चिह्न या प्रमाण प्राप्त होता है, उससे भी (उसका क्षत्रिय होना ज्ञात होता है)।

व्याख्या—उक्त प्रकरणमें जानश्रुतिको श्रद्धापूर्वक बहुत दान देनेवाला और अतिथियोंके लिये ही तैयार कराकर रक्खी हुई रसोईसे प्रतिदिन उनका सत्कार करानेवाला बताया गया है। उसके राजोचित ऐश्वर्यका भी वर्णन है, साथ ही यह भी कहा गया है कि राजाकी कन्याको रैक्वने पत्नीरूपमें ग्रहण किया। इन सब बातोंसे यह सिद्ध होता है कि वह शूद्र नहीं, क्षत्रिय था। इसलिये यही सिद्ध होता है कि वेद-विद्यामें जाति-शूद्रका अधिकार नहीं है। इसके सिवा, इस प्रसङ्गके अन्तिम भागमें रैक्वने वायु तथा प्राणको सबका भक्षण करनेवाला कहकर उन दोनोंकी स्तुतिके लिये एक आख्यायिका उपस्थित की है। उसमें ऐसा कहा है कि 'शौनक और अभिप्रतारी चैत्ररथ—इन दोनोंको जब भोजन परोसा जा रहा था, उस समय एक ब्रह्मचारीने भिक्षा माँगी' इत्यादि। इस आख्यायिकामें राजा जानश्रुतिके यहाँ शौनक और चैत्ररथको भोजन परोसे जानेकी बात कही गयी है, इससे जानश्रुतिका क्षत्रिय होना सिद्ध होता है; क्योंकि शौनक ब्राह्मण और चैत्ररथ क्षत्रिय थे; वे शूद्रके यहाँ भोजन नहीं कर सकते थे। अतः यही सिद्ध होता है कि जाति-शूद्रका वेद-विद्यामें अधिकार नहीं है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बातकी सिद्धिके लिये ही दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

संस्कारपरामर्शात्तदभावाभिलापाच्च ॥ १ । ३ । ३६ ॥

संस्कारपरामर्शात्=श्रुतिमें वेदविद्या ग्रहण करनेके लिये पहले उपनयन आदि संस्कारोंका होना आवश्यक बताया गया है, इसलिये; **च**=तथा; **तदभावाभिलापात्**=शूद्रके लिये उन संस्कारोंका अभाव कहा गया है; इसलिये भी (जाति-शूद्रका वेदविद्यामें अधिकार नहीं है)।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जहाँ-जहाँ वेदविद्याके अध्ययनका प्रसङ्ग आया है, वहाँ सब जगह यह देखा जाता है कि आचार्य पहले शिष्यका उपनयनादि संस्कार करके ही उसे वेद-विद्याका उपदेश देते हैं। यथा—'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्॥' (मु० उ० ३ । २ । १०) अर्थात् 'उन्हींको इस ब्रह्मविद्याका उपदेश दे, जिन्होंने विधिपूर्वक उपनयनादि संस्कार कराकर ब्रह्मचर्य-व्रतका पालन किया हो।' 'उप त्वा नेष्ये' (छा० उ० ४ । ४ । ५) 'तेरा उपनयन संस्कार करूँगा।' 'तꣳ होप-

निन्ये।' (श० ब्रा० ११ । ५ । ३ । १३) 'उसका उपनयन-संस्कार किया।' इत्यादि। इस प्रकार वेदविद्याके अध्ययनमें उपनयन आदि संस्कारोंका होना परम आवश्यक माना गया है तथा शूद्रोंके लिये उन संस्कारोंका विधान नहीं किया है; इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शूद्रोंका वेदविद्यामें अधिकार नहीं है।

सम्बन्ध–इसी बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरा कारण बताते हैं—

तदभावनिर्धारणे च प्रवृत्तेः ॥ १ । ३ । ३७ ॥

तदभावनिर्धारणे=शिष्यमें शूद्रत्वका अभाव निश्चित करनेके लिये; **प्रवृत्तेः**=आचार्यकी प्रवृत्ति पायी जाती है, इससे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि वेदाध्ययनमें शूद्रका अधिकार नहीं है)।

व्याख्या–जानश्रुति तथा रैक्वकी कथाके बाद ही सत्यकाम जाबालका प्रसङ्ग इस प्रकार आया है—'जबालाके पुत्र सत्यकामने गौतमनामक आचार्यकी शरणमें जाकर कहा—'भगवन्! मैं ब्रह्मचर्यपालनपूर्वक आपकी सेवामें रहनेके लिये उपस्थित हुआ हूँ।' तब गौतमने उसकी जातिका निश्चय करनेके लिये पूछा—'तेरा गोत्र क्या है ?' इसपर उसने स्पष्ट शब्दोंमें कहा—'मैं अपना गोत्र नहीं जानता। मैंने अपनी मातासे गोत्र पूछा था, उसने कहा कि—'मुझे गोत्र नहीं मालूम है, मेरा नाम जबाला है और तेरा नाम सत्यकाम है।' इसलिये मैं तो इतना ही कह सकता हूँ कि 'मैं जबालाका पुत्र सत्यकाम हूँ।' तब गुरुने कहा—'इतना स्पष्ट और सत्य भाषण ब्राह्मण ही कर सकता है, दूसरा कोई नहीं।' इस प्रकार सत्य भाषणरूप हेतुसे यह निश्चय करके कि सत्यकाम ब्राह्मण है, शूद्र नहीं है, उसे आचार्य गौतमने समिधा लानेका आदेश दिया और उसका उपनयन-संस्कार कर दिया।' (छा० उ० ४ । ४ । ३–५)

इस तरह इस प्रकरणमें आचार्यद्वारा पहले यह निश्चय कर लिया गया कि 'सत्यकाम शूद्र नहीं, ब्राह्मण है, फिर उसका उपनयन-संस्कार करके उसे विद्याध्ययनका अधिकार प्रदान किया गया; इससे यही सिद्ध होता है कि शूद्रका वेद-विद्यामें अधिकार नहीं है।

सम्बन्ध—अब प्रमाणद्वारा शूद्रके वेद-विद्यामें अधिकारका निषेध करते हैं—

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात् स्मृतेश्च ॥ १ । ३ । ३८ ॥

श्रवणाध्ययनार्थप्रतिषेधात्=शूद्रके लिये, वेदोंके श्रवण, अध्ययन तथा अर्थज्ञानका भी निषेध किया गया है, इससे; **च**=तथा; **स्मृतेः**=स्मृति-प्रमाणसे भी (यही सिद्ध होता है कि वेद-विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है) ।

व्याख्या—श्रुतिमें शूद्रके लिये वेदके श्रवण, अध्ययन तथा अर्थज्ञानका भी निषेध किया गया है। यथा—'एतच्छ्मशानं यच्छूद्रस्तस्माच्छूद्रस्य समीपे नाध्येतव्यम् ।' अर्थात् 'जो शूद्र है, वह श्मशानके तुल्य है, अतः शूद्रके समीप वेदाध्ययन नहीं करना चाहिये ।' इसके द्वारा शूद्रके वेद-श्रवणका निषेध सूचित होता है। जब सुननेतकका निषेध है, तब अध्ययन और अर्थज्ञानका निषेध स्वतः सिद्ध हो जाता है। इससे तथा स्मृतिके वचनसे भी यही सिद्ध होता है कि 'शूद्रको वेदाध्ययनका अधिकार नहीं है ।' इस विषयमें पराशर-स्मृतिका वचन इस प्रकार है—'वेदाक्षरविचारेण शूद्रः पतति तत्क्षणात् ।' (१ । ७३) अर्थात् 'वेदके अक्षरोंका अर्थ समझनेके लिये विचार करनेपर शूद्र तत्काल पतित हो जाता है ।' मनुस्मृतिमें भी कहा है कि 'न शूद्राय मतिं दद्यात् ।' (४ । ८०) अर्थात् 'शूद्रको वेद-विद्याका ज्ञान नहीं देना चाहिये ।' इसी प्रकार अन्य स्मृतियोंमें भी जगह-जगह शूद्रके लिये वेदके श्रवण, अध्ययन तथा अर्थज्ञानका निषेध किया गया है। इससे यही मानना चाहिये कि वेद-विद्यामें शूद्रका अधिकार नहीं है। इतिहासमें जो विदुर आदि शूद्रजातीय सत्पुरुषोंको ज्ञान प्राप्त होनेकी बात पायी जाती है, उसका भाव यों समझना चाहिये कि इतिहास-पुराणोंको सुनने और पढ़नेमें चारों वर्णोंका समान रूपसे अधिकार है। इतिहास-पुराणोंके द्वारा शूद्र भी परमात्मतत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार उसे भी भक्ति एवं ज्ञानका फल प्राप्त हो सकता है। फल-प्राप्तिमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि भगवान्‌की भक्तिद्वारा परम गति प्राप्त करनेमें मनुष्यमात्रका अधिकार है (गीता ९ । ३२) ।

सम्बन्ध—यहाँतकके प्रकरणमें प्रसङ्गवश प्राप्त हुए अधिकारविषयक वर्णनको पूरा करके यह सिद्धान्त स्थिर किया कि ब्रह्मविद्यामें देवादिका अधिकार है और शूद्रका अधिकार नहीं है। अब इस विषयको यहीं समाप्त करके

पुनः पूर्वोक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके स्वरूपपर विचार किया जाता है—

कम्पनात् ॥ १ । ३ । ३९ ॥

(पूर्वोक्त अङ्गुष्ठमात्र पुरुष परब्रह्म परमात्मा ही है;) **कम्पनात्**=क्योंकि उसीमें सम्पूर्ण जगत् चेष्टा करता है और उसीके भयसे सब काँपते हैं।

व्याख्या—कठोपनिषद्के दूसरे अध्यायमें प्रथम वल्लीसे लेकर तृतीय वल्लीतक अङ्गुष्ठमात्र पुरुषका प्रकरण आया है। (देखिये २ । १ । १२, १३ तथा २ । ३ । १७ के मन्त्र)। वहाँ अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके रूपमें वर्णित उस परम पुरुष परमात्माके प्रभावका वर्णन करते हुए यह बात कही गयी है कि—

यदिदं किं च जगत् सर्वं प्राण एजति निःसृतम्।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥
(क० उ० २ । ३ । २)

'उस परमात्मासे निकला हुआ यह जो कुछ भी सम्पूर्ण जगत् है, वह उस प्राणस्वरूप ब्रह्ममें ही चेष्टा करता है, उस उठे हुए वज्रके समान महान् भयानक सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको जो जानते हैं, वे अमर हो जाते हैं।' तथा—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥
(क० उ० २ । ३ । ३)

'इसीके भयसे अग्नि तपता है, इसीके भयसे सूर्य तपता है, इसीके भयसे इन्द्र, वायु तथा पाँचवें मृत्यु देवता—ये सब अपने-अपने कार्यमें दौड़ रहे हैं।'

इस वर्णनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि अङ्गुष्ठमात्र पुरुष ब्रह्म ही है; क्योंकि सम्पूर्ण जगत् जिसमें चेष्टा करता है अथवा जिसके भयसे कम्पित होकर सब देवता अपने-अपने कार्यमें संलग्न रहते हैं, वह न तो प्राणवायु हो सकता है और न इन्द्र ही। वायु और इन्द्र तो स्वयं ही उसकी आज्ञाका पालन करनेके लिये भयभीत रहते हैं। अतः यहाँ अङ्गुष्ठमात्र पुरुष ब्रह्म ही है, इसमें लेशमात्र भी संशयके लिये स्थान नहीं है।

सम्बन्ध—इस पादके चौदहवें सूत्रसे लेकर तेईसवेंतक 'दहराकाश' का प्रकरण चलता रहा। वहाँ यह बताया गया कि 'दहर' शब्द परब्रह्म परमात्मा-

का वाचक है; फिर २४वें सूत्रसे कठोपनिषद्में वर्णित अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके स्वरूपपर विचार चल पड़ा; क्योंकि दहराकाशकी भाँति वह भी हृदयमें ही स्थित बताया गया है। उसी प्रकरणमें देवादिके वेदविद्यामें अधिकार-सम्बन्धी प्रासङ्गिक विषयपर विचार चल पड़ा और अड़तीसवें सूत्रमें वह प्रसङ्ग समाप्त हुआ। फिर उनतालीसवें सूत्रमें पहलेके छोड़े हुए अङ्गुष्ठमात्र पुरुषके स्वरूपपर विचार किया गया। इस प्रकार बीचमें आये हुए प्रसङ्गान्तरोंपर विचार करके अब पुनः दहराकाशविषयक छूटे हुए प्रकरणपर विचार आरम्भ किया जाता है—

ज्योतिर्दर्शनात् ॥ १ । ३ । ४० ॥

ज्योतिः=यहाँ 'ज्योति' शब्द परब्रह्मका ही वाचक है; **दर्शनात्**=क्योंकि श्रुतिमें (अनेक स्थलोंपर) ब्रह्मके अर्थमें 'ज्योतिः' शब्दका प्रयोग देखा जाता है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्के अन्तर्गत दहराकाशविषयक प्रकरणमें यह कहा गया है कि 'य एष सम्प्रसादोऽस्माच्छरीरात्समुत्थाय परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते।' (८ । ३ । ४) अर्थात् 'यह जो संप्रसाद (जीवात्मा) है, वह शरीरसे निकलकर परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है।' इस वर्णनमें जो 'ज्योतिः' शब्द आया है, वह परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है; क्योंकि श्रुतिमें अनेक स्थलोंपर ब्रह्मके अर्थमें 'ज्योतिः' शब्दका प्रयोग देखा जाता है। उदाहरणके लिये यह श्रुति उद्धृत की जाती है—'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते।' (छा० उ० ३ । १३ । ७) अर्थात् 'इस द्युलोकसे परे जो परम ज्योति प्रकाशित हो रही है।' इसमें 'ज्योतिः' पद परमात्माके ही अर्थमें है; इसका निर्णय पहले भी किया जा चुका है। ऊपर दी हुई (८ । ३ । ४) श्रुतिमें 'ज्योतिः' पदका 'परम्' विशेषण आया है; इससे भी यही सिद्ध होता है कि परब्रह्मको ही वहाँ 'परम ज्योति' कहा गया है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त सूत्रमें 'दहर'के प्रकरणमें आये हुए 'ज्योतिः' पदको परब्रह्मका वाचक बताकर उस प्रसङ्गको वहीं समाप्त कर दिया गया। अब यह जिज्ञासा होती है कि 'दहराकाश'के प्रकरणमें आया हुआ 'आकाश' शब्द परब्रह्मका वाचक हो, परन्तु छा० उ० (८ । १४ । १) में जो 'आकाश' शब्द आया है, वह किस अर्थमें है ? अतः इसका निर्णय करनेके लिये आगेका सूत्र प्रारम्भ करते हैं—

आकाशोऽर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात् ॥ १ । ३ । ४१ ॥

आकाशः=(वहाँ) 'आकाश' शब्द परब्रह्मका ही वाचक है; **अर्थान्तरत्वादिव्यपदेशात्**=क्योंकि उसे नाम-रूपमय जगत्‌से भिन्न वस्तु बताया गया है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (८ । १४ । १) में कहा गया है कि 'आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतꣳ स आत्मा ।' अर्थात् 'आकाश नामसे प्रसिद्ध तत्त्व नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है, वे दोनों जिसके भीतर हैं, वह ब्रह्म है, वह अमृत है और वही आत्मा है ।' इस प्रसङ्गमें 'आकाश'को नामरूपसे भिन्न तथा नामरूपात्मक जगत्‌को धारण करनेवाला बताया गया है; इसलिये वह भूताकाश अथवा जीवात्माका वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि भूताकाश तो स्वयं नामरूपात्मक प्रपञ्चके अन्तर्गत है और जीवात्मा सबको धारण करनेमें समर्थ नहीं है । इसलिये जो भूताकाशसहित समस्त जडचेतनात्मक जगत्‌को अपनेमें धारण करनेवाला है, वह परब्रह्म परमात्मा ही यहाँ 'आकाश' नामसे कहा गया है । वहाँ जो ब्रह्म, अमृत और आत्मा—ये विशेषण दिये गये हैं, वे भी भूताकाश अथवा जीवात्माके उपयुक्त नहीं हैं; इसलिये उनसे भिन्न परब्रह्म परमात्माका ही वहाँ 'आकाश' नामसे वर्णन हुआ है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मुक्तात्मा जब ब्रह्मको प्राप्त होता है, उस समय उसमें ब्रह्मके सभी लक्षण आ जाते हैं । अतः यहाँ उसीको आकाश नामसे कहा गया है, ऐसा मान लें तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योर्भेदेन ॥ १ । ३ । ४२ ॥

सुषुप्त्युत्क्रान्त्योः=सुषुप्ति तथा मृत्युकालमें भी; **भेदेन**=(जीवात्मा और परमात्माका) भेदपूर्वक वर्णन है; (इसलिये 'आकाश' शब्द यहाँ परमात्माका ही बोधक है) ।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (६ । ८ । १) में कहा है कि 'जिस अवस्थामें यह पुरुष सोता है, उस समय यह सत् (अपने कारण) से सम्पन्न (संयुक्त) होता है ।* यह वर्णन सुषुप्तिकालका है । इसमें जीवात्माका 'पुरुष' नामसे और कारणभूत परमात्माका 'सत्' नामसे भेदपूर्वक उल्लेख हुआ है । इसी तरह उत्क्रान्तिका भी इस प्रकार वर्णन मिलता है—'यह जीवात्मा इस शरीरसे

---

* यह मन्त्र अर्थसहित पृष्ठ ६ में आ गया है ।

निकलकर परमज्योति:स्वरूप परमात्माको प्राप्त हो अपने शुद्धरूपसे सम्पन्न हो जाता है।' (छा० उ० ८ । ३ । ४) इसमें भी संप्रसाद नामसे जीवात्मा-का और 'परमज्योति' नामसे परमात्माका भेदपूर्वक निरूपण है। इस प्रकार सुषुप्ति और उत्क्रान्तिकालमें भी जीवात्मा और परमात्माका भेदपूर्वक वर्णन होनेसे उपर्युक्त आकाशशब्द मुक्तात्माका वाचक नहीं हो सकता; क्योंकि मुक्तात्मामें ब्रह्मके सदृश कुछ सद्गुणोंका आविर्भाव होनेपर भी उसमें नाम-रूपात्मक जगत्को धारण करनेकी शक्ति नहीं आती।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथनकी पुष्टिके लिये ही दूसरा हेतु उपस्थित करते हैं—

पत्यादिशब्देभ्यः ॥ १ । ३ । ४३ ॥

पत्यादिशब्देभ्यः=उस परब्रह्मके लिये श्रुतिमें पति, परम पति, परम-महेश्वर आदि विशेष शब्दोंका प्रयोग होनेसे भी (यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा और परमात्मामें भेद है)।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद् (६ । ७) में परमात्माके स्वरूपका इस प्रकार वर्णन आया है—

तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमं च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विद्म देवं भुवनेशमीड्यम्॥

'ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, देवताओंके भी परमदेवता तथा पतियोंके भी परम पति, अखिल ब्रह्माण्डके स्वामी एवं स्तवन करनेयोग्य उस प्रकाशस्वरूप परमात्माको हमलोग सबसे परे जानते हैं।'

इस मन्त्रमें देवता आदिकी कोटिमें जीवात्मा हैं और परम देवता, परम महेश्वर एवं परम पतिके नामसे परमात्माका वर्णन किया गया है। इससे भी यही निश्चय होता है कि जीवात्मा और परमात्मामें भेद है। इसलिये 'आकाश' शब्द परमात्माका ही वाचक है, मुक्त जीवका नहीं।

तीसरा पाद सम्पूर्ण।

चौथा पाद

सम्बन्ध—पहलेके तीन पादोंमें ब्रह्मको जगत्‌के जन्म आदिका कारण बताकर वेदवाक्योंद्वारा वह बात प्रमाणित की गयी। श्रुतियोंमें जहाँ-जहाँ सन्देह होता था, उन स्थलोंपर विचार करके उस सन्देहका निवारण किया गया। आकाश, आनन्दमय, ज्योति, प्राण आदि जो शब्द या नाम ब्रह्मपरक नहीं प्रतीत होते थे, जीवात्मा या जडप्रकृतिके बोधक जान पड़ते थे, उन सबको परब्रह्म परमात्माका वाचक सिद्ध किया गया। प्रसङ्गवश आयी हुई दूसरी-दूसरी बातोंका भी निर्णय किया गया। अब यह जिज्ञासा होती है कि वेदमें कहीं प्रकृतिका वर्णन है या नहीं? यदि है तो उसका स्वरूप क्या माना गया है? इत्यादि। इन्हीं सब ज्ञातव्य विषयोंपर विचार करनेके लिये चतुर्थ पाद आरम्भ किया जाता है। कठोपनिषद्‌में 'अव्यक्त' नाम आया है; वहाँ 'अव्यक्तम्' पद प्रकृतिका वाचक है या अन्य किसीका? इस शङ्काका निवारण करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

आनुमानिकमप्येकेषामिति चेन्न शरीररूपकविन्यस्त-गृहीतेर्दर्शयति च ॥ १ । ४ । १ ॥

चेत्=यदि कहो; **आनुमानिकम्**=अनुमानकल्पित जडप्रकृति; **अपि**=भी; **एकेषाम्**=किन्हींके मतमें वेदप्रतिपादित है; **इति न**=तो यह कथन ठीक नहीं है; **शरीररूपकविन्यस्तगृहीतेः**=क्योंकि शरीर ही यहाँ रथके रूपकमें पड़कर 'अव्यक्त' शब्दसे गृहीत होता है। **दर्शयति च**=यही बात श्रुति दिखाती भी है।

व्याख्या—कठोपनिषद् (१ । ३ । ११) में जो 'अव्यक्तम्' पद आया है, वह अनुमानकल्पित या सांख्यप्रतिपादित प्रकृतिका वाचक नहीं है; किन्तु आत्मा, शरीर, बुद्धि, मन, इन्द्रिय और विषय आदिकी जो रथ, रथी एवं सारथि आदिके रूपमें कल्पना की गयी है; उस कल्पनामें रथके स्थानपर शरीरको रक्खा गया है। उसीका नाम यहाँ 'अव्यक्त' है। कठोपनिषद्‌के इस रूपक-प्रकरणमें आत्माको रथी, शरीरको रथ, बुद्धिको सारथि, मनको लगाम, इन्द्रियोंको घोड़ा और विषयोंको उन घोड़ोंका चारा बताया गया है। इन उपकरणोंद्वारा परमपद-

स्वरूप परमेश्वरको ही प्राप्त करनेयोग्य कहा गया है। इस प्रकार पूरे रूपकमें सात वस्तुओंकी कल्पना हुई है। उन्हीं सातोंका वर्णन एकसे दूसरेको बलवान् बतानेमें भी होना चाहिये। वहाँ इन्द्रियोंकी अपेक्षा विषयोंको बलवान् बताया गया है। जैसे घास या चारा-दाना देखकर घोड़े हठात् उस ओर आकृष्ट होते हैं; उसी प्रकार इन्द्रियाँ भी हठात् विषयोंकी ओर खिंच जाती हैं। फिर विषयोंसे परे मनकी स्थिति कही गयी है; क्योंकि यदि सारथि लगामको खींचे रक्खे तो घोड़े चारा-दानाकी ओर हठात् नहीं जा सकते हैं। उसके बाद मनसे परे बुद्धिका स्थान माना गया है; वही सारथि है। लगामकी अपेक्षा सारथिको श्रेष्ठ बतलाना उचित ही है; क्योंकि लगाम सारथिके ही अधीन रहती है। बुद्धिसे परे महान् आत्मा है; यह 'रथी' के रूपमें कहा हुआ जीवात्मा ही होना चाहिये। 'महान् आत्मा' का अर्थ महत्तत्त्व मान लें तो इस रूपकमें दो दोष आते हैं। एक तो बुद्धिरूप सारथिके स्वामी रथी आत्माको छोड़ देना और दूसरा जिसका रूपकमें वर्णन नहीं है, उस महत्तत्त्वकी व्यर्थ कल्पना करना। अतः महान् आत्मा यहाँ रथीके रूपमें बताया हुआ जीवात्मा ही है। फिर महान् आत्मासे परे जो अव्यक्त कहा गया है, वह है भगवान्‌की मायाशक्ति। उसीका अंश कारण-शरीर है। उसे ही इस प्रसङ्गमें रथका रूप दिया गया है। अन्यथा रूपकमें रथकी जगह बताया हुआ शरीर एकसे दूसरेको श्रेष्ठ बतानेकी परम्परामें छूट जाता है और अव्यक्त नामसे किसी अन्य तत्त्वकी अप्रासङ्गिक कल्पना करनी पड़ती है। अतः कारणशरीर भगवान्‌की प्रकृतिका अंश होनेसे उसे 'अव्यक्त' नामसे कहना अनुचित नहीं मालूम होता।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि शरीरको 'अव्यक्त' कहना कैसे ठीक होगा; क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष ही व्यक्त है। इसपर कहते हैं—

सूक्ष्मं तु तदर्हत्वात् ॥ १ । ४ । २ ॥

तु=किन्तु; **सूक्ष्मम्**=(इस प्रकरणमें 'शरीर' शब्दसे) सूक्ष्म शरीर गृहीत होता है; **तदर्हत्वात्**=क्योंकि वही 'अव्यक्त' कहलानेके योग्य है।

व्याख्या—परमात्माकी शक्तिरूप प्रकृति सूक्ष्म है, वह देखने और वर्णन करनेमें नहीं आती, उसीका अंश कारणशरीर है; अतः उसको अव्यक्त कहना उचित ही है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जब प्रकृतिके अंशको 'अव्यक्त' नामसे स्वीकार कर लिया, तब सांख्यशास्त्रमें कहे हुए प्रधानको स्वीकार करनेमें क्या आपत्ति है ? सांख्यशास्त्र भी तो भूतोंके कारणरूप सूक्ष्म तत्त्वको ही 'प्रधान' या 'प्रकृति' कहता है, इसपर कहते हैं—

तदधीनत्वादर्थवत् ॥ १ । ४ । ३ ॥

तदधीनत्वात्=उस परमात्माके अधीन होनेके कारण; **अर्थवत्**=वह (शक्तिरूपा प्रकृति) सार्थक है।

व्याख्या—सांख्यमतावलम्बी प्रकृतिको स्वतन्त्र और जगत्का कारण मानते हैं। परन्तु वेदका ऐसा मत नहीं है। वेदमें उस प्रकृतिको परब्रह्म परमेश्वरके ही अधीन रहनेवाली उसीकी एक शक्ति बताया गया है। शक्ति शक्तिमान्से भिन्न नहीं होती, अतः उसका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना जाता। इस प्रकार परमात्माके अधीन उसीकी एक शक्ति होनेके कारण उसकी सार्थकता है। क्योंकि शक्ति होनेसे ही शक्तिमान् परमेश्वरके द्वारा जगत्की सृष्टि आदि कार्य होने सम्भव हैं। यदि परब्रह्म परमेश्वरको शक्तिहीन मान लिया जाय, तब वह इस जडचेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्का कर्ता-धर्ता और संहर्ता कैसे हो सकता है ? फिर तो उसे सर्वशक्तिमान् भी कैसे माना जा सकता है ? श्वेताश्वतरोपनिषद्में स्पष्ट कहा गया है कि 'महर्षियोंने ध्यानयोगमें स्थित होकर परमात्मदेवकी स्वरूप-भूता अचिन्त्य शक्तिका साक्षात्कार किया जो अपने गुणोंसे आवृत है।'* वहीं यह भी कहा गया है कि उस परमेश्वरकी स्वाभाविक ज्ञान, बल और क्रियारूप शक्तियाँ नाना प्रकारकी सुनी जाती हैं।†

सम्बन्ध—वेदमें बतायी हुई प्रकृति सांख्योक्त प्रधान नहीं है, इस बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरा कारण बताते हैं।

ज्ञेयत्वावचनाच्च ॥ १ । ४ । ४ ॥

ज्ञेयत्वावचनात्=वेदमें प्रकृतिको ज्ञेय नहीं बताया गया है। इसलिये; **च**=भी (यह सांख्योक्त प्रधान नहीं है)।

---

* **ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्।'** (श्वेता० १ । ३)

† यह मन्त्र पृष्ठ दोमें आ गया है।

व्याख्या—सांख्यमतावलम्बी प्रकृतिको ज्ञेय मानते हैं। उनका कहना है कि 'गुणपुरुषान्तरज्ञानात् कैवल्यम्' अर्थात् 'गुणमयी प्रकृति और पुरुषका पार्थक्य जान लेनेसे कैवल्य (मोक्ष) प्राप्त होता है।' प्रकृतिके स्वरूपको अच्छी तरह जाने बिना उससे पुरुषका पार्थक्य (भेद) कैसे ज्ञात होगा, अतः उनके मतमें प्रकृति भी ज्ञेय है। परन्तु वेदमें प्रकृतिको ज्ञेय अथवा उपास्य कहीं नहीं कहा गया है। वहाँ तो एकमात्र परब्रह्म परमेश्वरको ही जाननेयोग्य तथा उपास्य बताया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि वेदोक्त प्रकृति सांख्यवादियोंके माने हुए 'प्रधान' तत्त्वसे भिन्न है।

सम्बन्ध—अपने मतकी पुष्टिके लिये सूत्रकार स्वयं ही शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हैं—

वदतीति चेन्न प्राज्ञो हि प्रकरणात् ॥ १ । ४ । ५ ॥

चेत्=यदि कहो; **वदति**=(वेद प्रकृतिको भी ज्ञेय) बताता है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **हि**=क्योंकि (वहाँ ज्ञेय तत्त्व); **प्राज्ञः**=परमात्मा ही है; **प्रकरणात्**=प्रकरणसे (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—कठोपनिषद्में जहाँ 'अव्यक्त' की चर्चा आयी है, उस प्रकरणके अन्तमें (१ । ३ । १५) कहा गया है कि—

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथारसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥

'जो शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्धसे रहित, अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त, महत्से परे तथा ध्रुव (निश्चल) है, उस तत्त्वको जानकर मनुष्य मृत्युके मुखसे छूट जाता है।'

'इस मन्त्रमें ज्ञेय तत्त्वके जो लक्षण बताये गये हैं, वे सब सांख्योक्त प्रधानमें भी सङ्गत होते हैं; अतः यहाँ प्रधानको ही 'ज्ञेय' बताना सिद्ध होता है।' ऐसी बात यदि कोई कहे तो उसका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि यहाँ परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन है; आगे-पीछे सब जगह उसीको जानने और प्राप्त करनेयोग्य बताया गया है। ऊपर जो मन्त्र उद्धृत किया गया है, उसमें बताये हुए सभी लक्षण परमात्मामें ही यथार्थरूपसे सङ्गत होते हैं; अतः उसमें भी परमात्माके ही स्वरूपका वर्णन तथा उसे जाननेके फलका प्रतिपादन है। इसलिये इस

प्रकरणसे यही सिद्ध होता है कि श्रुतिमें परमात्माको ही जाननेके योग्य कहा गया है तथा उसीको जाननेका फल मृत्युके मुखसे छूटना बताया गया है। यहाँ प्रकृतिका वर्णन नहीं है।

सम्बन्ध—कठोपनिषद्में अग्नि, जीवात्मा तथा परमात्मा—इन तीनका प्रकरण तो है ही; इसी प्रकार चौथे 'प्रधान' तत्त्वका भी प्रकरण मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

त्रयाणामेव चैवमुपन्यासः प्रश्नश्च ॥ १ । ४ । ६ ॥

त्रयाणाम्=(इस उपनिषद्में) तीनका; **एव**=ही; **एवम्**=इस प्रकार ज्ञेयरूपसे; **उपन्यासः**=उल्लेख हुआ है; **च**=तथा (इन्हीं तीनोंके सम्बन्धमें); **प्रश्नः**=प्रश्न भी (किया गया) है।

व्याख्या—कठोपनिषद्के प्रकरणमें नचिकेताने अग्नि, जीवात्मा और परमात्मा—इन्हीं तीनोंको जाननेके लिये प्रश्न किया है। अग्निविषयक प्रश्न इस प्रकार है—'स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्यमध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम्।' (क० उ० १ । १ । १३) अर्थात् 'हे यमराज! आप स्वर्गकी प्राप्तिके साधनरूप अग्निको जानते हैं, अतः मुझ श्रद्धालुके लिये वह अग्नि-विद्या भलीभाँति समझाकर कहिये।' तदनन्तर जीव-विषयक प्रश्न इस प्रकार किया गया है—'येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके। एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाहम्।' (क० उ० १ । १ । २०) अर्थात् "मरे हुए मनुष्यके विषयमें कोई तो कहता है, 'यह रहता है' और कोई कहता है 'नहीं रहता।' इस प्रकारकी यह शङ्का है, इसका निर्णय मैं आपके द्वारा उपदेश पाकर जानना चाहता हूँ।" तत्पश्चात् आगे चलकर परमात्माके विषयमें इस प्रकार प्रश्न उपस्थित किया गया है—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत् पश्यसि तद् वद ॥ (क० उ० १ । २ । १४)

'जो धर्म और अधर्म दोनोंसे, कार्य-कारणरूप समस्त जगत्से एवं भूत, वर्तमान और भविष्यत्—इन तीन भेदोंवाले कालसे तथा तत्सम्बन्धी समस्त पदार्थोंसे अलग है, ऐसे जिस तत्त्वको आप जानते हैं, उसीका मुझे उपदेश कीजिये।'

—इस प्रकार इन तीनोंके विषयमें नचिकेताका प्रश्न है, और प्रश्नके अनुसार ही यमराजका क्रमशः उत्तर भी है। अग्निविषयक प्रश्नका उत्तर क्रमशः १।१।१४ से १९ तकके मन्त्रोंमें दिया गया है। जीवविषयक प्रश्नका उत्तर पहले तो १।२।१८, १९ में, फिर २।२।७ में दिया गया है। परमात्म-विषयक प्रश्नका उत्तर १।२।२० से लेकर ग्रन्थकी समाप्तितक दिया गया है। बीच-बीचमें कहीं जीवके स्वरूपका भी वर्णन हुआ है। परन्तु 'प्रधान'के विषयमें न तो कोई प्रश्न है और न उत्तर ही। इससे यह निश्चित होता है कि यहाँ उक्त तीनोंके सिवा चौथेका प्रसङ्ग ही नहीं है।

सम्बन्ध—जब प्रधानका वाचक 'अव्यक्त' शब्द उस प्रकरणमें पड़ा है तो उसे दूसरे अर्थमें कैसे लगाया जा सकता है? इसपर कहते हैं—

महद्वच्च ॥ १ । ४ । ७ ॥

महद्वत्='महत्' शब्दकी भाँति; **च**=इसको भी दूसरे अर्थमें लेना अयुक्त नहीं है।

व्याख्या—जिस प्रकार 'महत्' शब्द सांख्य-शास्त्रमें महत्तत्त्वके लिये प्रयुक्त हुआ है, किन्तु कठोपनिषद्में वही शब्द आत्माके अर्थमें प्रयुक्त है, उसी प्रकार 'अव्यक्त' शब्द भी दूसरे अर्थमें माना जाय तो कोई विरोध नहीं है। महत् शब्दका प्रयोग जीवात्माके अर्थमें इस प्रकार आया है—'बुद्धेरात्मा महान् परः।' (क० उ० १।३।१०) 'बुद्धिसे महान् आत्मा पर है।' यहाँ इसको बुद्धिसे परे बताया गया है, किन्तु सांख्यमतमें बुद्धि-का ही नाम महत्तत्त्व है। इसलिये यहाँ महत् शब्द जीवात्माका वाचक है। इस प्रकार वेदोंमें जगह-जगह 'महत्' शब्दका प्रयोग सांख्यमतके विपरीत देखा जाता है, उसी प्रकार 'अव्यक्त' शब्दका अर्थ भी सांख्यमतसे भिन्न मानना अनुचित नहीं है, प्रत्युत उचित ही है।

सम्बन्ध—"इस प्रकरणमें आया हुआ 'अव्यक्त' शब्द यदि दूसरे अर्थमें मान लिया जाय तो भी श्वेताश्वतरोपनिषद्में 'अजा' शब्दसे अनादि प्रकृतिका वर्णन उपलब्ध होता है। वहाँ उसे श्वेत, लाल और काला—इन तीन वर्णोंवाली कहा गया है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि सांख्यशास्त्रोक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृतिको ही वेदमें जगत्का कारण माना गया है।' ऐसा संदेह उपस्थित होनेपर कहते हैं—

चमसवदविशेषात् ॥ १ । ४ । ८ ॥

('अजा' शब्द वहाँ सांख्यशास्त्रोक्त प्रकृतिका ही वाचक है, यह सिद्ध नहीं होता; क्योंकि) **अविशेषात्**=किसी प्रकारकी विशेषताका उल्लेख न होनेसे; **चमसवत्**='चमस'की भाँति (उसे दूसरे अर्थमें भी लिया जा सकता है)।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । ९ तथा ४ । ५) में जिस 'अजा' का वर्णन है, उसका नाम चाहे जो रख लिया जाय, परन्तु वास्तवमें वह परब्रह्मकी शक्ति है, और उस ब्रह्मसे भिन्न नहीं है । उक्त उपनिषद्में यह स्पष्ट लिखा है कि 'जगत्का कारण कौन है ?' इसपर विचार करनेवाले महर्षियोंने ध्यानयोगमें स्थित होकर उस परमदेव परमेश्वरकी स्वरूपभूता अचिन्त्य शक्तिको ही कारणरूपमें देखा और यह निश्चय किया कि जो परमदेव अकेला ही काल, स्वभाव आदिसे लेकर आत्मातक समस्त तत्त्वोंका अधिष्ठान है, जिसके आश्रयसे ही वे सब अपने-अपने स्थानमें कारण बनते हैं, वही परमात्मा इस जगत्का कारण है (१ । ३)।

अतः यह सिद्ध होता है कि वेदमें 'अजा' नामसे जिस प्रकृतिका वर्णन हुआ है, वह भगवान्के अधीन रहनेवाली उन्हींकी अभिन्न-स्वरूपा अचिन्त्य शक्ति है, सांख्यकथित स्वतन्त्र तत्त्वरूप प्रधान या प्रकृति नहीं । इसी बातको स्पष्ट करनेके लिये सूत्रमें कहा गया है कि जिस प्रकार 'चमस' शब्द रूढिसे सोमपानके लिये निर्मित पात्रविशेषका वाचक होनेपर भी बृहदारण्यकोपनिषद् (२ । २ । ३) में आये हुए 'अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः' इत्यादि मन्त्रमें वह 'शिर' के अर्थमें प्रयुक्त हुआ है; उसी प्रकार यहाँ 'अजा' शब्द भगवान्की स्वरूपभूता अनादि अचिन्त्य शक्तिके अर्थमें है, ऐसा माननेमें कोई बाधा नहीं है; क्योंकि यहाँ ऐसा कोई विशेष कारण नहीं दीखता, जिससे 'अजा' शब्दके द्वारा सांख्यकथित स्वतन्त्र प्रकृतिको ही ग्रहण किया जाय ।

सम्बन्ध—'अजा' शब्द जिस अर्थमें रूढ़ है, उसको न लेकर यहाँ दूसरा कौन-सा अर्थ लिया गया है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

ज्योतिरुपक्रमा तु तथा ह्यधीयत एके ॥ १ । ४ । ९ ॥

तु=निश्चय ही; **ज्योतिरुपक्रमा**=यहाँ 'अजा' शब्द तेज आदि त्रिविध तत्त्वोंकी

कारणभूता परमेश्वरकी शक्तिका वाचक है; **हि**=क्योंकि; **एके**=एक शाखावाले; **तथा**=ऐसा ही; **अधीयते**=अध्ययन (वर्णन) करते हैं ।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (६ । २ । ३, ४) में परमेश्वरसे उत्पन्न तेज आदि तत्त्वोंसे जगत्‌के विस्तारका वर्णन है । अतः यहाँ यही मानना ठीक है कि उनकी कारणभूता परमेश्वर-शक्तिको ही 'अजा' कहा गया है । छान्दोग्यमें बताया गया है कि 'उस परमेश्वरने विचार किया; 'मैं बहुत हो जाऊँ ।' फिर उसने तेजको रचा; तत्पश्चात् तेजसे जल और जलसे अन्नकी उत्पत्ति कही गयी है । इसके बाद इनके तीन रूपोंका वर्णन है । अग्निमें जो लाल रंग है, वह तेज-का है, जो सफेद रंग है, वह जलका है तथा जो काला रंग है, वह अन्न (पृथिवी) का है ।' इस प्रकार प्रत्येक वस्तुमें उक्त तेज आदि तीनों तत्त्वोंकी व्यापकताका वर्णन है (छा० उ० ६ । ४ । १ से ७ तक) । इसी तरह श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में जो 'अजा'के तीन रंग बताये गये हैं, वे भी तेज आदिमें उपलब्ध होते हैं । अतः निश्चित रूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि यहाँ अजाके नामसे प्रधानका ही वर्णन है । यदि प्रकृति या प्रधानका वर्णन मान लिया जाय तो भी यही मानना होगा कि वह उस परब्रह्मके अधीन रहनेवाली उसीकी अभिन्न शक्ति है, जो उक्त तेज आदि तीनों तत्त्वोंकी भी कारण है । सांख्यशास्त्रोक्त प्रधानका वहाँ वर्णन नहीं है; क्योंकि श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । १०) में जहाँ उसका 'प्रधान' के नामसे वर्णन हुआ है, वहाँ भी उसको स्वतन्त्र नहीं माना है । अपितु क्षर—प्रधान अर्थात् भगवान्‌की शक्तिरूप अपरा प्रकृति, अक्षर—जीवात्मा अर्थात् भगवान्‌की परा प्रकृति—इन दोनोंको शासन करनेवाला उस परम पुरुष परमेश्वरको बताया है ।* फिर आगे चलकर स्पष्ट कर दिया है कि भोक्ता (अक्षरतत्त्व), भोग्य (क्षरतत्त्व) और उन दोनोंका प्रेरक ईश्वर—इन तीनों रूपोंमें ब्रह्म ही बताया गया है ।† अतः 'अजा' शब्द-का पर्याय 'प्रधान' होनेपर भी वह सांख्यशास्त्रोक्त 'प्रधान' नहीं है । अपितु परमेश्वरके अधीन रहनेवाली उसीकी एक शक्ति है ।

सम्बन्ध—"अनादि ईश्वर-शक्तिको यहाँ 'अजा' कहा गया है; यह बात कैसे मानी जा सकती है; क्योंकि वह तो रूप आदिसे रहित है और यहाँ अजाके

---

* क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः क्षरात्मानावीशते देव एकः । (श्वेता० १ । १०)

† भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत् । (श्वेता० १ । १२)

लाल, सफेद और काला—ये तीन रंगके रूप बताये गये हैं ?" ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

कल्पनोपदेशाच्च मध्वादिवदविरोधः ॥ १ । ४ । १० ॥

कल्पनोपदेशात्=यहाँ 'अजा'का रूपक मानकर उसके त्रिविध रूपकी कल्पनापूर्वक उपदेश किया गया है, इसलिये; **च**=भी; **मध्वादिवत्**=मधु आदि-की भाँति; **अविरोधः**=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—जैसे छान्दोग्य (३ । १) में रूपककी कल्पना करते हुए, जो वास्तवमें मधु नहीं, उस सूर्यको मधु कहा गया है। बृहदारण्यकमें वाणीको, धेनु न होनेपर भी, धेनु कहा गया है (बृह० उ० ५ । ८ । १), तथा द्युलोक आदिको अग्नि बताया गया है (बृह० उ० ६ । २ । ९)। इसी प्रकार यहाँ भी रूपककी कल्पनामें भगवान्‌की शक्तिभूता प्रकृतिको 'अजा' नाम देकर उसके लाल, सफेद और काले तीन रंग बताये गये हैं; इसलिये कोई विरोध नहीं है। जिज्ञासुको समझानेके लिये रूपककी कल्पना करके वर्णन करना उचित ही है।

सम्बन्ध—"पूर्व प्रकरणमें यह बात सिद्ध की गयी कि श्रुतिमें आया हुआ 'अजा' शब्द सांख्यशास्त्रोक्त त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका नहीं, परब्रह्म परमात्माकी स्वरूपभूता अनादि शक्तिका वाचक है। किन्तु दूसरी श्रुतिमें 'पञ्चपञ्च' यह संख्यावाचक शब्द पाया जाता है। इससे यह धारणा होती है कि यहाँ सांख्योक्त पचीस तत्त्वोंका ही समर्थन किया गया है। ऐसी दशामें 'अजा' शब्द भी सांख्य-सम्मत मूल प्रकृतिका ही वाचक क्यों न माना जाय ?" इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—

न संख्योपसंग्रहादपि नानाभावादतिरेकाच्च ॥ १ । ४ । ११ ॥

संख्योपसंग्रहात्=(श्रुतिमें) संख्याका ग्रहण होनेसे; **अपि**=भी; **न**=वह (सांख्यमतोक्त तत्त्वोंकी) गणना नहीं है; **नानाभावात्**=क्योंकि वह संख्या दूसरे-दूसरे अनेक भाव व्यक्त करनेवाली है; **च**=तथा; **अतिरेकात्**=(वहाँ) उससे अधिकका भी वर्णन है।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्‌में कहा गया है कि—

यस्मिन् पञ्च पञ्चजना आकाशश्च प्रतिष्ठितः ।
तमेव मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥ (४ । ४ । १७)

'जिसमें पाँच पञ्चजन और आकाश भी प्रतिष्ठित है, उसी आत्माको मृत्युसे रहित मैं विद्वान् अमृतस्वरूप ब्रह्म मानता हूँ ।'—इस मन्त्रमें जो संख्यावाचक 'पञ्च-पञ्च' शब्द आये हैं, इनको लेकर पचीस तत्त्वोंकी कल्पना करना उचित नहीं है; क्योंकि यहाँ ये संख्यावाचक शब्द दूसरे-दूसरे भावको व्यक्त करनेवाले हैं । इसके सिवा, 'पञ्च-पञ्च'से पचीस संख्या माननेपर भी उक्त मन्त्रमें वर्णित आकाश और आत्माको लेकर सत्ताईस तत्त्व होते हैं; जो सांख्यमतकी निश्चित गणनासे अधिक हो जाते हैं । अतः यही मानना ठीक है कि वेदमें न तो सांख्यसम्मत स्वतन्त्र 'प्रधान'का वर्णन है और न पचीस तत्त्वोंका ही । जिस प्रकार श्वेताश्वतरोपनिषद्में 'अजा' शब्दसे उस परब्रह्म परमेश्वरकी अनादि शक्तिका वर्णन किया गया है, उसी प्रकार यहाँ 'पञ्च पञ्चजनाः' पदोंके द्वारा परमेश्वरकी अनेकविध कार्य-शक्तियोंका वर्णन है ।

सम्बन्ध—तब फिर यहाँ 'पञ्च पञ्चजनाः' पदोंके द्वारा किनका ग्रहण होता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

प्राणादयो वाक्यशेषात् ॥ १ । ४ । १२ ॥

वाक्यशेषात्=बादवाले मन्त्रमें कहे हुए वाक्यसे; **प्राणादयः**=(यहाँ) प्राण और इन्द्रियाँ ही ग्रहण करने योग्य हैं ।

व्याख्या—उपर्युक्त मन्त्रके बाद आया हुआ मन्त्र इस प्रकार है—'प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः । ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम् ।' (४ । ४ । १८) अर्थात् 'जो विद्वान् उस प्राणके प्राण, चक्षुके चक्षु, श्रोत्रके श्रोत्र तथा मनके भी मनको जानते हैं, वे उस आदि पुराण-पुरुष परमेश्वरको जानते हैं ।' इसके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि पूर्वमन्त्रमें 'पञ्च पञ्चजनाः' पदोंके द्वारा पञ्च प्राण, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय, मन तथा बुद्धि आदि परमेश्वरकी कार्यशक्तियोंका ही वर्णन है; क्योंकि उस ब्रह्मको ही उक्त मन्त्रमें प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र तथा मनका भी मन कहा गया है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस परब्रह्मके सम्बन्धसे ही प्राण आदि अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं, इसलिये यहाँ इनके रूपमें उसीकी शक्तिविशेषका विस्तार बताया गया है ।

सम्बन्ध—"माध्यन्दिनी शाखावालोंके पाठके अनुसार 'प्राणस्य प्राणम्' इत्यादि मन्त्रमें अन्नका भी वर्णन होनेसे प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और अन्नको लेकर पाँचकी संख्या पूर्ण हो जाती है; परन्तु काण्वशाखाके मन्त्रमें 'अन्न'का वर्णन नहीं है; अतः वहाँ उस परमेश्वरकी पञ्चविध कार्यशक्तियोंकी संख्या कैसे पूरी होगी ?" ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

ज्योतिषैकेषामसत्यन्ने ॥ १ । ४ । १३ ॥

एकेषाम्=एक शाखावालोंके पाठमें; **अन्ने**=अन्नका वर्णन; **असति**=न होनेपर; **ज्योतिषा**=पूर्ववर्णित 'ज्योति'के द्वारा (संख्या-पूर्ति की जा सकती है)।

व्याख्या—'माध्यन्दिनी' शाखावालोंके पाठके अनुसार इस मन्त्रमें ब्रह्मको 'प्राणका प्राण' आदि बताते हुए 'अन्नका अन्न' भी कहा गया है । अतः उनके पाठानुसार यहाँ पाँचकी संख्या पूर्ण हो जाती है । परन्तु काण्वशाखावालोंके पाठमें 'अन्नस्य अन्नम्' इस अंशका ग्रहण नहीं हुआ है; अतः उनके अनुसार चारका ही वर्णन होनेपर पाँचकी संख्या-पूर्तिमें एककी कमी रह जाती है । अतः सूत्रकार कहते हैं कि काण्वशाखाके पाठमें अन्नका ग्रहण न होनेसे जो एककी कमी रहती है, उसकी पूर्ति ४ । ४ । १६ के मन्त्रमें वर्णित 'ज्योति' के द्वारा कर लेनी चाहिये । वहाँ उस ब्रह्मको 'ज्योतिकी भी ज्योति' बताया गया है । सत्रहवें मन्त्रका वर्णन तो सङ्केतमात्र है, इसलिये उसमें पाँच संख्याकी पूर्ति करना आवश्यक नहीं है, तो भी ग्रन्थकारने किसी प्रकार भी प्रसङ्गवश उठनेवाली शङ्काका निराकरण करनेके लिये यह सूत्र कहा है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि 'श्रुतियोंमें जगत्के कारणका अनेक प्रकारसे वर्णन आया है । कहीं सत्से सृष्टि बतायी गयी है, कहीं असत्से । तथा जगत्की उत्पत्तिके क्रममें भी भेद है । कहीं पहले आकाशकी उत्पत्ति बतायी है, कहीं तेजकी, कहीं प्राणकी और कहीं अन्य किसीकी । इस प्रकार वर्णनमें भेद होनेसे वेदवाक्योंद्वारा यह निश्चित नहीं किया जा सकता कि जगत्का कारण केवल परब्रह्म परमेश्वर ही है तथा सृष्टिका क्रम अमुक प्रकारका ही है । इसपर कहते हैं—

कारणत्वेन चाकाशादिषु यथाव्यपदिष्टोक्तेः ॥ १ । ४ । १४ ॥

आकाशादिषु=आकाश आदि किसी भी क्रमसे रचे जानेवाले पदार्थोंमें; **कारणत्वेन**=कारणरूपसे; **च**=तो; **यथाव्यपदिष्टोक्तेः**=सर्वत्र एक ही वेदान्त-वर्णित ब्रह्मका प्रतिपादन किया गया है; इसलिये (परब्रह्म ही जगत्‌का कारण है)।

व्याख्या—वेदमें जगत्‌के कारणोंका वर्णन नाना प्रकारसे किया गया है तथा जगत्‌की उत्पत्तिका क्रम भी अनेक प्रकारसे बताया गया है, तथापि केवल परब्रह्मको ही जगत्‌का कारण माननेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि जगत्‌के दूसरे कारण जो आकाश आदि कहे गये हैं, उनका भी परम कारण परब्रह्मको ही बताया गया है। इससे ब्रह्मकी ही कारणता सिद्ध होती है, अन्य किसीकी नहीं। जगत्‌की उत्पत्तिके क्रममें जो भेद आता है, वह इस प्रकार है—कहीं तो 'आत्मन आकाशः संभूतः' (तै० उ० २ । १) इत्यादि श्रुतिके द्वारा आकाश आदिके क्रमसे सृष्टि बतायी गयी है। कहीं 'तत्तेजोऽसृजत' (छा० उ० ६ । २ । ३) इत्यादि मन्त्रोंद्वारा तेज आदिके क्रमसे सृष्टिका प्रतिपादन किया गया है। कहीं 'स प्राणमसृजत' (प्र० उ० ६ । ४) इत्यादि वाक्योंद्वारा प्राण आदिके क्रमसे सृष्टिका वर्णन किया गया है। कहीं 'स इमाँल्लोकानसृजत। अम्भो मरीचीर्मरमापः' (ऐ० उ० १ । १ । २) इत्यादि वचनोंद्वारा बिना किसी सुव्यवस्थित क्रमके ही सृष्टिका वर्णन मिलता है। इस प्रकार सृष्टि-क्रमके वर्णनमें भेद होनेपर भी कोई दोषकी बात नहीं है, बल्कि इस प्रकार विचित्र रचनाका वर्णन तो ब्रह्मके महत्त्वका ही द्योतक है। कल्पभेदसे ऐसा होना सम्भव भी है। इसलिये ब्रह्मको ही जगत्‌का कारण बताना सर्वथा सुसंगत है।

सम्बन्ध—"उपनिषदोंमें कहीं तो यह कहा है कि 'पहले एकमात्र असत् ही था' (तै० उ० २ । ७)। कहीं कहा है 'पहले केवल सत् ही था' (छा० उ० ६ । २ । १)। कहीं 'पहले अव्याकृत था' (बृह० उ० १ । ४ । ७) ऐसा वर्णन आता है। उपर्युक्त 'असत्' आदि शब्द ब्रह्मके वाचक कैसे हो सकते हैं ?" ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—

समाकर्षात् ॥ १ । ४ । १५ ॥

समाकर्षात्=आगे-पीछे कहे हुए वाक्यका पूर्णरूपसे आकर्षण करके उसके साथ सम्बन्ध जोड़ लेनेसे ('असत्' आदि शब्द भी ब्रह्मके ही वाचक सिद्ध होते हैं)।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्में जो यह कहा है कि 'असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।' (२ । ७) अर्थात् 'पहले यह असत् ही था। इसीसे सत् उत्पन्न हुआ।' यहाँ 'असत्' शब्द अभाव या मिथ्याका वाचक नहीं है; क्योंकि पहले अनुवाकमें ब्रह्मका लक्षण बताते हुए उसे सत्य, ज्ञान और अनन्त कहा गया है। फिर उसीसे आकाश आदिके क्रमसे समस्त जगत्की उत्पत्ति बतायी है। तदनन्तर छठे अनुवाकमें 'सोऽकामयत' के 'सः' पदसे उसी पूर्वानुवाकमें वर्णित ब्रह्मका आकर्षण किया गया है। तत्पश्चात् अन्तमें कहा गया है कि 'यह जो कुछ है, वह सत्य ही है—सत्यस्वरूप ब्रह्म ही है।' उसके बाद इसी विषयमें प्रमाणरूपमें श्लोक कहनेकी प्रतिज्ञा करके सातवें अनुवाकमें, 'असद् वा इदमग्र आसीत्' इत्यादि मन्त्र प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार पूर्वापर-प्रसङ्गको देखते हुए इस मन्त्रमें आया हुआ 'असत्' शब्द मिथ्या या अभावका वाचक सिद्ध नहीं होता; अतः वहाँ 'असत्'का अर्थ 'अप्रकट ब्रह्म' और उससे होनेवाले 'सत्' का अर्थ जगत् रूपमें 'प्रकट ब्रह्म' ही होगा। इसलिये यहाँ अर्थान्तरकी कल्पना अनावश्यक है।

इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में भी जो यह कहा गया है कि 'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशस्तस्योपव्याख्यानमसदेवेदमग्र आसीत्।' (छा० उ० ३ । १९ । १) अर्थात् 'आदित्य ब्रह्म है, यह उपदेश है, उसीका यह विस्तार है। पहले यह असत् ही था।' इत्यादि। यहाँ भी तैत्तिरीयोपनिषद्की भाँति 'असत्' शब्द 'अप्रकट ब्रह्म'का ही वाचक है; क्योंकि इसी मन्त्रके अगले वाक्यमें 'तत्सदासीत्' कहकर उसका 'सत्' नामसे भी वर्णन आया है। इसके सिवा, बृहदारण्यकोपनिषद्में स्पष्ट ही 'असत्'के स्थानमें 'अव्याकृत' शब्दका प्रयोग किया गया है। (बृह० उ० १ । ४ । ७) जो कि 'अप्रकट'का ही पर्याय है। अतः सब जगह पूर्वापरके प्रसङ्गमें कहे हुए शब्दों या वाक्योंका आकर्षण करके अन्वय करनेपर यही निश्चय होता है कि जगत्के कारणरूपसे भिन्न-भिन्न नामोंद्वारा उस पूर्णब्रह्म परमेश्वरका ही वर्णन है, अन्य किसीका नहीं। प्रकृति या प्रधानकी सार्थकता परमात्माकी एक शक्ति माननेसे ही हो सकती है; उनसे भिन्न स्वतन्त्र पदार्थान्तर माननेसे नहीं।

सम्बन्ध—ब्रह्म ही संपूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, जड प्रकृति जगत्का कारण नहीं हो सकती। यह दृढ़ करनेके लिये सूत्रकार कौषीतकि-उपनिषद्के प्रसङ्गपर विचार करते हुए कहते हैं—

जगद्वाचित्वात् ॥ १ । ४ । १६ ॥

जगद्वाचित्वात्=सृष्टि या रचनारूप कर्म जडचेतनात्मक संपूर्ण जगत्‌का वाचक है, इसलिये (चेतन परमेश्वर ही इसका कर्ता है, जड प्रकृति नहीं)।

व्याख्या—कौषीतकि-ब्राह्मणोपनिषद्‌में अजातशत्रु और बालाकिके संवाद-का वर्णन है। वहाँ बालाकिने 'य एवैष आदित्ये पुरुषस्तमेवाहमुपासे।' (४।२) अर्थात् 'जो सूर्यमें यह पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।' यहाँसे लेकर अन्तमें 'य एष सव्येऽक्षन् पुरुषस्तमेवाहमुपासे।' (४।१७)—जो यह बायीं आँखमें पुरुष है, उसकी मैं उपासना करता हूँ।' यहाँतक क्रमशः सोलह पुरुषोंकी उपासना करनेवाला अपनेको बताया; परन्तु उसकी प्रत्येक बातको अजातशत्रुने काट दिया। तब वह चुप हो गया। फिर अजातशत्रुने कहा—'बालाके! तू ब्रह्मको नहीं जानता, अतः मैं तुझे ब्रह्मका उपदेश करता हूँ। तेरे बताये हुए सोलह पुरुषोंका जो कर्ता है, जिसके ये सब कर्म हैं, वही जानने योग्य है।'* इस प्रकार वहाँ पुरुष-वाच्य जीवात्मा और उनके अधिष्ठानभूत जड शरीर दोनोंको ही परब्रह्म परमेश्वरका कर्म बताया गया है; अतः कर्म या कार्य शब्द जड-चेतनात्मक संपूर्ण जगत्‌का वाचक है। इसलिये जड प्रकृति इसका कारण नहीं हो सकती; परब्रह्म परमेश्वर ही इसका कारण है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकरणमें 'ज्ञेय' रूपसे बताया हुआ तत्त्व प्राण या जीव नहीं, ब्रह्म ही है, इसकी पुष्टिके लिये सूत्रकार कहते हैं—

जीवमुख्यप्राणलिङ्गान्नेति चेत्तद् व्याख्यातम् ॥ १ । ४ । १७ ॥

चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि; **जीवमुख्यप्राणलिङ्गात्**=(उस प्रसङ्गके वाक्यशेषमें) जीव तथा मुख्यप्राणके बोधक लक्षण पाये जाते हैं, इसलिये (प्राण-सहित जीव ही ज्ञेय तत्त्व होना चाहिये); **न**=ब्रह्म वहाँ ज्ञेय नहीं है; (तो) **तद् व्याख्यातम्**=इसका निराकरण पहले किया जा चुका है।

व्याख्या—यदि यह कहो, कि 'यहाँ वाक्यशेषमें जीव और मुख्यप्राणके सूचक लक्षणोंका स्पष्टरूपसे वर्णन है, इसलिये प्राणोंके सहित उसका अधिष्ठाता जीव ही जगत्‌का कर्ता एवं ज्ञेय बताया गया है।' तो यह उचित नहीं है; क्योंकि

* ब्रह्म ते ब्रवाणि स होवाच यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वै वेदितव्यः। (४।१८)

इस शङ्काका निवारण पहले (१ । १ । ३१ सूत्रमें) कर दिया गया है। वहाँ यह बता दिया गया है कि ब्रह्म सभी धर्मोंका आश्रय है, अतः जीव तथा प्राणके धर्मोंका उसमें बताया जाना अनुचित नहीं है। यदि जीव आदिको भी ज्ञेय तत्त्व मान लें तो त्रिविध उपासनाका प्रसङ्ग उपस्थित हो सकता है, जो उचित नहीं है।

सम्बन्ध—अब सूत्रकार इस विषयमें आचार्य जैमिनिकी सम्मति क्या है, यह बताते हैं—

अन्यार्थं तु जैमिनिः प्रश्नव्याख्यानाभ्यामपि चैवमेके ॥ १ । ४ । १८ ॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि; **तु**=तो (कहते हैं कि); **अन्यार्थम्**=(इस प्रकरणमें) जीवात्मा तथा मुख्यप्राणका वर्णन दूसरे ही प्रयोजनसे है; **प्रश्नव्याख्यानाभ्याम्**=क्योंकि प्रश्न और उत्तरसे यही सिद्ध होता है; **च**=तथा; **एके**=एक (काण्व) शाखावाले; **एवम् अपि**=ऐसा कहते भी हैं।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि पूर्व कथनका निराकरण करते हुए कहते हैं कि इस प्रकरणमें जो जीवात्मा और मुख्यप्राणका वर्णन आया है, वह मुख्यप्राण या जीवात्माको जगत्का कारण बतानेके लिये नहीं आया है, जिससे कि ब्रह्मको समस्त लक्षणोंका आश्रय बताकर उत्तर देनेकी आवश्यकता पड़े। यहाँ तो उनका वर्णन दूसरे ही प्रयोजनसे आया है। अर्थात् उनका ब्रह्ममें विलीन होना बताकर ब्रह्मको ही जगत्का कारण सिद्ध करनेके लिये उनका वर्णन है। भाव यह है कि जीवात्माकी सुषुप्ति-अवस्थाके वर्णनद्वारा सुषुप्तिके दृष्टान्तसे प्रलयकालमें सबका ब्रह्ममें ही विलय और सृष्टिकालमें पुनः उसीसे प्राकट्य बताकर ब्रह्मको ही जगत्का कारण सिद्ध किया गया है। यह बात प्रश्न और उसके उत्तरमें कहे हुए वचनोंसे सिद्ध होती है। इसके सिवा, काण्वशाखावालोंने तो अपने ग्रन्थमें इस विषयको और भी स्पष्ट कर दिया है। वहाँ अजातशत्रुने कहा है कि 'यत्रैष एतत्सुप्तोऽभूद् य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्छेते तानि यदा गृह्णात्यथ हैतत्पुरुषः स्वपिति नाम।' (बृह० उ० २ । १ । १७) अर्थात् 'यह विज्ञानमय पुरुष (जीवात्मा) जब सुषुप्ति-अवस्थामें स्थित था (सोता था), तब यह बुद्धिके सहित समस्त प्राणोंको अर्थात् मुख्यप्राण और समस्त इन्द्रियोंकी वृत्तिको लेकर उस आकाशमें सो रहा

था, जो हृदयके भीतर है। उस समय इसका नाम 'स्वपिति' होता है।' इत्यादि। इस वर्णनमें आया हुआ 'आकाश' शब्द परमात्माका वाचक है। अतः यह सिद्ध होता है कि यहाँ सुषुप्तिके दृष्टान्तसे यह बात समझायी गयी है कि जिस प्रकार यह जीवात्मा निद्राके समय समस्त प्राणोंके सहित परमात्मामें विलीन-सा हो जाता है, उसी प्रकार प्रलयकालमें यह जड-चेतनात्मक समस्त जगत् परब्रह्ममें विलीन हो जाता है; तथा सृष्टिकालमें जाग्रत्की भाँति पुनः प्रकट हो जाता है।

सम्बन्ध—आचार्य जैमिनि अपने मतकी पुष्टिके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

वाक्यान्वयात् ॥ १ । ४ । १९ ॥

वाक्यान्वयात्=पूर्वापर वाक्योंके समन्वयसे (भी उस प्रकरणमें आये हुए जीव और मुख्यप्राणके लक्षणोंका प्रयोग दूसरे ही प्रयोजनसे हुआ है, यह सिद्ध होता है)।

व्याख्या—प्रकरणके आरम्भ (कौ० उ० ४ । १८) में ब्रह्मको जानने योग्य बताकर अन्तमें उसीको जाननेवालेकी महिमाका वर्णन किया गया है। (कौ० उ० ४ । २०)। इस प्रकार पूर्वापरके वाक्योंका समन्वय करनेसे यही सिद्ध होता है कि बीचमें आया हुआ जीवात्मा और मुख्यप्राणका वर्णन भी उस परब्रह्म परमात्माको ही जगत्का कारण सिद्ध करनेके लिये है।

सम्बन्ध—इसी विषयमें आश्मरथ्य आचार्यका मत उपस्थित करते हैं—

प्रतिज्ञासिद्धेर्लिङ्गमित्याश्मरथ्यः ॥ १ । ४ । २० ॥

लिङ्गम्=उक्त प्रकरणमें जीवात्मा और मुख्यप्राणके लक्षणोंका वर्णन, ब्रह्मको ही जगत्का कारण बतानेके लिये हुआ है; **प्रतिज्ञासिद्धेः**=क्योंकि ऐसा माननेसे ही पहले की हुई प्रतिज्ञाकी सिद्धि होती है; **इति**=ऐसा; **आश्मरथ्यः**=आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—आश्मरथ्य आचार्यका कहना है कि अजातशत्रुने जो यह प्रतिज्ञा की थी कि "ब्रह्म ते ब्रवाणि—" 'तुझे ब्रह्मका स्वरूप बताऊँगा।' उसकी सिद्धि परब्रह्मको ही जगत्का कारण माननेसे हो सकती है, इसलिये उस प्रसङ्गमें जो जीवात्मा तथा मुख्य प्राणके लक्षणोंका वर्णन आया है, वह इसी बातको सिद्ध करनेके लिये है कि जगत्का कारण परब्रह्म परमात्मा ही है।

सम्बन्ध—अब इसी विषयमें आचार्य औडुलोमिका मत दिया जाता है—

उत्क्रमिष्यत एवं भावादित्यौडुलोमिः ॥ १ । ४ । २१॥

उत्क्रमिष्यतः=शरीर छोड़कर परलोकमें जानेवाले ब्रह्मज्ञानीका; **एवं भावात्**=इस प्रकार ब्रह्ममें विलीन होना (दूसरी श्रुतिमें भी बताया गया) है; इसलिये; (यहाँ जीवात्मा और मुख्यप्राणका वर्णन, परब्रह्मको ही जगत्का कारण बतानेके लिये है; **इति**=ऐसा; **औडुलोमिः**=औडुलोमि आचार्य मानते हैं ।

व्याख्या—जिस प्रकार इस प्रकरणमें सोते हुए मनुष्यके समस्त प्राणोंसहित जीवात्माका परमात्मामें विलीन होना बताया गया है, इसी प्रकार शरीर छोड़कर ब्रह्मलोकमें जानेवाले ब्रह्मज्ञानीकी गतिका वर्णन करते हुए मुण्डकोपनिषद्में कहा गया है कि—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥
यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।
तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥
(३ । २ । ७-८)

'ब्रह्मज्ञानी महापुरुषका जब देहपात होता है, तब पंद्रह कलाएँ और सम्पूर्ण देवता अपने-अपने कारणभूत देवताओंमें जाकर स्थित हो जाते हैं, फिर समस्त कर्म और विज्ञानमय जीवात्मा ये सब-के-सब परम अविनाशी ब्रह्ममें एक हो जाते हैं; जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपने नामरूपको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही विद्वान् ज्ञानी महात्मा नामरूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परम पुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।'

इससे यह सिद्ध होता है कि उक्त प्रकरणमें जो जीवात्मा और मुख्यप्राणका वर्णन हुआ है, वह सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण केवल परब्रह्मको बतानेके लिये ही है । ऐसा औडुलोमि आचार्य मानते हैं ।

सम्बन्ध—अब काशकृत्स्न आचार्यका मत उपस्थित करते हैं—

अवस्थितेरिति काशकृत्स्नः ॥ १ । ४ । २२ ॥

अवस्थितेः=प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्की स्थिति उस परमात्मामें ही होती है, इसलिये (उक्त प्रकरणमें जीव और मुख्यप्राणका वर्णन परब्रह्मको जगत्का

कारण सिद्ध करनेके लिये ही है)। **इति**=ऐसा; **काशकृत्स्नः**=काशकृत्स्न आचार्य मानते हैं।

व्याख्या—प्रलयकालमें सम्पूर्ण जगत्‌की स्थिति परमात्मामें ही बतायी गयी है (प्र० उ० ४ । ८-९); इससे भी यही सिद्ध होता है कि उक्त प्रसङ्गमें जो सुषुप्तिकालमें प्राण और जीवात्माका परमात्मामें विलीन होना बताया है, वह परब्रह्मको जगत्‌का कारण सिद्ध करनेके लिये ही है।

सम्बन्ध—"वेदमें 'शक्ति' (श्वेता० ६ । ८), 'अजा' (श्वेता० १ । ९ तथा ४ । ५), 'माया' (श्वेता० ४ । १०) तथा 'प्रधान' (श्वेता० १ । १०) आदि नामोंसे जिसका वर्णन किया गया है, उसीको ईश्वरकी अध्यक्षता-में जगत्‌का कारण बताया गया है। गीता आदि स्मृतियोंमें भी ऐसा ही वर्णन है (गीता ९ । १०)। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जगत्‌का निमित्त कारण अर्थात् अधिष्ठाता, नियामक, संचालक तथा रचयिता तो अवश्य ही ईश्वर है, परन्तु उपादान-कारण 'प्रकृति' तथा 'माया' नामसे कहा हुआ 'प्रधान' ही है।" ऐसा मान लें तो क्या आपत्ति है ? इसपर कहते हैं—

प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् ॥ १ । ४ । २३ ॥

प्रकृतिः=उपादान कारण; **च**=भी (ब्रह्म ही है); **प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरो-धात्**=क्योंकि ऐसा माननेसे ही श्रुतिमें आये हुए प्रतिज्ञा-वाक्य तथा दृष्टान्त-वाक्य बाधित नहीं होंगे।

व्याख्या—श्वेतकेतुके उपाख्यानमें उसके पिताने श्वेतकेतुसे पूछा है कि 'उत तमादेशमप्राक्ष्यो येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातम् ।' (छा० उ० ६ । १ । २-३) अर्थात् 'क्या तुमने अपने गुरुसे उस तत्त्वके उपदेश-के लिये भी जिज्ञासा की है, जिसके जाननेसे बिना सुना हुआ सुना हुआ हो जाता है, बिना मनन किया मनन किया हुआ हो जाता है तथा बिना जाना हुआ जाना हुआ हो जाता है ?' यह सुनकर श्वेतकेतुने अपने पितासे पूछा—'भगवन् ! वह उपदेश कैसा है ?' तब उसके पिताने दृष्टान्त देकर समझाया—'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्यात् ।' (छा० उ० ६ । १ । ४) अर्थात् 'जिस प्रकार एक मिट्टीके ढेलेका तत्त्व जान लेनेपर मिट्टीकी बनी सब वस्तु जानी हुई हो जाती है कि 'यह सब मिट्टी है।' इसके बाद आरुणिने इसी

प्रकार सोने और लोहेका भी दृष्टान्त दिया है । यहाँ पहले जो पिताने प्रश्न किया है, वह तो प्रतिज्ञा-वाक्य है, और मिट्टी आदिके उदाहरणसे जो समझाया गया है, वह दृष्टान्त-वाक्य है । यदि ब्रह्मसे भिन्न 'प्रधान'को यहाँ उपादान कारण मान लिया जाय तो उसके एक अंशको जाननेपर प्रधानका ही ज्ञान होगा, ब्रह्मका ज्ञान नहीं होगा । परंतु वहाँ ब्रह्मका ज्ञान कराना अभीष्ट है, अतः प्रतिज्ञा और दृष्टान्तकी सार्थकता भी जगत्‌का उपादान कारण ब्रह्मको माननेसे ही हो सकती है । मुण्डकोपनिषद् (१ । १ । २ तथा १ । १ । ७) में भी इसी प्रकार प्रतिज्ञा-वाक्य और दृष्टान्त-वाक्य मिलते हैं । बृहदारण्यकोपनिषद् (४ । ५ । ६, ८) में भी प्रतिज्ञा तथा दृष्टान्तपूर्वक उपदेश मिलता है । उन सब स्थलोंमें भी उनकी सार्थकता पूर्ववत् ब्रह्मको जगत्‌का कारण माननेसे ही हो सकती है; यह समझ लेना चाहिये ।

श्वेताश्वतरोपनिषद् आदिमें अजा, माया, शक्ति और प्रधान आदि नामोंसे जिसका वर्णन है, वह कोई स्वतन्त्र तत्त्व नहीं है । वह तो भगवान्‌के अधीन रहनेवाली उन्हींकी शक्तिविशेषका वर्णन है । यह बात वहाँके प्रकरणको देखनेसे स्वतः स्पष्ट हो जाती है । आगे-पीछेके वर्णनपर विचार करनेसे भी यही सिद्ध होता है । श्वेताश्वतरोपनिषद्‌में यह स्पष्ट कहा गया है कि 'उस परमेश्वरकी ज्ञान, बल और क्रियारूप नाना प्रकारकी दिव्य शक्तियाँ स्वाभाविक सुनी जाती हैं, (६ । ८)* तथा उस परमेश्वरका उससे भिन्न कोई कार्यकरण (शरीर-इन्द्रिय आदि) नहीं हैं ।' (६ । ८)† इससे भी यही सिद्ध होता है कि उस परमेश्वरकी शक्ति उससे भिन्न नहीं है । अग्निके उष्णत्व और प्रकाशकी भाँति उसका वह स्वभाव ही है । इसीलिये परमात्माको बिना मन और इन्द्रियोंके उन सबका कार्य करनेमें समर्थ कहा गया है । (श्वेता० ३ । १९)‡

* यह मन्त्र पृष्ठ २ की टिप्पणीमें आया है ।

† **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते ।'**

‡ **अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः ।**
स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम् ॥

'वह परमात्मा हाथ-पैरसे रहित होकर भी समस्त वस्तुओंको ग्रहण करनेवाला तथा वेगपूर्वक गमन करनेवाला है । आँखोंके बिना ही सब कुछ देखता है, बिना कानोंके ही सब कुछ सुनता है, जाननेमें आनेवाली सब वस्तुओंको जानता है, परंतु उसको जाननेवाला कोई नहीं है । ज्ञानीजन उसे महान् आदिपुरुष कहते हैं ।'

भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने जड प्रकृतिको सांख्योंकी भाँति जगत्‌का उपादान कारण नहीं बताया है; किन्तु अपनी अध्यक्षतामें अपनी ही स्वरूपभूता प्रकृतिको चराचर जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाली कहा है (गीता ९ । १०) । जड प्रकृति जड और चेतन दोनोंका उपादान कारण किसी प्रकार भी नहीं हो सकती । अतः इस वर्णनमें प्रकृतिको भगवान्‌की स्वरूपभूता शक्ति ही समझना चाहिये । इसके सिवा, भगवान्‌ने सातवें अध्यायमें परा और अपरा नामसे अपनी दो प्रकृतियोंका वर्णन करके (७ । ४-५) अपनेको समस्त जड-चेतनात्मक जगत्‌का प्रभव और प्रलय बताते हुए (७ । ६) सबका महाकारण बताया है (७।७)। अतः श्रुतियों और स्मृतियोंके वर्णनसे यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर ही जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है।

सम्बन्ध—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये फिर कहते हैं—

अभिध्योपदेशाच्च ॥ १ । ४ । २४ ॥

अभिध्योपदेशात्=अभिध्या—चिन्तन अर्थात् संकल्पपूर्वक सृष्टि-रचनाका श्रुतिमें वर्णन होनेसे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि जगत्‌का उपादान कारण ब्रह्म ही है) ।

व्याख्या—श्रुतिमें जहाँ सृष्टिरचनाका प्रकरण है, वहाँ स्पष्ट कहा गया है कि 'सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय' (तै० उ० २ । ६) अर्थात् 'उसने संकल्प किया कि मैं एक ही बहुत हो जाऊँ, अनेक रूपोंमें प्रकट होऊँ ।' तथा 'तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय' (छा० उ० ६।२।३) 'उसने ईक्षण—संकल्प किया कि मैं बहुत होऊँ, अनेक रूपोंमें प्रकट हो जाऊँ ।' इस प्रकार अपनेको ही विविध रूपोंमें प्रकट करनेका संकल्प लेकर सृष्टिकर्ता परमात्माके सृष्टिरचनामें प्रवृत्त होनेका वर्णन श्रुतियोंमें उपलब्ध होता है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमेश्वर स्वयं ही जगत्‌का उपादान कारण है । इसके सिवा, श्रुतिमें यह भी कहा गया है कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत ।' (छा० उ० ३ । १४ । १) अर्थात् 'निश्चय ही यह सब कुछ ब्रह्म है; क्योंकि उससे उत्पन्न होता, उसीमें स्थित रहता तथा अन्तमें उसीमें लीन होता है, इस प्रकार शान्तचित्त होकर उपासना (चिन्तन) करे ।' इससे भी उपर्युक्त बातकी ही सिद्धि होती है ।

सम्बन्ध—उक्त मतकी पुष्टिके लिये सूत्रकार कहते हैं—

साक्षाच्चोभयाम्नानात् ॥ १ । ४ । २५ ॥

साक्षात्=श्रुति साक्षात् अपने वचनोंद्वारा; **च**=भी; **उभयाम्नानात्**=ब्रह्मके उभय (उपादान और निमित्त) कारण होनेकी बात दुहराती है, इससे भी (ब्रह्म ही उपादान कारण सिद्ध होता है, प्रकृति नहीं) ।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद्में इस प्रकार वर्णन आता है—'एक समय कुछ महर्षि यह विचार करनेके लिये एकत्र हुए कि जगत्का कारण कौन है ? हम किससे उत्पन्न हुए हैं ? किससे जी रहे हैं ? हमारी स्थिति कहाँ है ? हमारा अधिष्ठाता कौन है ? कौन हमें नियमपूर्वक सुख-दुःखमें नियुक्त करता है ? उन्होंने सोचा, कोई कालको, कोई स्वभावको, कोई कर्मको, कोई होनहार-को, कोई पाँचों महाभूतोंको, कोई उनके समुदायको कारण मानते हैं, इनमें ठीक-ठीक कारण कौन है ? यह निश्चय करना चाहिये । फिर उनके मनमें यह विचार उठा कि इनमेंसे एक या इनका समुदाय जगत्का कारण नहीं हो सकता; क्योंकि ये चेतनके अधीन हैं, स्वतन्त्र नहीं हैं । तथा जीवात्मा भी कारण नहीं हो सकता; क्योंकि वह सुख-दुःखका भोक्ता और पराधीन है ।* फिर उन्होंने ध्यानयोगमें स्थित होकर उस परमदेव परमेश्वरकी अपने गुणोंसे छिपी हुई अपनी ही स्वरूपभूता शक्तिका दर्शन किया; जो परमेश्वर अकेला ही पूर्वोक्त कालसे लेकर आत्मातक समस्त कारणोंपर शासन करता है ।†

उपर्युक्त वर्णनमें स्पष्ट ही उस परमात्माको सबका उपादान कारण और सञ्चालक (निमित्त कारण) बताया है । इसके सिवा, इसी उपनिषद्के २ । १६ में तथा दूसरे-दूसरे उपनिषदोंमें भी जगह-जगह उस परमात्माको सर्वरूप कहा है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर ही इस जगत्का उपादान और निमित्त कारण है ।

---

* किं कारणं ब्रह्म कुतः स्म जाता जीवाम केन क्व च सम्प्रतिष्ठाः ।
अधिष्ठिताः केन सुखेतरेषु वर्तामहे ब्रह्मविदो व्यवस्थाम् ॥
कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्या ।
संयोग एषां न त्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥
(श्वेता० १ । १-२)

† यह मन्त्र पृष्ठ ८० में आ गया है ।

सम्बन्ध—अब उक्त बातकी सिद्धिके लिये ही दूसरा प्रमाण देते हैं—

आत्मकृतेः ॥ १ । ४ । २६ ॥

आत्मकृतेः=स्वयं अपनेको जगत्‌रूपमें प्रकट करनेका वर्णन होनेसे (ब्रह्म ही जगत्‌का उपादान कारण सिद्ध होता है)।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२ । ७)में कहा है कि 'प्रकट होनेसे पहले यह जगत् अव्यक्तरूपमें था, उससे ही यह प्रकट हुआ है, उस परब्रह्म परमेश्वरने स्वयं अपनेको ही इस जगत्‌के रूपमें प्रकट किया।' इस प्रकार कर्ता और कर्मके रूपमें उस एक ही परमात्माका वर्णन होनेसे स्पष्ट ही श्रुतिका यह कथन हो जाता है कि ब्रह्म ही इसका निमित्त और उपादान कारण है।

सम्बन्ध—यहाँ यह शङ्का होती है कि परमात्मा तो पहलेसे ही नित्य कर्तारूपमें स्थित है, वह कर्म कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—

परिणामात् ॥ १ । ४ । २७ ॥

परिणामात्=श्रुतिमें उसके जगत्‌रूपमें परिणत होनेका वर्णन होनेसे (यही मानना चाहिये कि वह ब्रह्म ही इस जगत्‌का कर्ता है और वह स्वयं ही इस रूपमें बना है)।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद् (२ । ६)में कहा है कि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च। निलयनं चानिलयनं च। विज्ञानं चाविज्ञानं च। सत्यं चानृतं च। सत्यमभवत्। यदिदं किञ्च। तत्सत्यमित्याचक्षते।' अर्थात् 'उस जगत्‌को रचना करनेके अनन्तर वह परमात्मा स्वयं उसमें साथ-साथ प्रविष्ट हो गया। उसमें प्रविष्ट होकर वह स्वयं ही सत् (मूर्त) और त्यत् (अमूर्त) भी हो गया। बतानेमें आनेवाले और न आनेवाले, आश्रय देनेवाले और न देनेवाले तथा चेतन और जड, सत्य और मिथ्या इन सबके रूपमें सत्यस्वरूप परमात्मा ही हो गया। जो कुछ भी यह दीखता और अनुभवमें आता है, वह सत्य ही है, इस प्रकार ज्ञानीजन कहते हैं।' इस प्रकार श्रुतिने परब्रह्म परमात्माके ही सब रूपोंमें परिणत होनेका प्रतिपादन किया है; इसलिये वही इस जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है। परिणामका अर्थ यहाँ विकार नहीं है। जैसे सूर्य अपनी अनन्त किरणोंका सब ओर प्रसार करते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर अपनी अनन्त अचिन्त्य ऐश्वर्यशक्तियोंका

विक्षेप करते हैं; उनके इस शक्तिविक्षेपसे ही विचित्र जगत्‌का प्रादुर्भाव स्वतः होने लगता है। अतः यही समझना चाहिये कि निर्विकार एकरस परमात्मा अपने स्वरूपसे अच्युत एवं अविकृत रहते हुए ही अपनी अचिन्त्य शक्तियोंद्वारा जगत्‌के रूपमें प्रकट हो जाते हैं; अतः उनका कर्ता और कर्म होना—उपादान एवं निमित्त कारण होना सर्वथा सुसंगत है।

सम्बन्ध—इसीके समर्थनमें सूत्रकार दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

योनिश्च हि गीयते ॥ १ । ४ । २८ ॥

हि=क्योंकि; **योनिः**=(वेदान्तमें ब्रह्मको) योनि; **च**=भी; **गीयते**=कहा जाता है (इसलिये ब्रह्म ही उपादान कारण है)।

व्याख्या—'योनि'का अर्थ उपादान कारण होता है। उपनिषदोंमें अनेक स्थलोंपर परब्रह्म परमात्माको 'योनि' कहा गया है; जैसे—'कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्' (मु० उ० ३ । १ । ३) अर्थात् 'जो सबके कर्ता, सबके शासक तथा ब्रह्माजीकी भी योनि (उपादान कारण) परम पुरुषको देखता है।' 'भूत-योनिं परिपश्यन्ति धीराः' (मु० उ० १ । १ । ६)—'उस समस्त प्राणियों-की योनि (उपादान कारण)को ज्ञानीजन सर्वत्र परिपूर्ण देखते हैं।' इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंमें परब्रह्म परमात्माको समस्त भूत-प्राणियोंकी 'योनि' बताया गया है; इसलिये वही सम्पूर्ण जगत्‌का उपादान कारण है। 'यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च' (मु० उ० १ । १ । ७) इत्यादि मन्त्रके द्वारा यह बताया गया है कि 'जैसे मकड़ी अपने शरीरसे ही जालेको बनाती और फिर उसीमें निगल लेती है, उसी प्रकार अक्षरब्रह्मसे यह सम्पूर्ण जगत् प्रकट होता है।' इसके अनुसार भी यही सिद्ध होता है कि एकमात्र परब्रह्म परमेश्वर ही इस जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्‌का निमित्त और उपादान कारण है। अतः यह समस्त चराचर विश्व भगवान्‌का ही स्वरूप है। ऐसा समझकर मनुष्यको उनके भजन-स्मरणमें लग जाना चाहिये; और सबके साथ व्यवहार करते समय भी इस बातको सदा ध्यानमें रखना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार अपने मतकी स्थापना और अपनेसे विरुद्ध मतोंका खण्डन करनेके पश्चात् इस अध्यायके अन्तमें सूत्रकार कहते हैं—

एतेन सर्वे व्याख्याता व्याख्याताः ॥ १ । ४ । २९ ॥

एतेन=इस विवेचनसे; **सर्वे व्याख्याताः**=सभी पूर्वपक्षियोंके प्रश्नोंका उत्तर दे दिया गया। **व्याख्याताः**=उत्तर दे दिया गया।

व्याख्या—इस प्रकार विवेचनपूर्वक यह सिद्धान्त स्थिर कर दिया गया कि 'ब्रह्म ही जगत्‌का उपादान और निमित्त कारण है; सांख्यकथित प्रधान (जडप्रकृति) नहीं।' इस विवेचनसे प्रधानकारणवादी सांख्योंकी ही भाँति परमाणुकारणवादी नैयायिक आदिके मतोंका भी निराकरण कर दिया गया—यह सूत्रकार स्पष्ट शब्दोंमें घोषित करते हैं। 'व्याख्याताः' पदका दो बार प्रयोग अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है।

चौथा पाद सम्पूर्ण।

श्रीवेदव्यासरचित वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र)का

पहला अध्याय पूरा हुआ।



श्रीपरमात्मने नमः

दूसरा अध्याय

पहला पाद

सम्बन्ध—पहले अध्यायमें यह सिद्ध किया गया कि समस्त वेदान्तवाक्य एक स्वरसे परब्रह्म परमेश्वरको ही जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बताते हैं। इसीलिये उस अध्यायको 'समन्वयाध्याय' कहते हैं। ब्रह्म ही सम्पूर्ण विश्वका कारण है; इस विषयको लेकर श्रुतियोंमें कोई मतभेद नहीं है। प्रधान आदि अन्य जडवर्गको कारण बतानेवाले सांख्य आदिके मतोंको शब्दप्रमाण-शून्य बताकर तथा अन्य भी बहुत-से हेतु देकर उनका निराकरण किया गया है। अब यह सिद्ध करनेके लिये कि श्रुतियोंका न तो स्मृतियोंसे विरोध है और न आपसमें ही एक श्रुतिसे दूसरी श्रुतिका विरोध है; यह 'अविरोध' नामक दूसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसमें पहले सांख्यवादीकी ओरसे शङ्का उपस्थित करके सूत्रकार उसका समाधान करते हैं—

स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्ग इति चेन्नान्यस्मृत्य-नवकाशदोषप्रसङ्गात् ॥ २ । १ । १ ॥

चेत्=यदि कहो; **स्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गः**=प्रधानको जगत्‌का कारण न माननेसे सांख्यस्मृतिको अवकाश (मान्यता) न देनेका दोष उपस्थित होगा; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **अन्यस्मृत्यनवकाशदोषप्रसङ्गात्**=क्योंकि उसको मान्यता देनेपर दूसरी अनेक स्मृतियोंको मान्यता न देनेका दोष आता है।

व्याख्या—"यदि कहा जाय कि 'प्रधान'को जगत्‌का कारण न मानकर 'ब्रह्म'को ही माना जायगा तो सर्वज्ञ कपिल ऋषिद्वारा बनायी हुई सांख्यस्मृतिको अवकाश न देनेका—उसे प्रमाण न माननेका प्रसङ्ग आयेगा, इसलिये प्रधानको जगत्‌का कारण अवश्य मानना चाहिये।" तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि सांख्यशास्त्रको मान्यता देकर यदि प्रकृतिको जगत्‌का कारण मान लें तो दूसरे-

दूसरे महर्षियोंद्वारा बनायी हुई स्मृतियोंको न माननेका दोष उपस्थित हो सकता है; इसलिये वेदानुकूल स्मृतियोंको ही प्रमाण मानना उचित है; न कि वेदके प्रतिकूल अपनी इच्छाके अनुसार बनायी हुई स्मृतिको । दूसरी स्मृतियोंमें स्पष्ट ही परब्रह्म परमेश्वरको जगत्का कारण बताया है । (श्रीमद्भगवद्गीता)* विष्णुपुराण † और मनुस्मृति ‡ आदिमें भी समस्त जगत्की उत्पत्ति परमात्मासे ही बतायी गयी है । इसलिये वास्तवमें श्रुतियोंके साथ स्मृतियोंका कोई विरोध नहीं है । यदि कहीं विरोध हो भी तो वहाँ स्मृतिको छोड़कर श्रुतिके कथनको ही मान्यता देनी चाहिये; क्योंकि वेद और स्मृतिके विरोधमें वेद ही बलवान् माना गया है ।

सम्बन्ध—सांख्यशास्त्रोक्त 'प्रधान' को जगत्का कारण न माननेमें कोई दोष नहीं है, इस बातकी पुष्टिके लिये दूसरा कारण उपस्थित करते हैं—

इतरेषां चानुपलब्धेः ॥ २ । १ । २ ॥

च=तथा; **इतरेषाम्**=अन्य स्मृतिकारोंके (मतमें); **अनुपलब्धेः**=प्रधान-कारणवादकी उपलब्धि नहीं होती, इसलिये (भी प्रधानको जगत्का कारण न मानना उचित ही है) ।

---

* **एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।**
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा ॥ (गीता ७ । ६)

'पहले कही हुई मेरी परा और अपरा प्रकृतियाँ सम्पूण प्राणियोंकी योनि हैं, ऐसा समझो । तथा मैं जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूँ ।'

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥ (गीता ९ । ८)

'मैं अपनी प्रकृतिका अवलम्बन करके, प्रकृतिके वशसे विवश हुए इस समस्त भूतसमुदायको बारंबार नाना प्रकारसे रचता हूँ ।'

† **विष्णोः सकाशादुद्भूतं जगत्तत्रैव च स्थितम् ।**
स्थितिसंयमकर्तासौ जगतोऽस्य जगच्च सः ॥ (वि० पु० १ । १ । ३१)

'यह सम्पूर्ण जगत् भगवान् विष्णुसे उत्पन्न हुआ है और उन्हींमें स्थित है । वे इस जगत्के पालक और संहारकर्ता हैं तथा सम्पूर्ण जगत् उन्हींका स्वरूप है ।'

‡ **सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।**
अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत् ॥ (मनु० १ । ८)

'उन्होंने अपने शरीरसे नाना प्रकारकी प्रजाको उत्पन्न करनेकी इच्छासे सङ्कल्प करके पहले जलकी ही सृष्टि की फिर उस जलमें अपनी शक्तिरूप वीर्यका आधान किया ।'

व्याख्या—मनु आदि जो दूसरे स्मृतिकार हैं, उनके ग्रन्थोंमें सांख्यशास्त्रोक्त प्रक्रियाके अनुसार प्रधानको कारण मानने और उससे सृष्टिके होनेका वर्णन नहीं मिलता है; इसलिये इस विषयमें सांख्यशास्त्रको प्रमाण न मानना उचित ही है।

सम्बन्ध—'सांख्यकी सृष्टि-प्रक्रियाको योगशास्त्रके प्रवर्तक पातञ्जल भी मानते हैं, अतः उसको मान्यता क्यों न देनी चाहिये ?' इसपर कहते हैं—

एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥ २ । १ । ३ ॥

एतेन=इस पूर्वोक्त विवेचनसे; **योगः**=योगशास्त्रका भी; **प्रत्युक्तः**=प्रत्युत्तर हो गया।

व्याख्या—उपर्युक्त विवेचनसे अर्थात् पूर्वसूत्रोंमें जो कारण बताये गये हैं, उन्हींसे पातञ्जल-योगशास्त्रकी भी उस मान्यताका निराकरण हो गया, जिसमें उन्होंने दृश्य (जड प्रकृति) को जगत्‌का स्वतन्त्र कारण कहा है; क्योंकि अन्य विषयोंमें योगका सांख्यके साथ मतभेद होनेपर भी जड प्रकृतिको जगत्‌का कारण माननेमें दोनों एकमत हैं; अतः एकके ही निराकरणसे दोनोंका निराकरण हो गया।

सम्बन्ध—पूर्वप्रकरणमें यह कहा गया है कि वेदानुकूल स्मृतियोंको ही प्रमाण मानना आवश्यक है, इसलिये वेदविरुद्ध सांख्यस्मृतिको मान्यता न देना अनुचित नहीं है। इसलिये पूर्वपक्षी वेदके वर्णनसे सांख्य-मतकी एकता दिखानेके लिये कहता है—

न विलक्षणत्वादस्य तथात्वं च शब्दात् ॥ २ । १ । ४ ॥

न=चेतन ब्रह्म जगत्‌का कारण नहीं है; **अस्य विलक्षणत्वात्**=क्योंकि यह कार्यरूप जगत् उस (कारण) से विलक्षण (जड) है; **च**=और; **तथात्वम्**=उसका जड होना; **शब्दात्**=शब्द (वेद) प्रमाणसे सिद्ध है।

व्याख्या—श्रुतिमें परब्रह्म परमात्माको सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त आदि लक्षणोंवाला बताया गया है (तै० उ० २ । १) और जगत्‌को ज्ञानरहित (तै० उ० २ । ६) अर्थात् जड कहा गया है। अतः श्रुति-प्रमाणसे ही इसकी परमेश्वरसे विलक्षणता सिद्ध होती है। कारणसे कार्यका विलक्षण होना युक्तिसंगत नहीं है; इसलिये चेतन परब्रह्म परमात्माको अचेतन जगत्‌का कारण नहीं मानना चाहिये।

सम्बन्ध—यदि कहो, अचेतन कहे जानेवाले आकाश आदि तत्त्वोंका भी श्रुतिमें चेतनकी भाँति वर्णन मिलता है । जैसे—'तत्तेज ऐक्षत' (छा० उ० ६ । २ । ३)—'उस तेजने विचार किया ।' 'ता आप ऐक्षन्त' (छा० उ० ६ । २ । ४) 'उस जलने विचार किया ।' इत्यादि । तथा पुराणोंमें नदी, समुद्र, पर्वत आदिका भी चेतन-जैसा वर्णन किया गया है । इस प्रकार चेतन होनेके कारण यह जगत् चेतन परमात्मासे विलक्षण नहीं है; इसलिये चेतन परमात्माको इसका कारण माननेमें कोई आपत्ति नहीं है, तो इसका उत्तर इस प्रकार दिया जाता है—

अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥ २ । १ । ५ ॥

तु=किन्तु; (वहाँ तो) **अभिमानिव्यपदेशः**=उन-उन तत्त्वोंके अभिमानी देवताओंका वर्णन है; (यह बात) **विशेषानुगतिभ्याम्**=विशेष शब्दोंके प्रयोग-से तथा उन तत्त्वोंमें देवताओंके प्रवेशका वर्णन होनेसे (सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—श्रुतिमें जो 'तेज, जल आदिने विचार किया' इत्यादि रूपसे जड तत्त्वोंमें चेतनके व्यवहारका कथन है, वह तो उन तत्त्वोंके अभिमानी देवताओंको लक्ष्य करके है । यह बात उन-उन स्थलोंमें प्रयुक्त हुए विशेष शब्दोंसे सिद्ध होती है । जैसे तेज, जल और अन्न—इन तीनोंकी उत्पत्तिका वर्णन करनेके बाद इन्हें 'देवता' कहा गया है (छा० उ० ६ । ३ । २) । तथा ऐतरेयोपनिषद् (१ । २ । ४) में 'अग्नि वाणी बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, वायु प्राण बनकर नासिकामें प्रविष्ट हुआ ।' इस प्रकार उनकी अनुगतिका उल्लेख होनेसे भी उनके अभिमानी देवताओंका ही वर्णन सिद्ध होता है । इसलिये ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण बताना युक्ति-संगत नहीं है, क्योंकि आकाश आदि जड तत्त्व भी इस जगत्में उपलब्ध होते हैं, जो कि चेतन ब्रह्मके धर्मोंसे सर्वथा विपरीत लक्षणोंवाले हैं ।

सम्बन्ध—ऊपर उठायी हुई शङ्काका ग्रन्थकार उत्तर देते हैं—

दृश्यते तु ॥ २ । १ । ६ ॥

तु=किन्तु; **दृश्यते**=श्रुतिमें उपादानसे विलक्षण वस्तुकी उत्पत्तिका वर्णन भी देखा जाता है (अतः ब्रह्मको जगत्का उपादान कारण मानना अनुचित नहीं है) ।

व्याख्या—यह कहना ठीक नहीं है कि उपादानसे उत्पन्न होनेवाला कार्य उससे विलक्षण नहीं हो सकता; क्योंकि मनुष्य आदि चेतन व्यक्तियोंसे नख-लोम आदि जड वस्तुओंकी उत्पत्तिका वर्णन वेदमें देखा जाता है। जैसे, 'यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् संभवतीह विश्वम्।' (मु० उ० १।१।७) अर्थात् 'जैसे जीवित मनुष्यसे केश और रोएँ उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार अविनाशी परब्रह्मसे यह सब जगत् उत्पन्न होता है।' सजीव चेतन पुरुषसे जड नख-लोम आदिकी उत्पत्ति उससे सर्वथा विलक्षण ही तो है। अतः ब्रह्मको जगत्का कारण मानना युक्तिसंगत तथा श्रुति-स्मृतियोंसे अनुमोदित है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—*इसी विषयमें दूसरी शङ्का उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं*—

असदिति चेन्न प्रतिषेधमात्रत्वात् ॥ २ । १ । ७ ॥

चेत्=यदि कहो; (ऐसा माननेसे) **असत्**=असत्कार्यवाद अर्थात् जिसकी सत्ता नहीं है, ऐसी वस्तुकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित होगा; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **प्रतिषेधमात्रत्वात्**=क्योंकि वहाँ 'असत्' शब्द प्रतिषेध-मात्रका अर्थात् सर्वथा अभावका बोधक है।

व्याख्या—यदि कहो 'अवयवरहित चेतन ब्रह्मसे सावयव जड-वर्गकी उत्पत्ति माननेपर जो वस्तु पहले नहीं थी, उसकी उत्पति माननेका दोष उपस्थित होगा, जो कि श्रुति-प्रमाणके विरुद्ध है, क्योंकि वेदमें असत्से सत्की उत्पत्तिको असंभव बताया गया है।' तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि वहाँ वेदमें कारणसे विलक्षण कार्यकी उत्पत्तिका निषेध नहीं है; अपितु 'असत्'शब्दवाच्य अभावसे भावकी उत्पत्तिको असंभव कहा गया है। वेदान्त शास्त्रमें अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं मानी गयी है; किन्तु सत्स्वरूप सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मामें जो जडचेतनात्मक जगत शक्तिरूपसे विद्यमान होते हुए भी अप्रकट रहता है, उसीका उसके सङ्कल्पसे प्रकट होना उत्पत्ति है। इसलिये परब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति मानना असत्से सत्की उत्पत्ति मानना नहीं है।

सम्बन्ध—*इसपर पुनः पूर्वपक्षीकी ओरसे शङ्का उपस्थित की जाती है*—

अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम् ॥ २ । १ । ८ ॥

अपीतौ=(ऐसा माननेपर) प्रलयकालमें; **तद्वत्प्रसङ्गात्**=ब्रह्मका उस संसारके जडत्व और सुख-दु:खादि धर्मोंसे युक्त माननेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा, इसलिये; **असमञ्जसम्**=उपर्युक्त मान्यता युक्तिसंगत नहीं है ।

व्याख्या—यदि प्रलयकालमें भी संपूर्ण जगत्का उस परब्रह्म परमात्मामें विद्यमान रहना माना जायगा, तब तो उस ब्रह्मको जड प्रकृतिके जडत्व तथा जीवोंके सुख-दु:ख आदि धर्मोंसे युक्त माननेका प्रसङ्ग आ जायगा, जो किसीको मान्य नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें उस परब्रह्म परमेश्वरको सदैव जडत्व आदि धर्मोंसे रहित, निर्विकार और सर्वथा विशुद्ध बताया गया है । इसलिये उपर्युक्त मान्यता युक्तियुक्त नहीं है ।

सम्बन्ध—अब सूत्रकार उपर्युक्त शङ्काका निराकरण करते हैं—

न तु दृष्टान्तभावात् ॥ २ । १ । ९ ॥

(उपर्युक्त वेदसम्मत सिद्धान्तमें) **तु**=नि:संदेह; **न**=पूर्वसूत्रमें बताये हुए दोष नहीं है; **दृष्टान्तभावात्**=क्योंकि ऐसे बहुत-से दृष्टान्त उपलब्ध होते हैं (जिनसे कारणमें कार्यके विलीन हो जानेपर भी उसमें कार्यके धर्म नहीं रहनेकी बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—पूर्वसूत्रमें की हुई शङ्का समीचीन नहीं है; क्योंकि कार्यके अपने कारणमें विलीन हो जानेके बाद उसके धर्म कारणमें रहते हैं, ऐसा नियम नहीं है; अपितु इसके विपरीत बहुत-से दृष्टान्त मिलते हैं । अर्थात् जब कार्य कारणमें विलीन होता है, तब उसके धर्म भी कारणमें विलीन हो जाते हैं, ऐसा देखा जाता है । जैसे सुवर्णसे बने हुए आभूषण जब अपने कारणमें विलीन हो जाते हैं, तब उन आभूषणोंके धर्म सुवर्णमें नहीं देखे जाते हैं । तथा मिट्टीसे बने हुए घट आदि पात्र जब अपने कारण मृत्तिकामें विलीन हो जाते हैं, तब घट आदिके धर्म उस मृत्तिकामें नहीं देखे जाते हैं । इसी प्रकार और भी बहुत-से दृष्टान्त हैं । इससे यही सिद्ध हुआ कि प्रलयकाल या सृष्टिकालमें और किसी भी अवस्थामें कारण अपने कार्यके धर्मोंसे लिप्त नहीं होता है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त सूत्रमें वादीकी शङ्काका निराकरण किया गया । अब उसके द्वारा उठाये हुए दोषोंकी उसीके मतमें व्याप्ति बताकर अपने मतको निर्दोष सिद्ध करते हैं—

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २ । १ । १० ॥

स्वपक्षदोषात्=वादीके अपने पक्षमें उपर्युक्त सभी दोष आते हैं, इसलिये; **च**=भी; प्रधानको जगत्का कारण मानना ठीक नहीं है ।

व्याख्या—सांख्यमतावलम्बी स्वयं यह मानते हैं कि जगत्का कारणरूप प्रधान अवयवरहित, अव्यक्त और अग्राह्य है । उससे साकार, व्यक्त तथा देखने-सुननेमें आनेवाले जगत्की उत्पत्ति मानना तो कारणसे विलक्षण कार्यकी उत्पत्ति माननेका दोष स्वीकार करना है । तथा जगत्की उत्पत्तिके पहले कार्यके शब्द, स्पर्श आदि धर्म प्रधानमें नहीं रहते और कार्यकी उत्पत्तिके पश्चात् कार्यमें आ जाते हैं, यह माननेके कारण उनके मतमें असत्से सत्की उत्पत्ति स्वीकार करनेका दोष भी ज्यों-का-त्यों रहा । इसके सिवा, प्रलयकालमें जब समस्त कार्य प्रधानमें विलीन हो जाते हैं, उस समय कार्यके शब्द, स्पर्श आदि धर्म प्रधानमें नहीं रहते; ऐसी मान्यता होनेके कारण वादीके मतमें भी कारणमें कार्यके धर्म आ जानेकी शङ्का पूर्ववत् बनी रहती है । इसलिये वादीके द्वारा उपस्थित किये हुए तीनों दोष उसके प्रधानकारणवादमें ही पाये जाते हैं, अतः प्रधानको जगत्का कारण मानना कदापि उचित नहीं है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथनपर वादीद्वारा किये जा सकनेवाले आक्षेपको स्वयं उपस्थित करके सूत्रकार उसका निराकरण करते हैं—

तर्काप्रतिष्ठानादप्यन्यथानुमेयमिति चेदेवमप्यनिर्मोक्षप्रसङ्गः ॥ २ । १ । ११ ॥

चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि; **तर्काप्रतिष्ठानात्**=तर्कोंकी स्थिरता न होनेपर; **अपि**=भी; **अन्यथानुमेयम्**=दूसरे प्रकारसे अनुमानके द्वारा कारणका निश्चय करना चाहिये; **एवम् अपि**=तो ऐसी स्थितिमें भी; **अनिर्मोक्षप्रसङ्गः**=मोक्ष न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा ।

व्याख्या—एक मतावलम्बीद्वारा उपस्थित की हुई युक्तिको दूसरा नहीं मानता, वह उसमें दोष सिद्ध करके दूसरी युक्ति उपस्थित करता है; किन्तु इस दूसरी युक्तिको वह पहला नहीं मानता, वह उसमें भी दोष सिद्ध करके नयी ही युक्ति प्रस्तुत करता है । इस प्रकार एकके बाद दूसरे तर्क उठते रहनेसे उनकी

कोई स्थिरता या समाप्ति नहीं है, यह कहना ठीक है, तथापि दूसरे प्रकारसे अनुमानके द्वारा कारणतत्त्वका निश्चय करना चाहिये, ऐसा कोई कहे तो ठीक नहीं है, क्योंकि ऐसी स्थितिमें वेदप्रमाणरहित कोई भी अनुमान वास्तविक ज्ञान करानेवाला सिद्ध नहीं होगा। अतएव उसके द्वारा तत्त्वज्ञान होना असम्भव है और तत्त्वज्ञानके बिना मोक्ष नहीं हो सकता। अतः सांख्य-मतमें संसारसे मोक्ष न होनेका प्रसङ्ग आ जायगा।

सम्बन्ध—उपर्युक्त प्रकारसे प्रधानकारणवादका खण्डन करके उन्हीं युक्तियोंसे अन्य वेदविरुद्ध मतोंका भी निराकरण हो जाता है, ऐसा कहते हैं—

एतेन शिष्टापरिग्रहा अपि व्याख्याताः ॥ २ । १ । १२ ॥

एतेन=इस पूर्वनिरूपित सिद्धान्तसे; **शिष्टापरिग्रहाः**=शिष्ट पुरुषोंद्वारा अस्वीकृत अन्य सब मतोंका; **अपि**=भी; **व्याख्याताः**=प्रतिवाद कर दिया गया।

व्याख्या—पाँचवें सूत्रसे ग्यारहवें सूत्रतक जो सांख्यमतावलम्बियोंद्वारा उपस्थित की हुई शङ्काओंका निराकरण करके वैदिक सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है; इसीसे दूसरे मत-मतान्तरोंका भी, जो वेदानुकूल न होनेके कारण शिष्ट पुरुषोंको मान्य नहीं है, निराकरण हो गया। क्योंकि उनके मत भी इस विषयमें सांख्यमतसे ही मिलते-जुलते हैं।

सम्बन्ध—पूर्वप्रकरणमें प्रधानकारणवादका निराकरण किया गया। अब ब्रह्मकारणवादमें दूसरे प्रकारके दोषोंकी उद्भावना करके उनका निवारण किया जाता है—

भोक्त्रापत्तेरविभागश्चेत् स्याल्लोकवत् ॥ २ । १ । १३ ॥

चेत्=यदि कहो; **भोक्त्रापत्तेः**=(ब्रह्मको जगत्का कारण माननेसे उसमें) भोक्तापनका प्रसङ्ग आ जायगा, इसलिये; **अविभागः**=जीव और ईश्वरका विभाग सिद्ध नहीं होगा, उसी प्रकार जीव और जड-वर्गका भी परस्पर विभाग सिद्ध नहीं होगा; (**इति न**=) तो यह कहना ठीक नहीं है; **लोकवत्**=क्योंकि लोकमें जैसे विभाग देखा जाता है, वैसे; **स्यात्**=हो सकता है।

व्याख्या—यदि कहो कि 'ब्रह्मको जगत्का कारण मान लेनेसे स्वयं ब्रह्मका ही जीवके रूपमें कर्म-फलरूप सुख-दुःख आदिका भोक्ता होना सिद्ध हो जायगा; इससे जीव और ईश्वरका विभाग सम्भव नहीं रहेगा तथा जडवर्गमें भोक्तापन

आ जानेसे भोक्ता (जीवात्मा) और भोग्य (जडवर्ग) का भी विभाग असम्भव हो जायगा; तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि लोकमें एक कारणसे उत्पन्न हुई वस्तुओंमें ऐसा विभाग प्रत्यक्ष देखा जाता है; उसी प्रकार ब्रह्म और जीवात्मा तथा जीव और जडवर्गका विभाग होनेमें भी कोई बाधा नहीं रहेगी। अर्थात् लोकमें जैसे यह बात देखी जाती है कि पिताका अंशभूत बालक जब गर्भमें रहता है तो गर्भजनित पीड़ाका भोक्ता वही होता है, पिता नहीं होता। तथा उस बालक और पिताका विभाग भी प्रत्यक्ष देखा जाता है। उसी प्रकार ब्रह्ममें भोक्तापन आनेकी आशङ्का नहीं है तथा जीवात्मा और परमात्माके परस्पर विभाग होनेमें भी कोई अड़चन नहीं है। इसके सिवा, जैसे एक ही पितासे उत्पन्न बहुत-से लड़के परस्पर एक-दूसरेके सुख-दुःखके भोक्ता नहीं होते, इसी प्रकार भिन्न-भिन्न जीवोंको कर्मानुसार जो सुख-दुःख प्राप्त होते हैं, उनका उपभोग वे पृथक्-पृथक् ही करते हैं, एक दूसरेके नहीं। इसी तरह यह भी देखा जाता है कि एक ही पृथिवी-तत्त्वके नाना प्रकारके कार्य घट, पट, कपाट आदिमें परस्पर भेदकी उपलब्धि अनायास हो रही है, उसमें कोई बाधा नहीं आती। घड़ा वस्त्र या कपाट नहीं बनता और वस्त्र घड़ा नहीं बनता और कपाट वस्त्र नहीं बनता। सबके अलग-अलग नाम, रूप और व्यवहार चलते रहते हैं। उसी प्रकार एक ही ब्रह्मके असंख्य कार्य होनेपर भी उनके विभागमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती है।

सम्बन्ध—ऐसा माननेसे कारण और कार्यमें अनन्यता सिद्ध नहीं होगी, ऐसी शङ्का प्राप्त होनेपर कहते हैं—

तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ॥ २ । १ । १४ ॥

आरम्भणशब्दादिभ्यः=आरम्भण शब्द आदि हेतुओंसे; **तदनन्यत्वम्**=उसकी अर्थात् कार्यकी कारणसे अनन्यता सिद्ध होती है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्में यह कहा गया है कि 'यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् मृत्तिकेत्येव सत्यम्।' (छा० उ० ६ । १ । ४) अर्थात् 'हे सोम्य ! जैसे मिट्टीके एक ढेलेका तत्त्व जान लेनेपर मिट्टीसे उत्पन्न होनेवाले समस्त कार्य जाने हुए हो जाते हैं; उनके नाम और आकृतिके भेद तो व्यवहारके लिये हैं, वाणीसे उनका कथनमात्र

होता है, वास्तवमें तो कार्यरूपमें भी वह मिट्टी ही है।' इसी प्रकार यह कार्य-रूपमें वर्तमान जगत् भी ब्रह्मरूप ही है। इस कथनसे जगत्की ब्रह्मसे अनन्यता सिद्ध होती है; तथा सूत्रमें 'आदि' शब्दका प्रयोग होनेसे यह अभिप्राय निकलता है कि इस प्रकरणमें आये हुए दूसरे वाक्योंसे भी यही बात सिद्ध होती है। उक्त प्रकरणमें 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्'का (छा० उ० ६। ८ से लेकर १६ वें खण्डतक) प्रयोग कई बार हुआ है। इसका अर्थ है कि 'यह सब कुछ ब्रह्मस्वरूप है।' इस प्रकार श्रुतिने कारणरूप ब्रह्मसे कार्यरूप जगत्की अनन्यताका स्पष्ट शब्दोंमें प्रतिपादन किया है। उसी प्रकरणमें उपदेशका आरम्भ करके आचार्यने कहा है— 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।' (छा० उ० ६ । २ । १) अर्थात् 'हे सोम्य ! यह समस्त जगत् प्रकट होनेसे पहले एकमात्र अद्वितीय सत्यस्वरूप ब्रह्म ही था।' इससे अनन्यताके साथ-साथ यह भी सिद्ध होता है कि यह जड-चेतन भोग्य और भोक्ताके आकारमें प्रत्यक्ष दीखनेवाला जगत् उत्पत्तिके पहले भी अवश्य था। परन्तु था परब्रह्म परमात्माको शक्तिरूपमें। इसका वर्तमानरूप उस समय अप्रकट था। जैसे स्वर्णके विकार हार-कंकण-कुण्डल आदि उत्पत्तिके पहले और विलीन होनेके बाद अपने कारणरूप स्वर्णमें शक्तिरूपसे रहते हैं। शक्ति, शक्तिमान्में अभेद होनेके कारण उनकी अनन्यतामें किसी प्रकारका दोष नहीं आता; उसी प्रकार यह जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत् उत्पत्तिके पहले और प्रलयके बाद परब्रह्म परमेश्वरमें शक्तिरूपसे अव्यक्त रहता है। अतः जगत्की ब्रह्मसे अनन्यतामें किसी प्रकारकी बाधा नहीं आती। गीतामें भगवान्ने स्वयं कहा है कि 'यह आठ भेदोंवाली जड प्रकृति तो मेरी अपरा प्रकृतिरूपा शक्ति है और जीवरूप चेतन-समुदाय मेरी परा प्रकृति है, (७ । ५) इसके बाद यह भी बताया है कि ये दोनों समस्त प्राणियोंके कारण हैं, और मैं सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति एवं प्रलयरूप महाकारण हूँ।' (गीता ७ । ६) इस कथनसे भगवान्ने अपनी प्रकृतियोंके साथ अनन्यता सिद्ध की है। इसी प्रकार सर्वत्र समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—पहले जो यह बात कही थी कि कार्य केवल वाणीका विषय है, कारण ही सत्य है; उससे यह भ्रम हो सकता है कि कार्यकी वास्तविक सत्ता नहीं है। अतः इस शङ्काको दूर करनेके लिये यह सिद्ध करते हैं कि अपनी वर्तमान अवस्थाके पहले भी शक्तिरूपमें कार्यकी सत्ता रहती है—

भावे चोपलब्धेः ॥ २ । १ । १५ ॥

भावे=(कारणमें शक्तिरूपसे) कार्यकी सत्ता होनेपर; **च**=ही; **उपलब्धेः**= उसकी उपलब्धि होती है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि (यह जगत् अपने कारण-ब्रह्ममें शक्तिरूपसे सदैव स्थित है) ।

व्याख्या—यह बात दृढ़ करते हैं कि कार्य अपने कारणमें शक्तिरूपसे सदैव विद्यमान रहता है, तभी उसकी उपलब्धि होती है; क्योंकि जो वस्तु वास्तवमें विद्यमान होती है, उसीकी उपलब्धि हुआ करती है । जो वस्तु नहीं होती अर्थात् खरगोशके सींग और आकाशके पुष्पकी भाँति जिसका सर्वथा अभाव होता है, उसकी उपलब्धि भी नहीं होती । इसलिये यह जड-चेतनात्मक जगत् अपने कारणरूप परब्रह्म परमेश्वरमें शक्तिरूपसे अवश्य विद्यमान है, और सदैव अपने कारणसे अभिन्न है ।

सम्बन्ध—सत्कार्यवादकी सिद्धिके लिये ही पुनः कहते हैं—

सत्त्वाच्चावरस्य ॥ २ । १ । १६ ॥

अवरस्य=कार्यका; **सत्त्वात्**=सत् होना श्रुतिमें कहा गया है, इससे; **च**=भी; (प्रकट होनेके पहले उसका होना सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (६ । २ । १)में कहा गया है कि 'सदेव सोम्येदमग्र आसीत्'—'हे सोम्य ! यह प्रकट होनेसे पहले भी सत्य था ।' बृहदारण्यकमें भी कहा है 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् (१ । ४ । ७) 'उस समय यह अप्रकट था ।' इन वर्णनोंसे यह सिद्ध है कि स्थूलरूपमें प्रकट होनेके पहले यह सम्पूर्ण जगत् अपने कारणमें शक्तिरूपसे विद्यमान रहता है और वही सृष्टिकालमें प्रकट होता है ।

सम्बन्ध—श्रुतिमें विरोध प्रतीत होनेपर उसका निराकरण करते हैं—

असद्व्यपदेशान्नेति चेन्न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात् ॥ २ । १ । १७ ॥

चेत्=यदि कहो; (दूसरी श्रुतिमें) **असद्व्यपदेशात्**=उत्पत्तिके पहले इस जगत्को 'असत्' बतलाया है, इसलिये; **न**=कार्यका कारणमें पहलेसे ही विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; (क्योंकि) **धर्मान्तरेण**=वैसा कहना धर्मान्तरकी अपेक्षासे है; **वाक्यशेषात्**=यह बात अन्तिम वाक्यसे सिद्ध होती है ।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा है कि 'असद् वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत । तदात्मान॰ स्वयमकुरुत । तस्मात्तत्सुकृतमुच्यते ।' (तै० उ० २ । ७) अर्थात् 'यह सब पहले 'असत्' ही था, उसीसे सत् उत्पन्न हुआ; उसने स्वयं ही अपनेको इस रूपमें बनाया, इसलिये उसे 'सुकृत' कहते हैं ।' इस श्रुतिमें जो यह बात कही गयी है कि 'पहले असत् ही था' उसका अभिप्राय यह नहीं है कि यह जगत् प्रकट होनेके पहले नहीं था, क्योंकि इसके बाद 'आसीत्' पदसे उसका होना कहा है । फिर उससे सत्‌की उत्पत्ति बतलायी है । तत्पश्चात् यह कहा है कि उसने स्वयं ही अपनेको इस रूपमें प्रकट किया है । अतः यहाँ यह समझना चाहिये कि धर्मान्तरकी अपेक्षासे उसको 'असत्' कहा है । अर्थात् प्रकट होनेसे पहले जो अप्रकट रूपमें विद्यमान रहना धर्मान्तर है, इसीको 'असत्' नामसे कहा गया है, उसकी अविद्यमानता बतानेके लिये नहीं । तात्पर्य यह कि उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् असत्—अप्रकट था । फिर उससे सत्‌की उत्पत्ति हुई—अर्थात् अप्रकट जगत् अपने अप्राकट्यरूप धर्मको त्यागकर प्राकट्यरूप धर्मसे युक्त हुआ—अप्रकटसे प्रकट हो गया । छान्दोग्योपनिषद्में इस बातको स्पष्ट रूपसे समझाया है । वहाँ श्रुतिका वर्णन इस प्रकार है—'तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयं तस्मादसतः सज्जायत ।' (६ । २ । १) अर्थात् 'कोई-कोई कहते हैं, यह जगत् पहले 'असत्' ही था, अकेला वही था, दूसरा कोई नहीं, फिर उस 'असत्'से 'सत्' उत्पन्न हुआ ।' इतना कहकर श्रुति स्वयं ही अभावके भ्रमका निवारण करती हुई कहती है—'कुतस्तु खलु सोम्यैव॰ स्यादिति होवाच कथमसतः सज्जायेतेति ।' (६ । २ । २) 'किन्तु हे सोम्य ! ऐसा होना कैसे संभव है, असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है ।' तात्पर्य यह है कि अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती । इसलिये 'सत्त्वेव सोम्येदमग्र आसीत् ।' (६ । २ । २) 'यह सब पहले सत् ही था' यह श्रुतिने निश्चय किया है । इस प्रकार वाक्यशेषसे सत्कार्यवादकी ही सिद्धि होती है ।

सम्बन्ध—पुनः इसी बातको दृढ़ करते हैं—

युक्तेः शब्दान्तराच्च ॥ २ । १ । १८ ॥

युक्तेः=युक्तिसे; **च**=तथा; **शब्दान्तरात्**=दूसरे शब्दोंसे भी (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—जो वस्तु वास्तवमें नहीं होती, उसका उत्पन्न होना भी नहीं देखा जाता, जैसे आकाशमें फूल उगना और खरगोशके सींग होना आजतक किसीने नहीं देखा है । इस युक्तिसे तथा बृहदारण्यक आदिमें जो उसके लिये अव्याकृत आदि शब्द प्रयुक्त हैं, उन शब्दोंसे भी यही बात सिद्ध होती है कि 'यह जगत् उत्पन्न होनेसे पहले भी 'सत्' ही था ।'

सम्बन्ध—*अब पुनः उसी बातको कपड़ेके दृष्टान्तसे सिद्ध करते हैं*—

पटवच्च ॥ २ । १ । १९ ॥

पटवत्=सूतमें वस्त्रकी भाँति; **च**=भी (ब्रह्ममें यह जगत् पहलेसे ही स्थित है) ।

व्याख्या—जबतक कपड़ा शक्तिरूपसे सूतमें अप्रकट रहता है, तबतक वह नहीं दीखता, वही जब बुननेवालेके द्वारा बुन लिये जानेपर कपड़ेके रूपमें प्रकट हो जाता है, तब अपने रूपमें दीखने लगता है । प्रकट होनेसे पहले और प्रकट होनेके बाद दोनों ही अवस्थाओंमें वस्त्र अपने कारणमें विद्यमान है और उससे अभिन्न भी है—इसी प्रकार जगत्को भी समझ लेना चाहिये । वह उत्पत्तिसे पहले भी ब्रह्ममें स्थित है और उत्पन्न होनेके बाद भी उससे पृथक् नहीं हुआ है ।

सम्बन्ध—*इसी बातको प्राण आदिके दृष्टान्तसे समझाते हैं*—

यथा च प्राणादि ॥ २ । १ । २० ॥

च=तथा; **यथा**=जैसे; **प्राणादि**=प्राण और इन्द्रियाँ (स्थूल शरीरसे बाहर निकलनेपर नहीं दीखतीं तो भी उनकी सत्ता अवश्य रहती है, उसी प्रकार प्रलयकालमें भी अव्यक्तरूपसे जगत्की स्थिति अवश्य है) ।

व्याख्या—जैसे मृत्युकालमें प्राण और इन्द्रिय आदि जीवात्माके साथ-साथ शरीरसे बाहर अन्यत्र चले जाते हैं, तब उनके स्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती, तथापि उनकी सत्ता अवश्य है । उसी प्रकार प्रलयकालमें इस जगत्की अप्रकट अवस्था उपलब्ध न होनेपर भी इसकी कारण-रूपमें सत्ता अवश्य है, ऐसा समझना चाहिये ।

सम्बन्ध—*ब्रह्मको जगत्का कारण और जगत्की उसके साथ अनन्यता माननेमें दूसरे प्रकारकी शङ्का उठाकर उसका निराकरण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है*—

इतरव्यपदेशाद्धिताकरणादिदोषप्रसक्तिः ॥ २ । १ । २१ ॥

इतरव्यपदेशात्=ब्रह्म ही जीवरूपसे उत्पन्न होता है, ऐसा कहनेसे; **हिताकरणादिदोषप्रसक्तिः**=(ब्रह्ममें) अपना हित न करने या अहित करने आदिका दोष आ सकता है ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि 'तत्त्वमसि श्वेतकेतो' (छा० उ० ६ । ८ । ७)—'हे श्वेतकेतु ! तू वही है ।' 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० उ० २ । ५ । १९)—'यह आत्मा ब्रह्म है ।' तथा 'सेयं देवतेमास्तिस्रो देवता अनेनैव जीवेनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत्' (छा० उ० ६ । ३ । ३)—अर्थात् 'इस देवता (ब्रह्म) ने तेज आदि तत्त्वसे निर्मित शरीरमें इस जीवात्मारूपसे प्रवेश करके नाम-रूपोंको प्रकट किया ।' इसके सिवा यह भी कहा गया है कि 'त्वं स्त्री त्वं पुमानसि त्वं कुमार उत वा कुमारी' (श्वेता० ४ । ३)—'तू स्त्री है, तू पुरुष है, तू ही कुमार और कुमारी है ।' इत्यादि । इस वर्णनसे स्पष्ट है कि ब्रह्म स्वयं ही जीवरूपसे उत्पन्न हुआ है । इससे ब्रह्ममें अपना हित न करने अथवा अहित करनेका दोष आता है, जो उचित नहीं है; क्योंकि जगत्में ऐसा कोई भी प्राणी नहीं देखा जाता जो कि समर्थ होकर भी दुःख भोगता रहे और अपना हित न करे । यदि वह स्वयं ही जीव बनकर दुःख भोग रहा है, तब तो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरका इस प्रकार अपना हित न करना और अहित करना अर्थात् अपनेको जन्म-मरणके चक्करमें डाले रहना आदि अनेक दोष संघटित होने लगेंगे, जो कि सर्वथा अयुक्त हैं; अतः ब्रह्मको जगत्का कारण मानना उचित नहीं है ।

सम्बन्ध—अब उक्त शङ्काका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—

अधिकं तु भेदनिर्देशात् ॥ २ । १ । २२ ॥

तु=किन्तु (ब्रह्म जीव नहीं है, अपितु उससे); **अधिकम्**=अधिक है; **भेदनिर्देशात्**=क्योंकि जीवात्मासे ब्रह्मका भेद बताया गया है ।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्में जनक और याज्ञवल्क्यके संवादका वर्णन है । वहाँ सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि आदि दैवी ज्योतियोंका तथा वाणी आदि आध्यात्मिक ज्योतियोंका वर्णन करनेके पश्चात् इनके अभावमें 'आत्मा' को 'ज्योति'

अर्थात् प्रकाशक बतलाया है। (बृ० उ० ४ । ३ । ४-६) फिर उस आत्माका स्वरूप पूछे जानेपर विज्ञानमय जीवको आत्मा बताया। (बृ० उ० ४ । ३ । ७) तदनन्तर जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाओंके भेदोंका वर्णन करते हुए कहा है कि 'यह जीव सुषुप्तिकालमें बाहर-भीतरके ज्ञानसे शून्य होकर परब्रह्म परमात्मासे संयुक्त होता है।' (बृ० उ० ४ । ३ । २१) तत्पश्चात् मरणकालकी स्थितिका निरूपण करते हुए बताया है कि 'उस परब्रह्मसे अधिष्ठित हुआ यह एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है।' (बृ० उ० ४ । ३ । ३५) इस वर्णनसे जीव और ब्रह्मका भेद स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद्में जो यह कहा है कि 'अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य' इत्यादि; इसका अर्थ जीवरूपसे ब्रह्मका प्रवेश करना नहीं, अपितु जीवके सहित ब्रह्मका प्रवेश करना है। ऐसा माननेसे ही श्वेताश्वतरोपनिषद् (४ । ६) में जो जीव और ईश्वरको एक ही शरीररूप वृक्षपर रहनेवाले दो पक्षियोंकी भाँति बताया गया है, वह सङ्गत होता है। (एवं) कठोपनिषद्में जो द्विवचनका प्रयोग करके हृदयरूपी गुहामें प्रविष्ट दो तत्त्वों (जीवात्मा और परमात्मा)का वर्णन किया गया है। श्वेताश्व० (१ । ९) में जो सर्वज्ञ और अल्पज्ञ विशेषण देकर दो अजन्मा आत्माओं (जीव और ईश्वर) का प्रतिपादन हुआ है तथा श्रुतिमें जो परब्रह्म परमेश्वरको प्रकृति एवं जीवात्मा दोनोंपर शासन करनेवाला कहा गया है, इन सब वर्णनोंकी सङ्गति भी जीव और ब्रह्ममें भेद माननेपर ही हो सकती है। अन्तर्यामि-ब्राह्मणमें तो स्पष्ट शब्दोंमें जीवात्माको ब्रह्मका शरीर कहा गया है (बृ० उ० ३ । ७ । २२)। मैत्रेयी ब्राह्मण (बृ० उ० २ । ४ । ५) में परमात्माको जानने तथा ध्यान करने योग्य बताया है। इस प्रकार वेदमें जीवात्मा और परमात्माके भेदका वर्णन होनेसे यही सिद्ध होता है कि वह जगत्का कर्ता, धर्ता और संहर्ता परमेश्वर जीव नहीं; किन्तु उससे अधिक अर्थात् जीवके स्वामी हैं। 'तत्त्वमसि' 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादि वाक्योंद्वारा जो जीवको ब्रह्मरूप बताया गया है, वह पूर्ववर्णित कारण और कार्यकी अनन्यताको लेकर है। परमेश्वर कारण है और जड-चेतनात्मक जगत् उनका कार्य है। कारणसे कार्य अभिन्न होता है, क्योंकि वह उसकी ही शक्तिका विस्तार है। इसी दृष्टिसे जीव भी परमात्मासे अभिन्न है। फिर भी उनमें स्वरूपगत भेद तो है ही। जीव अल्पज्ञ है, ब्रह्म सर्वज्ञ। जीव ईश्वरके अधीन है, परमात्मा सबके शासक और स्वामी हैं। अतः जीव और ब्रह्मका अत्यन्त

अभेद नहीं सिद्ध होता । जिस प्रकार कार्यरूप जड प्रपञ्चकी कारणरूप ब्रह्मसे अभिन्नता होते हुए भी भेद प्रत्यक्ष है । उसी प्रकार जीवात्माका भी ब्रह्मसे भेद है । ब्रह्म नित्यमुक्त है; अतः अपना अहित करना—आवागमनके चक्रमें अपनेको डाले रहना आदि दोष उसपर नहीं लगाये जा सकते ।

सम्बन्ध—इसी बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः ॥ २ । १ । २३ ॥

च=तथा; **अश्मादिवत्**=(जड) पत्थर आदिकी भाँति, (अल्पज्ञ) जीवात्मा भी ब्रह्मसे भिन्न है, इसलिये; **तदनुपपत्तिः**=जीवात्मा और परमात्माका अत्यन्त अभेद नहीं सिद्ध होता ।

व्याख्या—जिस प्रकार परमेश्वर चेतन, ज्ञानस्वरूप, आनन्दमय तथा सबके रचयिता होनेके कारण अपनी अपरा प्रकृतिके विस्ताररूप पत्थर, काठ, लोहा और सुवर्ण आदि निर्जीव जड पदार्थोंसे भिन्न हैं, केवल कारणरूपसे उन वस्तुओंमें अनुगत होनेके कारण ही उनसे अभिन्न कहे जाते हैं, उसी प्रकार अपनी परा प्रकृतिके विस्तारभूत जीवसमुदायसे भी वे भिन्न ही हैं; क्योंकि जीव अल्पज्ञ एवं सुख-दुःख आदिका भोक्ता है और परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वाधार, सर्वनियन्ता तथा सुख-दुःखसे परे है । कारण और कार्यकी अनन्यताको लेकर ही जीवमात्र परमेश्वरसे अभिन्न बतलाये जाते हैं । इसलिये ब्रह्ममें यह दोष नहीं आता कि 'वह अपना अहित करता है ।' वह हित-अहितसे ऊपर है । सबका हित उसीसे होता है ।

सम्बन्ध—यहाँतक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् परमेश्वरको समस्त जगत्का कारण होते हुए भी सबसे विलक्षण तथा सर्वश्रेष्ठ सिद्ध किया गया । उसमें प्रतीत होनेवाले दोषोंका भी भलीभाँति निराकरण किया गया । अब उस सत्यसंकल्प परमेश्वरका बिना किसीकी सहायता और परिश्रमके केवल संकल्पमात्रसे ही विचित्र जगत्की रचना कर देना उन्हींके अनुरूप है, यह सिद्ध करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि ॥ २ । १ । २४ ॥

चेत्=यदि कहो; **उपसंहारदर्शनात्**=(लोकमें घट आदि बनानेके लिये)

साधन-सामग्रीका संग्रह देखा जाता है, (किंतु ब्रह्मके पास कोई साधन नहीं है) इसलिये; **न**=ब्रह्म जगत्का कर्ता नहीं है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **हि**=क्योंकि; **क्षीरवत्**=दूधकी भाँति (ब्रह्मको अन्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं है)।

व्याख्या—यदि कहो कि लोकमें घड़ा, वस्त्र आदि बनानेके लिये सक्रिय कार्य-कर्ताका होना तथा मिट्टी, दण्ड, चाक और सूत-करघा आदि साधनोंका संग्रह आवश्यक देखा जाता है; उन साधन-सामग्रियोंके बिना कोई भी कार्य होता नहीं दिखायी देता है। परंतु ब्रह्मको एकमात्र, अद्वितीय, निराकार, निष्क्रिय आदि कहा गया है, उसके पास कोई भी साधन-सामग्री नहीं है; इसलिये वह इस विचित्र जगत्की सृष्टिका कार्य नहीं कर सकता तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जैसे दूध अपनी सहज शक्तिसे, किसी बाह्य साधनकी सहायता लिये बिना ही दहीरूपमें परिणत हो जाता है, उसी प्रकार परमात्मा भी अपनी स्वाभाविक शक्तिसे जगत्का स्वरूप धारण कर लेता है। जैसे मकड़ीको जाला बनानेके लिये किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं होती, उसी प्रकार परब्रह्म भी किसी अन्य साधनका सहारा लिये बिना अपनी अचिन्त्य शक्तिसे ही जगत्की रचना करता है। श्रुति परमेश्वरकी उस अचिन्त्य शक्तिका वर्णन इस प्रकार करती है—'उस परमात्माको किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है, उसके समान और उससे बढ़कर भी कोई नहीं देखा जाता है। उसकी ज्ञान, बल और क्रियारूप स्वाभाविक पराशक्ति नाना प्रकारकी ही सुनी जाती है।' (श्वेता० ६।८)

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'दूध-जल आदि जड वस्तुओंमें तो इस प्रकारका परिणाम होना सम्भव है, क्योंकि उसमें संकल्पपूर्वक विचित्र रचना करनेकी प्रवृत्ति नहीं देखी जाती; परंतु ब्रह्म तो ईक्षण (संकल्प या विचार) पूर्वक जगत्की रचना करता है, अतः उसके लिये दूधका दृष्टान्त देना ठीक नहीं है। जो लोग सोच-विचारकर कार्य करनेवाले हैं, ऐसे लोगोंको साधन-सामग्रीकी आवश्यकता होती ही है। ब्रह्म अद्वितीय होनेके कारण साधनशून्य है, इसलिये वह जगत्का कर्ता कैसे हो सकता है ?' इसपर कहते हैं—

देवादिवदपि लोके ॥ २ । १ । २५ ॥

लोके=लोकमें; **देवादिवत्**=देवता आदिकी भाँति; **अपि**=(बिना उपकरण-के) भी; (कार्य करनेकी शक्ति देखी जाती है) ।

व्याख्या—जैसे लोकमें देवता और योगी आदि बिना किसी उपकरणकी सहायताके अपनी अद्भुत शक्तिके द्वारा ही बहुत-से शरीर आदिकी रचना कर लेते हैं; बिना किसी साधन-सामग्रीके संकल्पमात्रसे मनोवाञ्छित विचित्र पदार्थोंको प्रकट कर लेते हैं* उसी प्रकार अचिन्त्यशक्तिसम्पन्न परमेश्वर अपने सङ्कल्प-मात्रसे यदि जड-चेतनके समुदायरूप विचित्र जगत्की रचना कर दे या स्वयं उसके रूपमें प्रकट हो जाय तो क्या आश्चर्य है । साधारण मकड़ी भी अपनी ही शक्तिसे अन्य साधनोंके बिना ही जाला बना लेती है, तब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर-को इस जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त बातको दृढ करनेके लिये शङ्का उपस्थित करते हैं—

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्वशब्दकोपो वा ॥ २ । १ । २६ ॥

कृत्स्नप्रसक्तिः=(ब्रह्मको जगत्का कारण माननेपर) वह पूर्णरूपसे जगत्-के रूपमें परिणत हो गया, ऐसा माननेका दोष उपस्थित होगा; **वा**=अथवा; **निरवयवत्वशब्दकोपः**=उसको अवयवरहित बतानेवाले श्रुतिके शब्दोंसे विरोध होगा ।

व्याख्या—पूर्वपक्षका कहना है कि यदि ब्रह्मको जगत्का कारण माना जायगा तो उसमें दो दोष आवेंगे । एक तो यह कि ब्रह्म अवयवरहित होनेके कारण अपने सम्पूर्ण रूपसे ही जगत्के आकारमें परिणत हो गया, ऐसा मानना पड़ेगा, फिर जगत्से भिन्न ब्रह्मनामकी कोई वस्तु नहीं रही । यदि ब्रह्म सावयव होता तो ऐसा समझते कि उसके शरीरका एक अंश विकृत होकर जगत्रूपमें परिणत हो गया और शेष अंश ब्रह्मरूपमें ही स्थित है; परंतु वह अवयवयुक्त तो है नहीं; क्योंकि श्रुति 'उसे निष्कल, निष्क्रिय, शान्त, निरवद्य और निरञ्जन बताती है,† दिव्य और अमूर्त आदि विशेषणोंसे विभूषित करती है‡ । ऐसी दशा-में पूर्णतः ब्रह्मका परिणाम मान लेनेपर उसके श्रवण, मनन और निदिध्यासन

---

* देखिये वाल्मीकिरामायण तथा रामचरितमानसमें भरद्वाजजीके द्वारा भरतके आतिथ्यसत्कारका प्रसंग ।

† निष्क्रियं निष्कलं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम् । (श्वेता० ६ । १९)

‡ दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः । (मु० उ० २ । १ । २)

आदिका उपदेश व्यर्थ होगा । और यदि इस दोषसे बचनेके लिये ब्रह्मको सावयव मान लिया जाय तब तो उसे 'अवयवरहित अजन्मा' आदि बतानेवाले श्रुतिके शब्दोंसे स्पष्ट ही विरोध आता है; सावयव होनेपर वह नित्य और सनातन भी नहीं रह सकेगा; इसलिये ब्रह्मको जगत्का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है ।

सम्बन्ध—इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात् ॥ २ । १ । २७ ॥

तु=किंतु (यह दोष नहीं आता क्योंकि); **श्रुतेः**=श्रुतिसे (यह सिद्ध है कि ब्रह्म जगत्का कारण होता हुआ भी निर्विकाररूपसे स्थित है); **शब्दमूलत्वात्**=ब्रह्मका स्वरूप कैसा है? इसमें वेद ही प्रमाण है (इसलिये वेद जैसा वर्णन करता है, वैसा ही उसका स्वरूप मानना चाहिये) ।

व्याख्या—पूर्वपक्षीने जो दोष उपस्थित किये हैं, वे सिद्धान्तपक्षपर लागू नहीं होते; क्योंकि वह श्रुतिपर आधारित है । श्रुतिने जिस प्रकार ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति बतायी है, उसी प्रकार निर्विकार रूपसे ब्रह्मकी स्थितिका भी प्रतिपादन किया है । (देखिये श्वेताश्वतर ६ । १६—१९ तथा मुण्डक १ । १ । ९) अतः श्रुतिप्रमाणसे यही मानना ठीक है कि ब्रह्म जगत्का कारण होता हुआ भी निर्विकार रूपसे नित्य स्थित है । वह अवयवरहित और निष्क्रिय होते हुए ही जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है । उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके लिये कोई बात असम्भव नहीं है । वह मन-इन्द्रिय आदिसे अतीत है, इनका विषय नहीं है । उसकी सिद्धि कोरे तर्क और युक्तिसे नहीं होती । उसके लिये तो वेद ही सर्वोपरि निर्भ्रान्त प्रमाण है । वेदने उसका स्वरूप जैसा बताया है, वैसा ही मानना चाहिये । वेद उस परब्रह्मको अवयवरहित बतानेके साथ ही यह भी कहता है कि 'वह सम्पूर्णरूपेण जगत्के आकारमें परिणत नहीं होता ।' यह समस्त ब्रह्माण्ड ब्रह्मके एक पादमें स्थित है, शेष अमृतस्वरूप तीन पाद परमधाममें स्थित हैं,*

* तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।
पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ॥ (छा० उ० ३ । १२ । ६)

ऐसा श्रुतिने स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है। अतः ब्रह्मको जगत्‌का कारण माननेमें पूर्वोक्त दोनों ही दोष नहीं प्राप्त होते हैं।

सम्बन्ध—इसी बातको युक्तिसे भी दृढ़ करते हैं—

आत्मनि चैवं विचित्राश्च हि ॥ २ । १ । २८ ॥

च=इसके सिवा (युक्तिसे भी इसमें कोई विरोध नहीं है); **हि**=क्योंकि; **आत्मनि**=(अवयवरहित) जीवात्मामें; **च**=भी; **एवम्**=ऐसी; **विचित्राः**=विचित्र सृष्टियाँ (देखी जाती हैं)।

व्याख्या—पूर्व सूत्रमें ब्रह्मके विषयमें केवल श्रुति-प्रमाणकी गति बतायी गयी, सो तो है ही, उसके सिवा, विचार करनेपर युक्तिसे भी यह बात समझमें आ सकती है कि अवयवरहित परब्रह्मसे इस विचित्र जगत्‌का उत्पन्न होना असंगत नहीं है; क्योंकि स्वप्नावस्थामें इस अवयवरहित निर्विकार जीवात्मासे नाना प्रकारकी विचित्र सृष्टि होती देखी जाती है; यह सबके अनुभवकी बात है। योगी लोग भी स्वयं अपने स्वरूपसे अविकृत रहते हुए ही अनेक प्रकारकी रचना करते हुए देखे जाते हैं। महर्षि विश्वामित्र, च्यवन, भरद्वाज, वसिष्ठ तथा उनकी धेनु नन्दिनी आदिमें अद्भुत सृष्टि-रचनाशक्तिका वर्णन इतिहास-पुराणोंमें जगह-जगह पाया जाता है। जब ऋषि-मुनि आदि विशिष्ट जीवकोटिके लोग भी स्वरूपसे अविकृत रहकर विचित्र सृष्टि-निर्माणमें समर्थ हो सकते हैं, तब परब्रह्ममें ऐसी शक्तिका होना तो कोई आश्चर्यकी बात ही नहीं है। विष्णुपुराणमें प्रश्न और उत्तरके द्वारा इस बातको बहुत अच्छी तरह समझाया गया है।*

---

* निर्गुणस्याप्रमेयस्य शुद्धस्याप्यमलात्मनः।
कथं सर्गादिकर्तृत्वं ब्रह्मणोऽभ्युपगम्यते ॥ (वि० पु० १ । ३ । १)

मैत्रेय पूछते हैं, 'मुने ! जो ब्रह्म निर्गुण, अप्रमेय, शुद्ध और निर्मलात्मा है, उसे सृष्टि आदिका कर्ता कैसे माना जा सकता है ?'

शक्तयः सर्वभावानामचिन्त्यज्ञानगोचराः।
यतोऽतो ब्रह्मणस्तास्तु सर्गाद्या भावशक्तयः।
भवन्ति तपतां श्रेष्ठ पावकस्य यथोष्णता ॥ (वि० पु० १ । ३ । २-३)

पराशर मुनि उत्तर देते हैं—'तपस्वियोंमें श्रेष्ठ मैत्रेय ! समस्त भावपदार्थोंकी शक्तियाँ अचिन्त्य ज्ञानकी विषय हैं, (साधारण मनुष्य उनको नहीं समझ सकता) अग्निकी उष्णता-शक्तिकी भाँति ब्रह्मकी भी सर्गादिरचना-रूप शक्तियाँ स्वाभाविक हैं।'

सम्बन्ध—इतना ही नहीं, निरवयव वस्तुसे विचित्र सावयव जगत्‌की सृष्टि सांख्यवादी स्वयं भी मानते हैं । अतः—

स्वपक्षदोषाच्च ॥ २ । १ । २९ ॥

स्वपक्षदोषात्=उनके अपने पक्षमें ही उक्त दोष आता है, इसलिये; **च**=भी (परब्रह्म परमेश्वरको ही जगत्‌का कारण मानना ठीक है) ।

व्याख्या—यदि सांख्यमतके अनुसार प्रधानको जगत्‌का कारण मान लिया जाय तो उसमें भी अनेक दोष आवेंगे; क्योंकि वह वेदसे तो प्रमाणित है ही नहीं; युक्तिसे भी, उस अवयवरहित जड प्रधानसे इस अवयवयुक्त सजीव जगत्‌की उत्पत्ति माननेमें विरोध आता है; क्योंकि सांख्यवादी भी प्रधानको न तो सीमित मानते हैं, न सावयव । अतः उनके मतमें भी प्रधानका जगत्‌रूपमें परिणत होना स्वीकार करनेपर पूर्वकथित सभी दोष प्राप्त होते हैं । अतः यही ठीक है कि परब्रह्म परमेश्वर ही जगत्‌का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है ।

सम्बन्ध—सांख्यादि मतोंकी मान्यतामें दोष दिखाकर अब पुनः अपने सिद्धान्तको निर्दोष सिद्ध करते हुए कहते हैं—

सर्वोपेता च तद्दर्शनात् ॥ २ । १ । ३० ॥

च=इसके सिवा, वह परा देवता (परब्रह्म परमेश्वर); **सर्वोपेता**= सब शक्तियोंसे सम्पन्न है; **तद्दर्शनात्**=क्योंकि श्रुतिके वर्णनमें ऐसा ही देखा जाता है ।

व्याख्या—वह परमात्मा सब शक्तियोंसे सम्पन्न है, ऐसी बात वेदमें जगह-जगह कही गयी है । जैसे—'सत्यसङ्कल्प आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यात्तोऽवाक्यनादरः ॥' (छा० उ० ३ । १४ । २) अर्थात् 'वह ब्रह्म सत्यसङ्कल्प, आकाशस्वरूप, सर्वकर्मा, सर्वकाम, सर्वगन्ध, सर्वरस, समस्त जगत्‌को सब ओरसे व्याप्त करनेवाला, वाणीरहित और मानरहित है ।'

यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तपः ।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥
(मु० उ० १ । १ । ९)

'जो सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उसी परमेश्वरसे यह विराट्‌रूप जगत् और नाम, रूप तथा अन्न उत्पन्न होते हैं ।'

तथा उस परब्रह्मके शासनमें सूर्य-चन्द्रमा आदिको दृढ़तापूर्वक स्थित बताया जाना, (बृ० उ० ३ । ८ । ९) उसमें ज्ञान, बल और क्रियारूप नाना प्रकारकी स्वाभाविक शक्तियोंका होना, (श्वेता० ६ । ८) जगत्के कारण-का अनुसन्धान करनेवाले महर्षियोंद्वारा उस परमात्मदेवकी आत्मभूता शक्तिका दर्शन करना (श्वेता० १ । ३) इत्यादि प्रकारसे परब्रह्मकी शक्तियोंको सूचित करनेवाले बहुत-से वचन वेदमें मिलते हैं, जिनका उल्लेख पहले भी हो चुका है । इस तरह अनेक विचित्र शक्तियोंसे सम्पन्न होनेके कारण उस परब्रह्म परमात्मासे इस विचित्र जगत्का उत्पन्न होना अयुक्त नहीं है । श्रुतिमें जो ब्रह्मको अवयवरहित बताया गया है, वह उसके स्वरूपकी अखण्डता बतलानेके उद्देश्य-से है, उसकी शक्तिरूप अंशोंके निषेधमें उसका अभिप्राय नहीं है; इसलिये परमात्मा ही इस जगत्का कारण है, यही मानना ठीक है ।

सम्बन्ध—पुनः शङ्का उठाकर उसका निराकरण करते हैं—

विकरणत्वान्नेति चेत्तदुक्तम् ॥ २ । १ । ३१ ॥

(श्रुतिमें उस परमात्माको) **विकरणत्वात्**=मन और इन्द्रिय आदि करणोंसे रहित बताया गया है, इसलिये; **न**=(वह) जगत्का कारण नहीं है; **चेत्**=यदि; **इति**=ऐसा कहो; **तदुक्तम्**=तो इसका उत्तर दिया जा चुका है ।

व्याख्या—यदि कहो, 'ब्रह्मको शरीर, बुद्धि, मन और इन्द्रिय आदि करणोंसे रहित कहा गया है; (श्वेता० ६ । ८) इसलिये वह जगत्का बनानेवाला नहीं हो सकता' तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि इसका उत्तर पहले 'सर्वोपेता च तद्दर्शनात्' (२ । १ । ३०) इस सूत्रमें परब्रह्मको सर्वशक्तिसम्पन्न बताकर दे दिया गया है । तथा श्रुतिने भी स्पष्ट शब्दोंमें यह कहा है कि वह परमेश्वर हाथ-पैर आदि समस्त इन्द्रियोंसे रहित होकर भी सबका कार्य करनेमें समर्थ है (श्वेता० ३ । १९) । इसलिये ब्रह्म ही जगत्का कारण है, ऐसा माननेमें कोई आपत्ति नहीं है ।

सम्बन्ध—अब पुनः दूसरे प्रकारकी शङ्का उपस्थित करते हैं—

न प्रयोजनवत्त्वात् ॥ २ । १ । ३२ ॥

न=परमात्मा जगत्का कारण नहीं हो सकता; **प्रयोजनवत्त्वात्**=क्योंकि प्रत्येक कार्य किसी-न-किसी प्रयोजनसे युक्त होता है (और परमात्मा पूर्णकाम होनेके कारण प्रयोजनरहित है) ।

व्याख्या—ब्रह्मका इस विचित्र जगत्‌की सृष्टि करनेसे कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि वह तो पूर्णकाम है। जीवोंके लिये भी जगत्‌की रचना करना आवश्यक नहीं है; क्योंकि परमेश्वरकी प्रवृत्ति तो सबका हित करनेके लिये ही होनी चाहिये। इस दुःखमय संसारसे जीवोंको कोई भी सुख मिलता हो, ऐसी बात नहीं है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि परमेश्वर जगत्‌का कर्ता नहीं है; क्योंकि जगत्‌में प्रत्येक कार्यकर्ता किसी-न-किसी प्रयोजनसे ही कार्य आरम्भ करता है। बिना किसी प्रयोजनके कोई भी कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। अतः परब्रह्मको जगत्‌का कर्ता नहीं मानना चाहिये।

सम्बन्ध—*पूर्वोक्त शङ्काका उत्तर देते हैं*—

लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्‌ ॥ २ । १ । ३३ ॥

तु=किन्तु (उस परब्रह्म परमेश्वरका विश्वरचनादिरूप कर्ममें प्रवृत्त होना तो); **लोकवत्‌**=लोकमें आप्तकाम पुरुषोंकी भाँति; **लीलाकैवल्यम्‌**=केवल लीलामात्र है।

व्याख्या—जैसे लोकमें देखा जाता है कि जो परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, जिनका जगत्‌से अपना कोई स्वार्थ नहीं रह गया है, कर्म करने या न करनेसे जिनका कोई प्रयोजन नहीं है, जो आप्तकाम और वीतराग हैं, ऐसे सिद्ध महापुरुषोंद्वारा बिना किसी प्रयोजनके जगत्‌का हित साधन करनेवाले कर्म स्वभावतः किये जाते हैं; उनके कर्म किसी प्रकारका फल उत्पन्न करनेमें समर्थ न होनेके कारण केवल लीलामात्र ही हैं। उसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्माका भी जगत्-रचना आदि कर्मोंसे अथवा मनुष्यादि-अवतार-शरीर धारण करके भाँति-भाँतिके लोकपावन चरित्र करनेसे अपना कोई प्रयोजन नहीं है तथा उन कर्मोंमें कर्तापनका अभिमान या आसक्ति भी नहीं है; इसलिये उनके कर्म केवल लीलामात्र ही हैं। इसीलिये शास्त्रोंमें परमेश्वरके कर्मोंको दिव्य (अलौकिक) एवं निर्मल बताया है। यद्यपि हमलोगोंकी दृष्टिमें संसारकी सृष्टिरूप कार्य महान् दुष्कर एवं गुरुतर है, तथापि परमेश्वरकी यह लीलामात्र है; वे अनायास ही कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंकी रचना और संहार कर सकते हैं; क्योंकि उनकी शक्ति अनन्त है, इसलिये परमेश्वरके द्वारा बिना प्रयोजन इस जगत्‌की रचना आदि कार्य होना उचित ही है।*

* भगवान् केवल सङ्कल्पमात्रसे बिना किसी परिश्रमके इस विचित्र विश्वकी

सम्बन्ध—यदि परब्रह्म परमात्माको जगत्का कारण माना जाय तो उसमें विषमता (राग-द्वेषपूर्ण भाव) तथा निर्दयताका दोष आता है; क्योंकि वह देवता आदिको अधिक सुखी और पशु आदिको अत्यन्त दुखी बनाता है तथा मनुष्योंको सुख-दुःखसे परिपूर्ण मध्यम स्थितिमें उत्पन्न करता है। जिन्हें वह सुखी बनाता है, उनके प्रति उसका राग या पक्षपात सूचित होता है और जिन्हें दुखी बनाता है, उनके प्रति उसकी द्वेष-बुद्धि एवं निर्दयता प्रतीत होती है। इस दोषका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—

वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति॥२।१।३४॥

वैषम्यनैर्घृण्ये=(परमेश्वरमें) विषमता और निर्दयताका दोष; **न**=नहीं आता; **सापेक्षत्वात्**=क्योंकि वह जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंकी अपेक्षा रखकर सृष्टि करता है; **तथा हि**=ऐसा ही; **दर्शयति**=श्रुति दिखलाती है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है, 'पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन।' (बृह० उ० ३।२।१३) अर्थात् 'निश्चय ही यह जीव पुण्य-कर्मसे पुण्यशील होता—पुण्य-योनिमें जन्म पाता है और पाप-कर्मसे पापशील होता—पापयोनिमें जन्म ग्रहण करता है।' 'साधुकारी साधुर्भवति पापकारी पापो भवति।' (बृह० उ० ४।४।५) अर्थात् 'अच्छे कर्म करनेवाला अच्छा होता है—सुखी एवं सदाचारी कुलमें जन्म पाता है और पाप करनेवाला पापात्मा होता है—पापयोनिमें जन्म ग्रहण करके दुःख उठाता है।' इत्यादि। इस वर्णनसे स्पष्ट है कि जीवोंके शुभाशुभ कर्मोंकी अपेक्षा रखकर ही परमात्मा उनको कर्मानुसार अच्छी-बुरी (सुखी-दुखी) योनियोंमें उत्पन्न करते हैं। इसलिये अच्छे न्यायाधीशकी भाँति निष्पक्षभावसे न्याय करनेवाले परमात्मापर विषमता और निर्दयता-

---

रचनामें समर्थ हैं। उनकी इस अद्भुत शक्तिको देखकर, सुनकर और समझकर भगवदीय सत्ता और उनके गुण-प्रभावपर श्रद्धा-विश्वास बढ़ाने और उनकी शरणमें जानेसे मनुष्य अनायास ही इस भव-बन्धनसे मुक्त हो सकता है। भगवान् सबके सुहृद् हैं, उनकी एक-एक लीला जगत्के जीवोंके उद्धारके लिये होती है; इस प्रकार उनकी दिव्य लीलाका रहस्य समझमें आ जानेपर मनुष्यका जगत्में प्रतिक्षण घटित होनेवाली घटनाओंके प्रति राग-द्वेषका अभाव हो जाता है; उसे किसी भी बातसे हर्ष या शोक नहीं होता। अतः साधकको इसपर विशेष ध्यान देकर भगवान्के भजन-चिन्तनमें संलग्न रहना चाहिये।

का दोष नहीं लगाया जा सकता है। स्मृतियोंमें भी जगह-जगह कहा गया है कि जीवको अपने शुभाशुभ कर्मके अनुसार सुख-दुःखकी प्राप्ति होती है। जैसे 'कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।' (गीता १४ । १६) अर्थात् 'पुण्यकर्मका फल सात्त्विक एवं निर्मल बताया गया है।' इसी प्रकार भगवान्‌ने अशुभ कर्ममें रत रहनेवाले असुर-स्वभावके लोगोंको आसुरी योनिमें डालनेकी बात बतायी है।* इन प्रमाणोंसे परमेश्वरमें उपर्युक्त दोषोंका सर्वथा अभाव सिद्ध होता है; अतः उन्हें जगत्‌का कारण मानना ठीक ही है।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें कही गयी बातपर शङ्का उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं—

न कर्माविभागादिति चेन्नानादित्वात् ॥ २ । १ । ३५ ॥

चेत्=यदि कहो; **कर्माविभागात्**=जगत्‌की उत्पत्तिसे पहले जीव और उनके कर्मोंका ब्रह्मसे विभाग नहीं था, इसलिये; **न**=परमात्मा कर्मोंकी अपेक्षासे सृष्टि करता है, यह कहना नहीं बन सकता; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **अनादित्वात्**=क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं।

व्याख्या—यदि कहो कि जगत्‌की उत्पत्ति होनेसे पहले तो एकमात्र सत्स्वरूप परमात्मा ही था† यह बात उपनिषदोंमें बार-बार कही गयी है। इससे सिद्ध है कि उस समय भिन्न-भिन्न जीव और उनके कर्मोंका कोई विभाग नहीं था; ऐसी स्थितिमें यह कहना नहीं बनता कि जगत्कर्ता परमात्माने जीवोंके कर्मोंकी अपेक्षा रखकर ही भोक्ता, भोग्य और भोग-सामग्रियोंके समुदायरूप इस विचित्र जगत्‌की रचना की है; जिससे परमेश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष न आवे। तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जीव और उनके कर्म अनादि हैं। श्रुति कहती है, 'धाता यथापूर्वमकल्पयत्।' परमात्माने पूर्व कल्पके अनुसार सूर्य,

---

* **अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।**
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥ (गी० १६ । १८-१९)

'जो अहंकार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रय ले अपने तथा दूसरोंके शरीरोंमें अन्तर्यामीरूपसे स्थित मुझ परमेश्वरसे द्वेष रखते हैं, निन्दा करते हैं; उन द्वेषी, क्रूर, अशुभकर्मपरायण नीच मनुष्योंको मैं निरन्तर संसारमें आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ।'

† **'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्'** (छा० उ० ६ । २ । १)

चन्द्रमा आदि जगत्की रचना की। इससे जड-चेतनात्मक जगत्की अनादि सत्ता सिद्ध होती है। प्रलयकालमें सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमात्मामें विलीन हो जानेपर भी उसकी सत्ता एवं सूक्ष्म विभागका अभाव नहीं होता। उपर्युक्त श्रुतिसे ही यह बात भी सिद्ध है कि जगत्की उत्पत्तिके पहले भी वह अव्यक्त रूपसे उस सर्वशक्तिमान् परमात्मामें है, उसका अभाव नहीं हुआ है। 'लीङ् श्लेषणे' धातुसे लय शब्द बनता है। अतः उसका अर्थ संयुक्त होना या मिलना ही है। उस वस्तुका अभाव हो जाना नहीं। जैसे नमक जलमें घुल-मिल जाता है, तो भी उसकी सत्ता नहीं मिट जाती। उसके पृथक् स्वादकी उपलब्धि होनेके कारण जलसे उसका सूक्ष्म विभाग भी है ही। उसी प्रकार जीव और उनके कर्म प्रलयकालमें ब्रह्मसे अविभक्त रहते हैं तो भी उनकी सत्ता एवं सूक्ष्म विभागका अभाव नहीं होता। इसलिये परमात्माको जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार विचित्र जगत्का कर्ता माननेमें कोई आपत्ति नहीं है।

सम्बन्ध—इसपर यह जिज्ञासा होती है कि जीव और उनके कर्म अनादि हैं, इसमें क्या प्रमाण है? इसपर कहते हैं—

उपपद्यते चाप्युपलभ्यते च ॥ २ । १ । ३६ ॥

च=इसके सिवा (जीव और उनके कर्मोंका अनादि होना); **उपपद्यते**=युक्तिसे भी सिद्ध होता है; **च**=और; **उपलभ्यते**= (वेदों तथा स्मृतियोंमें) ऐसा वर्णन उपलब्ध भी होता है।

व्याख्या—जीव और उनके कर्म अनादि हैं, यह बात युक्तिसे भी सिद्ध होती है; क्योंकि यदि इनको अनादि नहीं माना जायगा तो प्रलयकालमें परमात्माको प्राप्त हुए जीवोंके पुनरागमन माननेका दोष प्राप्त होगा। अथवा प्रलयकालमें सब जीव अपने आप मुक्त हो जाते हैं, यह स्वीकार करना होगा। इससे शास्त्र और उनमें बताये हुए सब साधन व्यर्थ सिद्ध होंगे, जो सर्वथा अनुचित है। इसके सिवा श्रुति भी बारंबार जीव और उनके कर्मोंको अनादि बताती है। जैसे—'यह जीवात्मा नित्य, शाश्वत और पुरातन है। शरीरके नाशसे इसका नाश नहीं होता।'* तथा 'वह यह प्रत्यक्ष जगत् उत्पन्न होनेसे पहले नाम-रूपसे प्रकट नहीं था, वही

* अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे। (क० उ० १। २। १८)

पीछे प्रकट किया गया।' (बृ० उ० १ । ४ । ७) 'परमात्माने शरीरकी रचना करके उसमें इस जीवात्माके सहित प्रवेश किया।' (तै० उ० २ । ७) इत्यादि। इन सब वर्णनोंसे जीवात्मा और यह जगत् अनादि सिद्ध होते हैं। इसी प्रकार स्मृतिमें भी स्पष्ट कहा गया है कि 'पुरुष (जीवसमुदाय) और प्रकृति (स्वभाव, जिसमें जीवोंके कर्म भी संस्काररूपमें रहते हैं)—इन दोनोंको ही अनादि समझो।' (गीता १३ । १९) इस प्रकार जीव और उनके कर्म अनादि सिद्ध होनेसे उनका विभक्त होना अनिवार्य है; अतः कर्मोंकी अपेक्षासे परमेश्वरको इस विचित्र जगत्का कर्ता माननेमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—अपने पक्षमें अविरोध (विरोधका अभाव) सिद्ध करनेके लिये आरम्भ किये हुए इस पहले पादका उपसंहार करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

सर्वधर्मोपपत्तेश्च ॥ २ । १ । ३७ ॥

सर्वधर्मोपपत्तेः=(इस जगत्कारण परब्रह्ममें) सब धर्मोंकी सङ्गति है, इसलिये; **च**=भी (किसी प्रकारका विरोध नहीं है)।

व्याख्या—इस जगत्कारणरूप परब्रह्म परमात्मामें सभी धर्मोंका होना सङ्गत है; क्योंकि वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वधर्मा, सर्वाधार और सब कुछ बननेमें समर्थ है। इसीलिये वह सगुण भी है और निर्गुण भी। समस्त जगद्व्यापारसे रहित होकर भी सब कुछ करनेवाला है। वह व्यक्त भी है और अव्यक्त भी। उस सर्वधर्माश्रय परब्रह्म परमेश्वरके लिये कुछ भी दुष्कर या असम्भव नहीं है। इस प्रकार विवेचन करनेसे यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्मको जगत्का कारण माननेमें कोई भी दोष या विरोध नहीं है।

इस पादमें आचार्य बादरायणने प्रधानतः अपने पक्षमें आनेवाले दोषोंका निराकरण करते हुए अन्तमें जीव और उनके कर्मोंको अनादि बतलाकर इस जगत्की अनादि-सत्ता तथा सत्कार्यवादकी सिद्धि की है। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि ग्रन्थकार परमेश्वरको केवल निर्गुण, निराकार और निर्विशेष ही नहीं मानते; किन्तु सर्वज्ञता आदि सब धर्मोंसे सम्पन्न भी मानते हैं।

पहला पाद सम्पूर्ण

दूसरा पाद

सम्बन्ध—पहले पादमें प्रधानतासे अपने पक्षमें प्रतीत होनेवाले समस्त दोषोंका खण्डन करके यह निश्चय कर दिया कि इस जगत्का निमित्त और उपादानकारण परब्रह्म परमेश्वर ही है । अब दूसरोंद्वारा प्रतिपादित जगत्-कारणोंको स्वीकार करनेमें जो-जो दोष आते हैं, उनका दिग्दर्शन कराकर अपने सिद्धान्तकी पुष्टिके लिये दूसरा पाद आरम्भ किया जाता है । इसमें प्रथम दस सूत्रोंद्वारा यह सिद्ध करते हैं कि सांख्योक्त 'प्रधान'को जगत्का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है—

रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् ॥ २ । २ । १ ॥

च=इसके सिवा; **अनुमानम्**=जो केवल अनुमान है (वेदोंद्वारा जिसकी ब्रह्मसे पृथक् सत्ता सिद्ध नहीं होती), वह प्रधान; **न**=जगत्का कारण नहीं है; **रचनानुपपत्तेः**=क्योंकि उसके द्वारा नाना प्रकारकी रचना सम्भव नहीं है ।

व्याख्या—प्रधान या प्रकृतिको जगत्का कारण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह जड है । कब, कहाँ किस वस्तुकी आवश्यकता है, इसका विचार जड प्रकृति नहीं कर सकती, अतएव उसके द्वारा ऐसी विशिष्ट रचना नहीं प्रस्तुत की जा सकती, जिससे किसीकी आवश्यकता पूर्ण हो सके । इसके सिवा, चेतन कर्ताकी सहायताके बिना जड वस्तु स्वयं कुछ करनेमें समर्थ भी नहीं है । गृह, वस्त्र, भाँति-भाँतिके पात्र, हथियार और मशीन आदि जितनी भी आवश्यक वस्तुएँ हैं, सबकी रचना बुद्धियुक्त कुशल कारीगरके द्वारा ही की जाती है । जड प्रकृति स्वयं उक्त वस्तुओंका निर्माण कर लेती हो, ऐसा दृष्टान्त कहीं नहीं मिलता है । फिर जो पृथिवी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र आदि विविध एवं अद्भुत वस्तुओंसे सम्पन्न है; मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष और तृण आदिसे सुशोभित है तथा शरीर, इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदि आध्यात्मिक तत्त्वोंसे अलङ्कृत है; जिसके निर्माण-कौशलकी कल्पना बड़े-बड़े बुद्धिमान् वैज्ञानिक तथा चतुर शिल्पी मनसे भी नहीं कर पाते, उस विचित्र रचना-चातुर्ययुक्त अद्भुत जगत्की सृष्टि भला जड प्रकृति कैसे कर सकती है ? मिट्टी, पत्थर आदि जड पदार्थोंमें इस प्रकार अपने-आप रचना करनेकी कोई शक्ति नहीं देखी जाती है ।

अतः किसी भी युक्तिसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि जड प्रधान इस जगत्का कारण है।

सम्बन्ध—अब दूसरी युक्तिसे प्रधानकारणवादका खण्डन करते हैं—

प्रवृत्तेश्च ॥ २ । २ । २ ॥

प्रवृत्तेः=जगत्की रचनाके लिये जड प्रकृतिका प्रवृत्त होना; **च**=भी सिद्ध नहीं होता (इसलिये प्रधान इस जगत्का कारण नहीं है)।

व्याख्या—जगत्की रचना करना तो दूर रहा, रचनादि कार्यके लिये जड प्रकृतिमें प्रवृत्तिका होना भी असम्भव जान पड़ता है; क्योंकि साम्यावस्थामें स्थित सत्त्व, रज और तम——इन तीनों गुणोंका नाम प्रधान या प्रकृति है,* उस जड प्रधानका बिना किसी चेतनकी सहायताके सृष्टिकार्य प्रारम्भ करनेके लिये प्रवृत्त होना कदापि सम्भव नहीं है। कोई भी जड पदार्थ चेतनका सहयोग प्राप्त हुए बिना कभी अपने आप किसी कार्यमें प्रवृत्त होता हो, ऐसा नहीं देखा जाता है।

सम्बन्ध—अब पूर्वपक्षीके द्वारा दिये जानेवाले जल आदिके दृष्टान्तमें भी चेतनका सहयोग दिखलाकर उपर्युक्त बातकी ही सिद्धि करते हैं—

पयोऽम्बुवच्चेत्तत्रापि ॥ २ । २ । ३ ॥

चेत्=यदि कहो; **पयोऽम्बुवत्**=दूध और जलकी भाँति (जड प्रधानका सृष्टि-रचनाके लिये प्रवृत्त होना सम्भव है); **तत्रापि**=तो उसमें भी चेतनका सहयोग है (अतः केवल जडमें प्रवृत्ति न होनेसे उसके द्वारा जगत्की रचना असम्भव है)।

व्याख्या—यदि कहो कि 'जैसे अचेतन दूध बछड़ेकी पुष्टिके लिये अपने आप गायके थनमें उतर आता है † तथा अचेतन जल लोगोंके उपकारके लिये अपने आप नदी-निर्झर आदिके रूपमें बहता रहता है, उसी प्रकार जड प्रधान भी जगत्की सृष्टिके कार्यमें बिना चेतनके ही स्वयं प्रवृत्त हो सकता है' तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार रथ आदि अचेतन वस्तुएँ बिना चेतनका सहयोग पाये संचरण आदि कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होतीं, उसी प्रकार थनमें दूध उतरने और नदी-निर्झर आदिके बहनेमें भी अव्यक्त चेतनकी ही प्रेरणा

---

* **सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः।** (सां० सू० १ । ६१)

† **अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य।** (सां० सू० ३ । १७०)

काम करती है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है। शास्त्र भी इस अनुमानका समर्थक है---'योऽप्सु तिष्ठन्....अपोऽन्तरो यमयति।' (बृह० उ० ३।७।४) अर्थात् 'जो जलमें रहनेवाला है और उसके भीतर रहकर उसका नियमन करता है।' 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि प्राच्योऽन्या नद्यः स्यन्दन्ते' (बृह० उ० ३।८।९) अर्थात् 'हे गार्गि! इस अक्षर (परमात्मा) के ही प्रशासनमें पूर्ववाहिनी तथा अन्य नदियाँ बहती हैं।' इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे सिद्ध होता है कि समस्त जड वस्तुओंका अधिष्ठाता चेतन है। गायके थनमें जो दूध उतरता है, उसमें भी चेतन गौका वात्सल्य और चेतन बछड़ेका चूसना कारण है। इसी प्रकार जल नीची भूमिकी ओर ही स्वभावतः बहता है। लोगोंके उपकारके लिये वह स्वयं उठकर ऊँची भूमिपर नहीं चला जाता। परन्तु चेतन पुरुष अपने प्रयत्नसे उस जलके प्रवाहको जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। इस प्रकार प्रत्येक प्रवृत्तिमें चेतनकी अपेक्षा सर्वत्र देखी जाती है; इसलिये किसी भी युक्तिसे जड प्रधानका स्वतः जगत्की रचनामें प्रवृत्त होना सिद्ध नहीं होता।

सम्बन्ध—अब प्रकारान्तरसे प्रधानकारणवादका खण्डन करते हैं---

व्यतिरेकानवस्थितेश्च अनपेक्षत्वात् ॥ २ । २ । ४ ॥

च=इसके सिवा; **व्यतिरेकानवस्थितेः**=सांख्यमतमें प्रधानके सिवा, दूसरा कोई उसकी प्रवृत्ति या निवृत्तिका नियामक नहीं माना गया है, इसलिये; (और) **अनपेक्षत्वात्**=प्रधानको किसीकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये भी (प्रधान कभी सृष्टिरूपमें परिणत होता और कभी नहीं होता है, यह बात सम्भव नहीं जान पड़ती)।

व्याख्या—सांख्यमतावलम्बियोंकी मान्यताके अनुसार त्रिगुणात्मक प्रधानके सिवा, दूसरा कोई कारण, प्रेरक या प्रवर्तक नहीं माना गया है। पुरुष उदासीन है, वह न तो प्रधानका प्रवर्तक है, न निवर्तक। प्रधान स्वयं भी अनपेक्ष है, वह किसी दूसरेकी अपेक्षा नहीं रखता। ऐसी स्थितिमें जड प्रधान कभी तो महत्तत्त्व आदि विकारोंके रूपमें परिणत होता है और कभी नहीं होता है, यह कैसे युक्तिसंगत होगा। यदि जगत्की उत्पत्ति करना उसका स्वभाव अथवा धर्म है, तब तो प्रलयके कार्यमें उसकी प्रवृत्ति नहीं होगी ? और यदि स्वभाव नहीं है

तो उत्पत्तिके लिये प्रवृत्ति नहीं होगी । इस प्रकार कोई भी व्यवस्था न हो सकनेके कारण प्रधान जगत्‌का कारण नहीं हो सकता ।

सम्बन्ध—तृणसे दूध बननेकी भाँति प्रकृतिसे स्वभावतः जगत्‌की उत्पत्ति होती है, इस कथनकी असंगति दिखाते हुए कहते हैं—

अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ २ । २ । ५ ॥

अन्यत्र=दूसरे स्थानमें; **अभावात्**=वैसे परिणामका अभाव है, इसलिये; **च**=भी; **तृणादिवत्**=तृण आदिकी भाँति; (प्रधानका जगत्‌के रूपमें परिणत होना) **न**=नहीं सिद्ध होता ।

*व्याख्या—*जो घास ब्यायी हुई गौद्वारा खायी जाती है, उसीसे दूध बनता है । वही घास यदि बैल या घोड़ेको खिला दी जाय या अन्यत्र रख दी जाय तो उससे दूध नहीं बनता । इस प्रकार अन्य स्थानोंमें घास आदिका वैसा परिणाम दृष्टिगोचर नहीं होता; इससे यह सिद्ध होता है कि विशिष्ट चेतनके सहयोग बिना जड प्रकृति जगत्‌रूपमें परिणत नहीं हो सकती । जैसे तृण आदिका दूधके रूपमें परिणत होना तभी सम्भव होता है, जब उसे ब्यायी हुई चेतन गौके उदरमें स्थित होनेका अवसर मिलता है

सम्बन्ध—प्रधानमें जगत्-रचनाकी स्वाभाविक प्रवृत्ति मानना व्यर्थ है, यह बतानेके लिये कहते हैं—

अभ्युपगमेऽप्यर्थाभावात् ॥ २ । २ । ६ ॥

अभ्युपगमे=(अनुमानसे प्रधानमें सृष्टिरचनाकी स्वाभाविक प्रवृत्ति) स्वीकार कर लेनेपर; **अपि**=भी; **अर्थाभावात्**=कोई प्रयोजन न होनेके कारण (यह मान्यता व्यर्थ ही होगी) ।

*व्याख्या—*यद्यपि चेतनकी प्रेरणाके बिना जड प्रकृतिका सृष्टि-रचना आदि कार्यमें प्रवृत्त होना नहीं बन सकता, तथापि यदि यह मान लिया जाय कि स्वभावसे ही प्रधान जगत्‌की उत्पत्तिके कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है तो इसके लिये कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देता; क्योंकि सांख्यमतमें माना गया है कि प्रधानकी प्रवृत्ति पुरुषके भोग और अपवर्गके लिये ही होती है ।* परंतु उनकी

* पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य । (सांख्य-का० २१)

मान्यताके अनुसार पुरुष असङ्ग, चैतन्यमात्र, निष्क्रिय, निर्विकार, उदासीन, निर्मल तथा नित्यशुद्ध बुद्ध मुक्तस्वभाव है; उसके लिये प्रकृतिदर्शनरूप भोग तथा उससे विमुक्त होनारूप अपवर्ग दोनोंकी ही आवश्यकता नहीं है। इसलिये उनका माना हुआ प्रयोजन व्यर्थ ही है। अतः प्रधानकी लोकरचनाके कार्यमें स्वाभाविक प्रवृत्ति मानना निरर्थक है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे सांख्यमतकी मान्यतामें दोष दिखाते हैं—

पुरुषाश्मवदिति चेत्तथापि ॥ २ । २ । ७ ॥

चेत् इति=यदि ऐसा कहो कि; **पुरुषाश्मवत्**=अंधे और पंगु पुरुषों तथा लोह और चुम्बकके संयोगकी भाँति (प्रकृति-पुरुषकी समीपता ही प्रकृतिको सृष्टिरचनामें प्रवृत्त कर देती है); **तथापि**=तो ऐसा माननेपर भी (सांख्यसिद्धान्त-की सिद्धि नहीं होती)।

व्याख्या—'जैसे पंगु और अंधे परस्पर मिल जायँ और अंधेके कंधेपर बैठकर पंगु उसे राह बताया करे तो दोनों गन्तव्य स्थानपर पहुँच जाते हैं तथा लोहे और चुम्बकका संयोग होनेपर लोहेमें क्रियाशक्ति आ जाती है उसी प्रकार पुरुष और प्रकृतिका संयोग ही सृष्टिरचनाका कारण है।* पुरुषकी समीपतामात्रसे जड प्रकृति जगत्की उत्पत्ति आदिके कार्यमें प्रवृत्त हो जाती है।' सांख्यवादियोंकी कही हुई यह बात मान ली जाय तो भी इससे सांख्यसिद्धान्तकी पुष्टि नहीं होती; क्योंकि पंगु और अंधे दोनों चेतन हैं, एक गमनशक्तिसे रहित होनेपर भी बौद्धिक आदि अन्य शक्तियोंसे सम्पन्न है; अंधा पुरुष देखनेकी शक्तिसे हीन होनेपर भी गमन एवं बुद्धि आदिकी शक्तिसे युक्त है। एक प्रेरणा देता है तो दूसरा उसे समझकर उसके अनुसार चलता है। अतः वहाँ भी चेतनका सहयोग स्पष्ट ही है। इसी प्रकार चुम्बक और लोहेको एक दूसरेके समीप लानेके लिये एक तीसरे चेतन पुरुषकी आवश्यकता होती है। चेतनके सहयोग बिना न तो लोहा चुम्बकके समीप जायगा और न उसमें क्रियाशक्ति उत्पन्न होगी। समीपता प्राप्त होनेपर भी दोनों एक-दूसरेसे सट जायँगे, लोहेमें किसी प्रकारकी आवश्यक क्रियाका संचार नहीं होगा, अतः ये दोनों दृष्टान्त इसी बातकी पुष्टि करते हैं कि चेतनकी प्रेरणा

---

* पङ्ग्वन्धवदुभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः ॥

(सां० कारिका० २१)

होनेसे ही जड प्रधान सृष्टि-कार्यमें प्रवृत्त हो सकता है, अन्यथा नहीं; परन्तु सांख्यमतमें तो पुरुष असङ्ग और उदासीन माना गया है, अतः वह प्रेरक हो नहीं सकता। इसलिये केवल जड प्रकृतिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं हो सकती।

सम्बन्ध—अब प्रधानकारणवादके विरोधमें दूसरी युक्ति देते हैं—

अङ्गित्वानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ८ ॥

अङ्गित्वानुपपत्तेः=अङ्गाङ्गिभाव (सत्त्वादि गुणोंके उत्कर्ष और अपकर्ष) की सिद्धि न होनेके कारण; **च**=भी (केवल प्रधान इस जगत्का कारण नहीं माना जा सकता)।

व्याख्या—पहले यह बताया गया है, सांख्यमतमें तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाका नाम 'प्रधान' है। यदि गुणोंकी यह साम्यावस्था स्वाभाविक मानी जाय, तब तो कभी भी भंग न होगी, अतएव गुणोंमें विषमता न होनेके कारण अङ्गाङ्गिभावकी सिद्धि न हो सकेगी; क्योंकि उन गुणोंमें ह्रास और वृद्धि होनेपर ही बढ़े हुए गुणको अङ्गी और घटे हुए गुणको अङ्ग माना जाता है। यदि उन गुणोंकी विषमता (ह्रास-वृद्धि) को ही स्वाभाविक माना जाय तब तो सदा जगत्की सृष्टिका ही क्रम चलता रहेगा, प्रलय कभी होगा ही नहीं। यदि पुरुषकी प्रेरणासे प्रकृतिके गुणोंमें क्षोभ होना मान लें तब तो पुरुषको असङ्ग और निष्क्रिय मानना नहीं बन सकेगा। यदि परमेश्वरको प्रेरक माना जाय तब तो यह ब्रह्म कारणवादको ही स्वीकार करना होगा। इस प्रकार सांख्यमतके अनुसार गुणोंका अङ्गाङ्गिभाव सिद्ध न होनेके कारण जड प्रधानको जगत्का कारण मानना असङ्गत है।

सम्बन्ध—यदि अन्य प्रकारसे गुणोंकी साम्यावस्था भंग होकर प्रकृतिके द्वारा जगत्की उत्पत्ति होती है, ऐसा मान लिया जाय तो क्या हानि है? इसपर कहते हैं—

अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात् ॥ २ । २ । ९ ॥

अन्यथा=दूसरे प्रकारसे; **अनुमितौ**=साम्यावस्था भंग होनेका अनुमान कर लेनेपर; **च**=भी; **ज्ञशक्तिवियोगात्**=प्रधानमें ज्ञान-शक्ति न होनेके कारण (गृह, घट, पट आदिकी भाँति बुद्धिपूर्वक रची जानेवाली वस्तुओंकी उत्पत्ति उसके द्वारा नहीं हो सकती)।

व्याख्या—यदि गुणोंकी साम्यावस्थाका भंग होना काल आदि अन्य निमित्तोंसे मान लिया जाय तो भी प्रधानमें ज्ञानशक्तिका अभाव तो है ही। इसलिये उसके द्वारा बुद्धिपूर्वक कोई रचना नहीं हो सकती। जैसे गृह, वस्त्र, घट आदिका निर्माण कोई समझदार चेतन कर्ता ही कर सकता है, उसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डके अन्तर्गत असंख्य जीवोंके छोटे-बड़े विविध शरीर एवं अन्न आदिकी बुद्धिपूर्वक होनेवाली सृष्टि जड प्रकृतिके द्वारा असम्भव है। ऐसी रचना तो सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सनातन परमात्मा ही कर सकता है; अतः जड प्रकृतिको जगत्का कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—अब सांख्यदर्शनकी असमीचीनता बताते हैं—

विप्रतिषेधाच्चासमञ्जसम् ॥ २ । २ । १० ॥

विप्रतिषेधात्=परस्पर विरोधी बातोंका वर्णन करनेसे; **च**=भी; **असमञ्जसम्**=सांख्यदर्शन समीचीन नहीं है।

व्याख्या—सांख्यदर्शनमें बहुत-सी परस्पर-विरुद्ध बातोंका वर्णन पाया जाता है। जैसे पुरुषको असङ्ग[1] और निष्क्रिय[2] मानना फिर उसीको प्रकृतिका द्रष्टा[3] और भोक्ता[4] बताना, प्रकृतिके साथ उसका संयोग[5] कहना, प्रकृतिको पुरुषके लिये भोग और मोक्ष[6] प्रदान करनेवाली बताना, तथा प्रकृति और पुरुषके नित्य पार्थक्यके ज्ञानसे दुःखका अभाव ही मोक्ष[7] है; ऐसा मुक्तिका स्वरूप मानना इत्यादि। इस कारण भी सांख्यदर्शन समीचीन (निर्दोष) नहीं जान पड़ता है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त दस सूत्रोंमें सांख्यशास्त्रकी समीक्षा की गयी। अब वैशेषिकोंके परमाणुवादका खण्डन करनेके लिये उनकी मान्यताको असंगत बताते हुए दूसरा प्रकरण आरम्भ करते हैं—

---

१. असंगोऽयं पुरुष इति। (सां० सू० १ । १५)
२. निष्क्रियस्य तदसंभवात्। (सां० सू० १ । ४९)
३. द्रष्टृत्वादिरात्मनः करणत्वमिन्द्रियाणाम्। (सां० सू० २ । २९)
४. भोक्तृभावात्। (सां० सू० १ । १४३)
५. न नित्यशुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते। (सां० सू० १ । १९)
६. पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य। (सांख्यकारिका २१)
७. विवेकान्निःशेषदुःखनिवृत्तौ कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्। (सां० सू० ३ । ८४)

महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम् ॥ २ । २ । ११ ॥

ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्=ह्रस्व (द्वयणुक) तथा परिमण्डल (परमाणु) से; **महद्दीर्घवत्**=महत् एवं दीर्घ (त्र्यणुक) की उत्पत्ति बतानेकी भाँति; **वा**=ही (वैशेषिकोंके द्वारा प्रतिपादित सभी बातें असमञ्जस—असंगत) हैं ।

व्याख्या—परमाणुकारणवादी वैशेषिकोंकी मानी हुई प्रक्रिया इस प्रकार है—एक द्रव्य सजातीय दूसरे द्रव्यको और एक गुण सजातीय दूसरे गुणको उत्पन्न करता है । समवायी, असमवायी और निमित्त तीनों कारणोंसे कार्यकी उत्पत्ति होती है । जैसे वस्त्रकी उत्पत्तिमें तन्तु (सूत) तो समवायिकारण हैं, तन्तुओंका परस्पर संयोग असमवायिकारण है और तुरी, वेमा तथा वस्त्र बुननेवाला कारीगर आदि निमित्तकारण हैं । परमाणुके चार भेद हैं—पार्थिव परमाणु, जलीय परमाणु, तैजस परमाणु तथा वायवीय परमाणु । ये परमाणु नित्य, निरवयव तथा रूपादि गुणोंसे युक्त हैं । इनका जो परिमाण (माप) है, उसे पारिमाण्डल्य कहते हैं । प्रलयकालमें ये परमाणु कोई भी कार्य आरम्भ न करके यों ही स्थित रहते हैं । सृष्टिकालमें कार्यसिद्धिके लिये परमाणु तो समवायिकारण बनते हैं, उनका एक दूसरेसे संयोग असमवायिकारण होता है, अदृष्ट या ईश्वरकी इच्छा आदि उसमें निमित्तकारण बनते हैं । उस समय भगवान्की इच्छासे पहला कर्म वायवीय परमाणुओंमें प्रकट होता है, फिर एक दूसरेका संयोग होता है । दो परमाणु संयुक्त होकर एक द्वयणुकरूप कार्यको उत्पन्न करते हैं । तीन द्वयणुकोंसे त्र्यणुक उत्पन्न होता है । चार त्र्यणुकोंसे चतुरणुककी उत्पत्ति होती है । इस क्रमसे महान् वायुतत्त्व प्रकट होता है और वह आकाशमें वेगसे बहने लगता है । इसी प्रकार तैजस परमाणुओंसे अग्निकी उत्पत्ति होती है और वह प्रज्वलित होने लगता है । जलीय परमाणुओंसे जलका महासागर प्रकट होकर उत्ताल तरङ्गोंसे युक्त दिखायी देता है तथा इसी क्रमसे पार्थिव परमाणुओंसे यह बड़ी भारी पृथिवी उत्पन्न होती है । मिट्टी और प्रस्तर आदि इसका स्वरूप है । यह अचल भावसे स्थित होती है । कारणके गुणोंसे ही कार्यके गुण उत्पन्न होते हैं । जैसे तन्तुओंके शुक्ल, नील, पीत आदि गुण ही वस्त्रमें वैसे गुण प्रकट करते हैं । इसी प्रकार परमाणुगत शुक्ल आदि गुणोंसे ही द्वयणुकगत शुक्ल आदि गुण प्रकट होते हैं । द्वयणुकके आरम्भक (उत्पादक) जो दो परमाणु हैं, उनकी वह द्वित्व संख्या द्वयणुकमें अणुत्व और ह्रस्वत्व—इन दो परिमाणान्तरोंका आरम्भ

(आविर्भाव) करती है । परन्तु विभिन्न परमाणुमें जो पृथक्-पृथक् पारिमाण्डल्य-नामक परिमाण होता है, वह द्व्यणुकमें दूसरे पारिमाण्डल्यको नहीं प्रकट करता है, क्योंकि वैसा करनेपर वह कार्य पहलेसे भी अत्यन्त सूक्ष्म होने लगेगा । इसी प्रकार संहारकालमें भी परमेश्वरकी इच्छासे परमाणुओंमें कर्म प्रारम्भ होता है, इससे उनके पारस्परिक संयोगका नाश होता है, फिर द्व्यणुक आदिका नाश होते-होते पृथिवी आदिका भी नाश हो जाता है ।

वैशेषिकोंकी इस प्रक्रियाका सूत्रकार निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि कारणके ही गुण कार्यमें प्रकट होते हैं, तब तो परमाणुका गुण जो पारिमाण्डल्य (अत्यन्त सूक्ष्मता) है, वही द्व्यणुकमें भी प्रकट होना उचित है; पर ऐसा नहीं होता । उनके ही कथनानुसार दो परमाणुओंसे ह्रस्वगुणविशिष्ट द्व्यणुककी उत्पत्ति होती है और ह्रस्व द्व्यणुकोंसे महत् दीर्घ परिमाणवाले त्र्यणुक-की उत्पत्ति होती है । इस प्रकार जैसे यहाँ वैशेषिकोंकी मान्यता असङ्गत है, उसी प्रकार उनके द्वारा कही जानेवाली अन्य बातें भी असङ्गत हैं ।

सम्बन्ध—इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

उभयथापि न कर्मातस्तदभावः ॥ २ । २ । १२ ॥

उभयथा=दोनों प्रकारसे; **अपि**=ही; **कर्म**=परमाणुओंमें कर्म होना; **न**=नहीं सिद्ध होता; **अतः**=इसलिये; **तदभावः**=परमाणुओंके संयोगपूर्वक द्व्यणुक आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे जगत्‌का जन्म आदि होना सम्भव नहीं है ।

व्याख्या—परमाणुवादियोंका कहना है कि 'सृष्टिके पूर्व परमाणु निश्चल रहते हैं, उनमें कर्म उत्पन्न होकर परमाणुओंका संयोग होता है और उससे जगत्‌की उत्पत्ति होती है ।' इसपर सूत्रकार कहते हैं कि यदि उन परमाणुओंमें कर्मका सञ्चार बिना किसी निमित्तके अपने-आप हो जाता है, ऐसा मानें तो यह असम्भव है; क्योंकि उनके मतानुसार प्रलयकालमें परमाणु निश्चल माने गये हैं । यदि ऐसा मानें कि जीवोंके अदृष्ट कर्मसंस्कारोंसे परमाणुओंमें कर्मका सञ्चार हो जाता है तो यह भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवोंका अदृष्ट तो उन्हींमें रहता है न कि परमाणुओंमें; अतः वह उनमें कर्मका सञ्चार नहीं कर सकता । उक्त दोनों प्रकारसे ही परमाणुओंमें कर्म होना सिद्ध नहीं होता; इसलिये परमाणुओंके संयोगसे जगत्‌की उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

इसके सिवा, अदृष्ट अचेतन है। कोई भी अचेतन वस्तु किसी चेतनका सहयोग प्राप्त किये बिना न तो स्वयं कर्म कर सकती है और न दूसरेसे ही करा सकती है। यदि कहें, जीवके शुभाशुभ कर्मसे ही अदृष्ट बनता है, अतः जीवात्माकी चेतनता उसके साथ है तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि सृष्टिके पहले जीवात्माकी चेतनता जाग्रत् नहीं है, अतः वह अचेतनके ही तुल्य है। इसके सिवा, जीवात्मामें ही अदृष्टकी स्थिति स्वीकार करनेपर वह परमाणुओंमें क्रियाशीलता उत्पन्न करनेमें निमित्त नहीं बन सकता; क्योंकि परमाणुओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार किसी नियत निमित्तके न होनेसे परमाणुओंमें पहला कर्म नहीं उत्पन्न हो सकता। उस कर्म या क्रियाशीलताके बिना उनका परस्पर संयोग नहीं हो सकेगा। संयोग न होनेसे द्व्यणुक आदिकी उत्पत्तिके क्रमसे जगत्की सृष्टि और प्रलय भी न हो सकेंगे।

सम्बन्ध—परमाणु-कारणवादके खण्डनके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

समवायाभ्युपगमाच्च साम्यादनवस्थितेः ॥ २ । २ । १३ ॥

समवायाभ्युपगमात्=परमाणुवादमें समवाय-सम्बन्धको स्वीकार किया गया है, इसलिये; **च**=भी (परमाणुकारणवाद सिद्ध नहीं हो सकता); **साम्यात्**=क्योंकि कारण और कार्यकी भाँति समवाय और समवायीमें भी भिन्नताकी समानता है, इसलिये; **अनवस्थितेः**=उनमें अनवस्थादोषकी प्राप्ति हो जानेपर परमाणुओंके संयोगसे जगत्की उत्पत्ति नहीं हो सकेगी।

व्याख्या—वैशेषिकोंकी मान्यताके अनुसार युतसिद्ध अर्थात् अलग-अलग रह सकनेवाली वस्तुओंमें परस्पर संयोग-सम्बन्ध होता है और अयुतसिद्ध अर्थात् अलग-अलग न रहनेवाली वस्तुओंमें समवाय-सम्बन्ध होता है। रज्जु (रस्सी) और घट—ये युतसिद्ध वस्तुएँ हैं, अतः इनमें संयोग-सम्बन्ध ही स्थापित हो सकता है। तन्तु और वस्त्र—ये अयुतसिद्ध वस्तुएँ हैं; अतः इनमें सदा समवाय-सम्बन्ध रहता है। यद्यपि कारणसे कार्य अत्यन्त भिन्न है तो भी उनके मतमें समवायि कारण और कार्यका पारस्परिक सम्बन्ध 'समवाय' कहा गया है। इसके अनुसार दो अणुओंसे उत्पन्न होनेवाला 'द्व्यणुक'नामक कार्य उन अणुओंसे भिन्न होकर भी समवाय-सम्बन्धके द्वारा उनसे सम्बद्ध होता है, ऐसा मान लेनेपर, जैसे द्व्यणुक उन अणुओंसे भिन्न है, उसी प्रकार 'समवाय' भी समवायीसे भिन्न है।

भेदकी दृष्टिसे दोनोंमें समानता है। अतः जैसे द्व्यणुक समवाय-सम्बन्धके द्वारा उन दो अणुओंसे सम्बद्ध माना गया है, उसी प्रकार समवाय भी अपने समवायीके साथ नूतन समवायसम्बन्धके द्वारा सम्बद्ध माना जा सकता है। इस प्रकार एकके बाद दूसरे समवायसम्बन्धकी कल्पना होती रहेगी और इस परम्पराका कहीं भी अन्त न होनेके कारण अनवस्था दोष प्राप्त होगा। अतः समवाय सम्बन्ध सिद्ध न हो सकनेके कारण दो अणुओंसे द्व्यणुककी उत्पत्ति आदि क्रमसे जगत्‌की सृष्टि नहीं हो सकती।

सम्बन्ध—यदि परमाणुओंमें सृष्टि और प्रलयके निमित्त क्रियाका होना स्वाभाविक मान लें तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—

नित्यमेव च भावात्॥ २। २। १४॥

च=इसके सिवा (परमाणुओंमें प्रवृत्ति या निवृत्तिका कर्म स्वाभाविक माननेपर); **नित्यम्**=सदा; **एव**=ही; **भावात्**=सृष्टि या प्रलयकी सत्ता बनी रहेगी, इसलिये (परमाणुकारणवाद असङ्गत है)।

व्याख्या—परमाणुवादी परमाणुओंको नित्य मानते हैं, अतः उनका जैसा भी स्वभाव माना जाय, वह नित्य ही होगा। यदि ऐसा मानें कि उनमें प्रवृत्ति-मूलक कर्म स्वभावतः होता है, तब तो सदा ही सृष्टि होती रहेगी, कभी भी प्रलय नहीं होगा। यदि उनमें निवृत्ति-मूलक कर्मका होना स्वाभाविक मानें तब तो सदा संहार ही बना रहेगा, सृष्टि नहीं होगी। यदि दोनों प्रकारके कर्मोंको उनमें स्वाभाविक माना जाय तो यह असङ्गत जान पड़ता है; क्योंकि एक ही तत्त्वमें परस्परविरुद्ध दो स्वभाव नहीं रह सकते। यदि उनमें दोनों तरहके कर्मोंका न होना ही स्वाभाविक मान लिया जाय तब तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि कोई निमित्त प्राप्त होनेपर ही उनमें प्रवृत्ति एवं निवृत्ति-सम्बन्धी कर्म भी हो सकते हैं; परन्तु उनके द्वारा माने हुए निमित्तसे सृष्टिका आरम्भ न होना पहले ही सिद्ध कर दिया गया है, इसलिये यह परमाणुकारणवाद सर्वथा अयुक्त है।

सम्बन्ध—अब परमाणुओंकी नित्यतामें ही संदेह उपस्थित करते हुए परमाणुकारणवादकी व्यर्थता सिद्ध करते हैं—

रूपादिमत्त्वाच्च विपर्ययो दर्शनात्॥ २। २। १५॥

च=तथा; **रूपादिमत्त्वात्**=परमाणुओंको रूप, रस आदि गुणोंवाला माना गया है, इसलिये; **विपर्ययः**=उनमें नित्यताके विपरीत अनित्यताका दोष उपस्थित होता है; **दर्शनात्**=क्योंकि ऐसा ही देखा जाता है।

व्याख्या—वैशेषिक मतमें परमाणु नित्य होनेके साथ-साथ रूप, रस आदि गुणोंसे युक्त भी माने गये हैं। इससे उनमें नित्यताके विपरीत अनित्यताका दोष उपस्थित होता है; रूपादि गुणोंसे युक्त होनेपर वे नित्य नहीं माने जा सकते; क्योंकि रूप आदि गुणवाली जो घट आदि वस्तुएँ हैं, उनकी अनित्यता प्रत्यक्ष देखी जाती है। यदि उन परमाणुओंको रूप, रस आदि गुणोंसे रहित मानें तो उनके कार्यमें रूप आदि गुण नहीं होने चाहिये। इसके सिवा वैसा माननेपर 'रूपादिमन्तो नित्याश्च'—परमाणु रूपादि गुणोंसे युक्त और नित्य हैं, इस प्रतिज्ञाकी सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार अनुपपत्तियोंसे भरा हुआ यह परमाणुवाद कदापि सिद्ध नहीं होता।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे परमाणुवादको सदोष सिद्ध करते हैं—

उभयथा च दोषात् ॥ २ । २ । १६ ॥

उभयथा=परमाणुओंको न्यूनाधिक गुणोंसे युक्त मानें या गुणरहित मानें, दोनों प्रकारसे; **च**=ही; **दोषात्**=दोष आता है, इसलिये (परमाणुवाद सिद्ध नहीं होता)।

व्याख्या—पृथिवी आदि भूतोंमेंसे किसीमें अधिक और किसीमें कम गुण देखे जाते हैं, इससे उनके आरम्भक परमाणुओंमें भी न्यूनाधिक गुणोंकी स्थिति माननी होगी। ऐसी दशामें यदि उनको अधिक गुणोंसे युक्त माना जाय तब तो सभी कार्योंमें उतने ही गुण होने चाहिये; क्योंकि कारणके गुण कार्यमें समान जातीय गुणान्तर प्रकट करते हैं। उस दशामें जलमें भी गन्ध और तेजमें भी गन्ध एवं रस प्रकट होनेका दोष प्राप्त होगा। अधिक गुणवाली पृथिवीमें स्थूलता-नामक गुण देखा जाता है, यही गुण कारणभूत परमाणुमें मानना पड़ेगा। यदि ऐसा मानें कि उनमें न्यूनतम अर्थात् एक-एक गुण ही हैं तब तो सभी स्थूल भूतोंमें एक-एक गुण ही प्रकट होना चाहिये। उस अवस्थामें तेजमें स्पर्श नहीं होगा, जलमें रूप और स्पर्श नहीं रहेंगे तथा पृथिवीमें रस, रूप एवं स्पर्शका अभाव होगा; क्योंकि उनके परमाणुओंमें एकसे अधिक गुणका अभाव है। यदि उनमें सर्वथा गुणोंका अभाव मान लें तो उनके कार्योंमें जो गुण प्रकट होते

हैं, वे उन कारणोंके विपरीत होंगे। यदि कहें कि विभिन्न भूतोंके अनुसार उनके कारणोंमें कहीं अधिक, कहीं कम गुण स्वीकार करनेसे यह दोष नहीं आवेगा, तो ठीक नहीं है; क्योंकि जिन परमाणुओंमें अधिक गुण माने जायँगे, उनकी परमाणुता ही नहीं रह जायगी; अतः परमाणुवाद किसी भी युक्तिसे सिद्ध नहीं होता है।

सम्बन्ध—अब परमाणुवादको अग्राह्य बताते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—

अपरिग्रहाच्चात्यन्तमनपेक्षा ॥ २ । २ । १७ ॥

अपरिग्रहात्=परमाणुकारणवादको शिष्ट पुरुषोंने ग्रहण नहीं किया है, इसलिये; **च**=भी; **अत्यन्तम् अनपेक्षा**=इसकी अत्यन्त उपेक्षा करनी चाहिये।

*व्याख्या—*पूर्वोक्त प्रधानकारणवादमें अंशतः सत्कार्यवादका निरूपण है। अतः उस सत्कार्यवादरूप अंशको मनु आदि शिष्टपुरुषोंने ग्रहण किया हैं, परन्तु इस परमाणु-कारणवादको तो किसी भी श्रेष्ठ पुरुषने स्वीकार नहीं किया है, अतः यह सर्वथा उपेक्षणीय है।

सम्बन्ध—पहले ग्यारहवेंसे सत्रहवेंतक सात सूत्रोंमें परमाणुवादका खण्डन किया गया। अब क्षणिकवादका निराकरण करनेके लिये यह प्रकरण आरम्भ करते हैं—

समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः ॥ २ । २ । १८ ॥

उभयहेतुके=परमाणुहेतुक बाह्यसमुदाय और स्कन्धहेतुक आभ्यन्तर समुदाय ऐसे दो प्रकारके; **समुदाये**=समुदायको स्वीकार कर लेनेपर; **अपि**=भी; **तदप्राप्तिः**=उस समुदायकी प्राप्ति (सिद्धि) नहीं होती है।

*व्याख्या—*बौद्धमतके अनुयायी परस्पर किञ्चित् मतभेदको लेकर चार श्रेणियोंमें विभक्त हो गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं—वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार तथा माध्यमिक। इनमें वैभाषिक और सौत्रान्तिक ये दोनों बाह्य पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं। दोनोंमें अन्तर इतना ही है कि वैभाषिक प्रत्यक्ष दीखनेवाले बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व मानता है और सौत्रान्तिक विज्ञानसे अनुमित बाह्य पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करता है। वैभाषिकके मतमें घट आदि बाह्य पदार्थ प्रत्यक्ष प्रमाणके विषय हैं। सौत्रान्तिक घट आदिके रूपमें उत्पन्न

विज्ञानको ही प्रत्यक्ष मानता है और उसके द्वारा घटादि पदार्थोंकी सत्ताका अनुमान करता है । योगाचारके मतमें 'निरालम्बन विज्ञान' मात्रकी ही सत्ता है, बाह्य पदार्थ स्वप्नमें देखी जानेवाली वस्तुओंकी भाँति मिथ्या है । माध्यमिक सबको शून्य ही मानता है । उसके मतमें दीप-शिखाकी भाँति संस्कारवश क्षणिक विज्ञानकी धारा ही बाह्य पदार्थोंके रूपमें प्रतीत होती है । जैसे दीपककी शिखा प्रतिक्षण मिट रही है, फिर भी एक धारा-सी बनी रहनेके कारण उसकी प्रतीति होती है, उसी प्रकार बाह्य पदार्थ भी प्रतिक्षण नष्ट हो रहे हैं, उनकी विज्ञान-धारा मात्र प्रतीत होती है । जैसे तैल चुक जानेपर दीपशिखा बुझ जाती है, उसी प्रकार संस्कार नष्ट होनेपर विज्ञान-धारा भी शान्त हो जाती है । इस प्रकार अभाव या शून्यताकी प्राप्ति ही उसकी मान्यताके अनुसार अपवर्ग या मुक्ति है ।

इस सूत्रमें वैभाषिक तथा सौत्रान्तिकके मतको एक मानकर उसका निराकरण किया जाता है । उन दोनोंकी मान्यताका स्वरूप इस प्रकार है— रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा तथा संस्कार—ये पाँच स्कन्ध हैं । पृथिवी आदि चार भूत तथा भौतिक वस्तुएँ—शरीर, इन्द्रिय और विषय—ये 'रूपस्कन्ध' कहलाते हैं । पार्थिव परमाणु रूप, रस, गन्ध और स्पर्श—इन चार गुणोंसे युक्त एवं कठोर स्वभाववाले होते हैं; वे ही समुदायरूपमें एकत्र हो पृथिवीके आकार-में संगठित होते हैं । जलीय परमाणु रूप, रस और स्पर्श इन तीनोंसे युक्त एवं स्निग्ध स्वभावके होते हैं; वे ही जलके आकारमें संगठित होते हैं । तेजके परमाणु रूप और स्पर्श गुणसे युक्त एवं उष्ण स्वभाववाले हैं; वे अग्निके आकारमें संगठित हो जाते हैं । वायुके परमाणु स्पर्शकी योग्यतावाले एवं गतिशील होते हैं; वे ही वायुरूपमें संगठित होते हैं । फिर पृथिवी आदि चार भूत शरीर, इन्द्रिय और विषयरूपमें संगठित होते हैं । इस तरह ये चार प्रकार-के क्षणिक परमाणु हैं, जो भूत-भौतिक संघातकी उत्पत्तिमें कारण बनते हैं । यह परमाणुहेतुक भूत-भौतिकवर्ग ही रूपस्कन्ध एवं बाह्यसमुदाय कहलाता है । विज्ञानस्कन्ध कहते हैं आभ्यन्तरिक विज्ञानके प्रवाहको । इसीमें 'मैं' की प्रतीति होती है । यही घट-ज्ञान, पट-ज्ञान आदिके रूपमें अविच्छिन्न धाराकी भाँति स्थित है । इसीको कर्ता, भोक्ता और आत्मा कहते हैं । इसीसे सारा लौकिक व्यवहार चलता है । सुख-दुःख आदिकी अनुभूतिका नाम वेदना स्कन्ध है । उपलक्षणसे जो वस्तुकी प्रतीति करायी जाती है, जैसे ध्वजसे गृहकी और दण्डसे पुरुषकी,

उसीका नाम संज्ञास्कन्ध है। राग, द्वेष, मोह, मद, मात्सर्य, भय, शोक और विषाद आदि जो चित्तके धर्म हैं, उन्हींको संस्कारस्कन्ध कहते हैं। विज्ञान आदि चार स्कन्ध चित्त-चैत्तिक कहलाते हैं। विज्ञानस्कन्धरूप चित्तका नाम ही आत्मा है; शेष तीन स्कन्ध 'चैत्य' अथवा 'चैत्तिक' हैं। ये सब प्रकारके व्यवहारोंका आश्रय बनकर अन्तःकरणमें संगठित होते हैं। यह चारों स्कन्धोंका समुदाय या चित्त-चैत्तिक वर्ग 'आभ्यन्तर समुदाय' कहा गया है। इन दोनों समुदायोंसे भिन्न और किसी वस्तु (आत्मा, आकाश आदि) की सत्ता ही नहीं है। ये ही दोनों बाह्य और आभ्यन्तर समुदाय समस्त लोक-व्यवहारके निर्वाहक हैं। इनसे ही सब कार्य चल जाता है, इसलिये नित्य 'आत्मा' को माननेकी आवश्यकता ही नहीं है।

इसके उत्तरमें कहा जाता है कि परमाणु जिसमें हेतु बताये गये हैं, वह भूत-भौतिक बाह्य-समुदाय और स्कन्धहेतुक आभ्यन्तर-समुदाय—ये दोनों प्रकारके समुदाय तुम्हारे कथनानुसार मान लिये जायँ तो भी उक्त समुदायकी सिद्धि असम्भव ही है; क्योंकि समुदायके अन्तर्गत जो वस्तुएँ हैं, वे सब अचेतन हैं, एक-दूसरेकी अपेक्षासे शून्य हैं। अतः उनके द्वारा समुदाय अथवा संघात बना लेना असम्भव है। परमाणु आदि सभी वस्तुएँ तुम्हारी मान्यताके अनुसार क्षणिक भी हैं। एक क्षणमें जो परमाणु हैं, वे दूसरे क्षणमें नहीं हैं। फिर वे क्षणविध्वंसी परमाणु और पृथिवी आदि भूत इस समुदाय या संघातके रूपमें एकत्र होनेका प्रयत्न कैसे कर सकते हैं, कैसे उनका संघात बन सकता है अर्थात् किसी प्रकार और कभी भी नहीं बन सकता; इसलिये उनके संघात-पूर्वक जगत्-उत्पत्तिकी कल्पना करना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है; अतः वैभाषिक और सौत्रान्तिकोंका मत मानने योग्य नहीं है।

सम्बन्ध—पूर्वपक्षीकी ओरसे दिये जानेवाले समाधानका स्वयं उल्लेख करके सूत्रकार उसका खण्डन करते हैं—

इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥ २ । २ । १९ ॥

चेत्=यदि कहो; **इतरेतरप्रत्ययत्वात्**=अविद्या, संस्कार, विज्ञान आदिमेंसे एक-एक दूसरे-दूसरेके कारण होते हैं, अतः इन्हींसे समुदायकी सिद्धि हो सकती है; **इति न**=तो यह ठीक नहीं है; **उत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात्**=क्योंकि

ये अविद्या आदि उत्तरोत्तरकी उत्पत्तिमात्रमें ही निमित्त माने गये हैं (समुदाय या संघातमें नहीं; अतः इनसे भी समुदायकी सिद्धि नहीं हो सकती)।

व्याख्या—बौद्धशास्त्रमें विज्ञानसंततिके कुछ हेतु माने गये हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नाम, रूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरा, मरण, शोक, परिदेवना, दुःख तथा दुर्मनस्ता आदि। क्षणिक वस्तुओंमें नित्यता और स्थिरता आदिका जो भ्रम है, वही 'अविद्या' कहलाता है। यह अविद्या विषयोंमें रागादिरूप 'संस्कार' उत्पन्न करनेमें कारण बनती है। वह संस्कार गर्भस्थ शिशुमें आलय 'विज्ञान' उत्पन्न करता है। उस आलय-विज्ञानसे पृथिवी आदि चार भूत होते हैं, जो शरीर एवं समुदायके कारण हैं। वही नामका आश्रय होनेसे 'नाम' भी कहा गया है। वह नाम ही श्याम-गौर आदि रूपवाले शरीरका उत्पादक होता है। गर्भस्थ शरीरकी जो कलल-बुद्बुद आदि अवस्थाएँ हैं, उन्हींको नाम तथा 'रूप' शब्दका वाच्य कहा गया है। पृथिवी आदि चार भूत, नाम, रूप, शरीर, विज्ञान और धातु—ये छः जिनके आश्रय हैं, उन इन्द्रियोंके समूहको 'षडायतन' कहा गया है। नाम, रूप तथा इन्द्रियोंके परस्पर सम्बन्धका नाम 'स्पर्श' है। उससे सुख आदिकी 'वेदना' (अनुभूति) होती है। उससे क्रमशः तृष्णा, उपादान, भव, जाति, जरावस्था, मृत्यु, शोक, परिदेवना तथा दुर्मनस्ता (मनकी उद्विग्नता) आदि भी इसी प्रकार उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् पुनः अविद्या आदिके क्रमसे पूर्वोक्त सभी बातें प्रकट होती रहती हैं। ये घटीयन्त्र (रहट)की भाँति निरन्तर चक्कर लगाते हैं, अतः यदि इस मान्यताको लेकर कहा जाय कि इन्हींसे समुदायकी भी सिद्धि हो जाती है तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि पूर्वोक्त अविद्या आदिमेंसे जो पूर्ववर्ती है, वह बादमें कहे हुए संस्कार आदिकी उत्पत्तिमात्रमें कारण होता है, संघातकी उत्पत्तिमें नहीं; अतः उसकी सिद्धि असम्भव है।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें यह बात बतायी गयी कि अविद्या आदि हेतु संस्कार आदिकी उत्पत्तिमात्रमें ही निमित्त माने गये हैं, अतः उनसे संघात (समुदाय) की सिद्धि नहीं हो सकती। अब यह सिद्ध करते हैं कि वे अविद्या आदि हेतु संस्कार आदि भावोंकी उत्पत्तिमें भी निमित्त नहीं हो सकते—

उत्तरोत्पादे च पूर्वनिरोधात् ॥ २ । २ । २० ॥

च=तथा; **उत्तरोत्पादे**=बादमें होनेवाले भावकी उत्पत्तिके समय; **पूर्व-निरोधात्**=पहले क्षणमें विद्यमान कारणका नाश हो जाता है, इसलिये (पूर्वोक्त अविद्या आदि हेतु संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावोंकी उत्पत्तिमें कारण नहीं हो सकते)।

व्याख्या—घट और वस्त्र आदिमें यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि कारणभूत मृत्तिका और तन्तु आदि अपने कार्यके साथ विद्यमान रहते हैं। तभी उनमें कार्य-कारणभावकी सिद्धि होती है; किंतु बौद्धमतमें समस्त पदार्थोंका प्रत्येक क्षणमें नाश माना गया है, अतः उनके मतानुसार कार्यमें कारणकी विद्यमानता सिद्ध नहीं होगी। जिस क्षणमें कार्यकी उत्पत्ति होगी, उसी क्षणमें कारणका निरोध अर्थात् विनाश हो जायगा; इसलिये उनकी मान्यताके अनुसार कारण-कार्यभावकी सिद्धि न होनेसे वे अविद्या आदि हेतु संस्कार आदि उत्तरोत्तर भावोंकी उत्पत्तिके कारण नहीं हो सकते।

सम्बन्ध—कारणके न रहनेपर भी कार्यकी उत्पत्ति मान लें तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—

असति प्रतिज्ञोपरोधो यौगपद्यमन्यथा ॥ २ । २ । २१ ॥

असति=कारणके न रहनेपर (भी कार्यकी उत्पत्ति माननेसे); **प्रतिज्ञोप-रोधः**=प्रतिज्ञा भंग होगी; **अन्यथा**=नहीं तो; **यौगपद्यम्**=कारण और कार्यकी एक कालमें सत्ता माननी पड़ेगी।

व्याख्या—बौद्ध-मतमें चार हेतुओंसे विज्ञानकी उत्पत्ति मानी गयी है, उनके नाम इस प्रकार हैं—अधिपतिप्रत्यय, सहकारिप्रत्यय, समनन्तरप्रत्यय और आलम्बनप्रत्यय। ये क्रमशः इन्द्रिय, प्रकाश, मनोयोग और विषयके बोधक हैं। इन चारों हेतुओंके होनेपर ही विज्ञानकी उत्पत्ति होती है, यह उनकी प्रतिज्ञा है। यदि कारणके बिना ही कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो उक्त प्रतिज्ञा भंग होगी और यदि ऐसा नहीं मानते हैं तो कारण और कार्य दोनोंकी एक कालमें सत्ता माननी पड़ेगी; अतः किसी प्रकार भी उनका मत समीचीन अथवा उपादेय नहीं है।

सम्बन्ध—बौद्धमतानुयायी यह मानते हैं कि प्रतिसंख्या-निरोध, अप्रति-संख्यानिरोध तथा आकाश—इन तीनोंके अतिरिक्त समस्त वस्तुएँ क्षणिक (प्रतिक्षण नष्ट होनेवाली) हैं। दोनों निरोध और आकाश तो कोई वस्तु ही

नहीं हैं, ये अभावमात्र हैं । निरोध तो विनाशका बोधक होनेसे अभाव है ही, आकाश भी आवरणका अभावमात्र ही है । इनमेंसे आकाशकी अभावरूपताका निराकरण तो २४ वें सूत्रमें किया जायगा । यहाँ उनके माने हुए दो प्रकारके निरोधोंका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात् ॥ २ । २ । २२ ॥

प्रतिसंख्याप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिः=प्रतिसंख्यानिरोध और अप्रतिसंख्या-निरोध—इन दो प्रकारके निरोधोंकी सिद्धि नहीं हो सकती; **अविच्छेदात्**=क्योंकि संतान (प्रवाह) का विच्छेद नहीं होता ।

व्याख्या—उनके मतमें जो बुद्धिपूर्वक सहेतुक विनाश है, उसका नाम प्रतिसंख्या-निरोध है । यह तो पूर्णज्ञानसे होनेवाले आत्यन्तिक प्रलयका बोधक है । दूसरा जो स्वभावसे ही बिना किसी निमित्तके अबुद्धिपूर्वक विनाश होता है, उसका नाम अप्रतिसंख्या-निरोध है । यह स्वाभाविक प्रलय है । यह दोनों प्रकार-का निरोध—किसी वस्तुका न रहना सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि वे समस्त पदार्थोंको प्रतिक्षण विनाशशील मानते हैं और असत् कारणोंसे 'सत्' कार्यकी उत्पत्ति भी प्रतिक्षण स्वीकार करते हैं । इस मान्यताके अनुसार एक पदार्थका नाश और दूसरेकी उत्पत्तिका क्रम विद्यमान रहनेसे दोनोंकी परम्परा निरन्तर चलती ही रहेगी । इसके रुकनेका कोई भी कारण उनकी मान्यताके अनुसार नहीं है । इसलिये किसी प्रकारके निरोधकी सिद्धि नहीं होगी ।

सम्बन्ध—बौद्धमतवाले ऐसा मानते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक और असत्य होते हुए भी भ्रान्तिरूप अविद्याके कारण स्थिर और सत्य प्रतीत होते हैं । ज्ञानके द्वारा अविद्याका अभाव होनेसे सबका अभाव हो जाता है । इस प्रकार बुद्धिपूर्वक निरोधकी सिद्धि होती है । इसका निराकरण करनेके लिये कहते हैं—

उभयथा च दोषात् ॥ २ । २ । २३ ॥

उभयथा=दोनों प्रकारसे; **च**=भी; **दोषात्**=दोष आता है, इसलिये (उनकी मान्यता युक्तिसंगत नहीं है) ।

व्याख्या—यदि यह माना जाय कि भ्रान्तिरूप अविद्यासे प्रतीत होनेवाला यह जगत् पूर्ण ज्ञानसे अविद्याका नाश होनेपर उसीके साथ नष्ट हो जाता है;

तब तो जो बिना कारणके अपने आप विनाश—सब पदार्थोंका अभाव माना गया है, उस अप्रतिसंख्यानिरोधकी मान्यतामें विरोध आवेगा तथा यदि यह माना जाय कि भ्रान्तिसे प्रतीत होनेवाला जगत् बिना पूर्ण ज्ञानके अपने-आप नष्ट हो जाता है, तब ज्ञान और उसके साधनका उपदेश व्यर्थ होगा। अतः उनका मत किसी प्रकार भी युक्तिसङ्गत नहीं है।

सम्बन्ध—अब आकाश कोई पदार्थ नहीं, किंतु आवरणका अभावमात्र है, इस मान्यताका खण्डन करते हैं—

आकाशे चाविशेषात् ॥ २ । २ । २४ ॥

आकाशे=आकाशके विषयमें; **च**=भी, उनकी मान्यता ठीक नहीं है; **अविशेषात्**=क्योंकि अन्य भाव-पदार्थोंसे उसमें कोई विशेषता नहीं है।

व्याख्या—पृथिवी, जल आदि जितने भी भाव-पदार्थ देखे जाते हैं, उन्हींकी भाँति आकाश भी भावरूप है। आकाशकी भी सत्ताका सबको बोध होता है। पृथिवी गन्धका, जल रसका, तेज रूपका तथा वायु स्पर्शका आश्रय है; इसी प्रकार शब्दका भी कोई आश्रय होना चाहिये। आकाश ही उसका आश्रय है; आकाशमें ही शब्दका श्रवण होता है। यदि आकाश न हो तो शब्दका श्रवण ही नहीं हो सकता। प्रत्येक वस्तुके लिये आधार और अवकाश (स्थान) चाहिये। आकाश ही शेष चार भूतोंका आधार है तथा वही सम्पूर्ण जगत्को अवकाश देता है। इससे भी आकाशकी सत्ता प्रत्यक्ष है। पक्षी आकाशमें चलनेके कारण ही खग या विहंग कहलाते हैं। कोई भी भाव-पदार्थ अभावमें नहीं विचरण करता है। श्रुतिने परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार की है—'आत्मन आकाशः सम्भूतः' ।' (तै० उ० २ । १)। इस प्रकार युक्ति तथा प्रमाणसे भी आकाशकी सत्ता सिद्ध है, कोई ऐसा विशेष कारण नहीं है, जिससे आकाशको भावरूप न माना जा सके। अतः आकाशकी अभावरूपता किसी प्रकार सिद्ध न होनेके कारण बौद्धोंकी मान्यता युक्तिसङ्गत नहीं है।

सम्बन्ध—बौद्धोंके मतमें 'आत्मा' भी नित्य वस्तु नहीं, क्षणिक है; अतः उनकी इस मान्यताका खण्डन करते हुए कहते हैं—

अनुस्मृतेश्च ॥ २ । २ । २५ ॥

अनुस्मृतेः=पहलेके अनुभवोंका बारम्बार स्मरण होता है, (इसलिये अनुभव करनेवाला आत्मा क्षणिक नहीं है) इस युक्तिसे; **च**=भी (बौद्धमत असङ्गत सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—सभी मनुष्योंको अपने पहले किये हुए अनुभवोंका बारम्बार स्मरण होता है । जैसे 'मैंने अमुक दिन अमुक ग्राममें अमुक वस्तु देखी थी, मैं बालकपनमें अमुक खेल खेला करता था । मैंने आजसे बीस वर्ष पहले जिसे देखा था, वही यह है ।' इत्यादि । इस प्रकार पूर्व अनुभवोंका जो बारम्बार स्मरण होता है, उसे 'अनुस्मृति' कहते हैं । यह तभी हो सकती है, जब कि अनुभव करनेवाला आत्मा नित्य माना जाय । उसे क्षणिक माननेसे यह स्मरण नहीं बन सकता; क्योंकि एक क्षण पहले जो अनुभव करनेवाला था, वह दूसरे क्षणमें नहीं रहता । बहुत वर्षोंमें तो असंख्य क्षणोंके भीतर असंख्य बार आत्माका परिवर्तन हो जायगा । अतः उक्त अनुस्मृति होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि आत्मा क्षणिक नहीं, किन्तु नित्य है । इसीलिये बौद्धोंका क्षणिकवाद सर्वथा अनुपपन्न है ।

सम्बन्ध—बौद्धोंका यह कथन है कि 'जब बोया हुआ बीज स्वयं नष्ट होता है, तभी उससे अङ्कुर उत्पन्न होता है । दूधको मिटाकर दही बनता है; इसी प्रकार कारण स्वयं नष्ट होकर ही कार्य उत्पन्न करता है ।' इस तरह अभावसे ही भावकी उत्पत्ति होती है । उनकी इस धारणाका खण्डन करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

नासतोऽदृष्टत्वात् ॥ २ । २ । २६ ॥

असतः=असत्से (कार्यकी उत्पत्ति); **न**=नहीं हो सकती; **अदृष्टत्वात्**=क्योंकि ऐसा देखा नहीं गया है ।

व्याख्या—खरगोशके सींग, आकाशके फूल और वन्ध्या-पुत्र आदि केवल वाणीसे ही कहे जाते हैं, वास्तवमें हैं नहीं; तथा आकाशमें नीलापन और तिरविरे आदि बिना हुए ही प्रतीत होते हैं; ऐसे असत् पदार्थोंसे किसी कार्यकी उत्पत्ति या सिद्धि नहीं देखी जाती है । उनसे विपरीत जो मिट्टी, जल आदि सत् पदार्थ हैं, उनसे घट और बर्फ आदि कार्योंकी उत्पत्ति प्रत्यक्ष देखी जाती है । इससे यही सिद्ध होता है कि जो वास्तवमें नहीं है, केवल वाणीसे जिसका कथनमात्र होता है, अथवा जो बिना हुए ही प्रतीत हो रहा है, उससे कार्यकी उत्पत्ति नहीं

हो सकती । बीज और दूधका अभाव नहीं होता । किन्तु रूपान्तर मात्र होता है; अतः जगत्‌का कारण सत् है और वह सर्वथा सत्य है । इसलिये बौद्धोंकी उपर्युक्त मान्यता असङ्गत है ।

सम्बन्ध—किसी नित्य चेतन कर्ताके बिना क्षणिक पदार्थोंसे अपने-आप कार्य उत्पन्न होते हैं, इस मान्यताका खण्डन दूसरी युक्तिके द्वारा करते हैं—

उदासीनानामपि चैवं सिद्धिः ॥ २ । २ । २७ ॥

च=इसके सिवा; **एवम्**=इस प्रकार (बिना कर्ताके स्वतः कार्यकी उत्पत्ति) माननेपर; **उदासीनानाम्**=उदासीन (कार्य-सिद्धिके लिये चेष्टा न करनेवाले) पुरुषोंका; **अपि**=भी; **सिद्धिः**=कार्य सिद्ध हो सकता है ।

व्याख्या—यदि ऐसा माना जाय कि 'कार्यकी उत्पत्ति होनेमें किसी नित्य चेतन कर्ताकी आवश्यकता नहीं है, क्षणिक पदार्थोंके समुदायसे अपने-आप कार्य उत्पन्न हो जाता है' तब तो जो लोग उदासीन रहते हैं, कार्य आरम्भ नहीं करते या उसकी सिद्धिकी चेष्टासे विरत रहते हैं, उनके कार्य भी पदार्थगत शक्तिसे अपने-आप सिद्ध हो जाने चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता । इससे यही सिद्ध होता है कि उपर्युक्त मान्यता समीचीन नहीं है ।

सम्बन्ध—यहाँतक बौद्धोंके क्षणिकवादका खण्डन किया गया । अब विज्ञानवादका खण्डन करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है । विज्ञानवादी बौद्ध (योगाचार) मानते हैं कि प्रतीत होनेवाला बाह्यपदार्थ वास्तवमें कुछ नहीं है; केवलमात्र स्वप्नकी भाँति बुद्धिकी कल्पना है; इस मान्यताका खण्डन करते हैं—

नाभाव उपलब्धेः ॥ २ । २ । २८ ॥

अभावः=जाननेमें आनेवाले पदार्थोंका अभाव; **न**=नहीं है; **उपलब्धेः**=क्योंकि उनकी उपलब्धि होती है ।

व्याख्या—जाननेमें आनेवाले बाह्यपदार्थ मिथ्या नहीं हैं, वे कारणरूपमें तथा कार्यरूपमें भी सदा ही सत्य हैं । इसलिये उनकी प्रत्यक्ष उपलब्धि होती है । यदि वे स्वप्नगत पदार्थों तथा आकाशमें दीखनेवाली नीलिमा आदिकी भाँति सर्वथा मिथ्या होते तो इनकी उपलब्धि नहीं होती ।

सम्बन्ध—विज्ञानवादियोंकी ओरसे यह कहा जा सकता है कि 'उपलब्धिमात्रसे पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती; क्योंकि स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले तथा

बाजीगरद्वारा उपस्थित किये जानेवाले पदार्थ यद्यपि सत्य नहीं होते तो भी इनकी उपलब्धि देखी जाती है; इसपर कहते हैं—

वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ॥ २ । २ । २९ ॥

वैधर्म्यात्=जाग्रत् अवस्थासे अन्य अवस्थाओंके धर्ममें भेद होनेके कारण; **च**=भी; (जाग्रत्में उपलब्ध होनेवाले पदार्थ) **स्वप्नादिवत्**=स्वप्नादिमें उपलब्ध पदार्थोंकी भाँति; **न**=मिथ्या नहीं हैं ।

व्याख्या—स्वप्नावस्थामें प्रतीत होनेवाले पदार्थ पहलेके देखे, सुने और अनुभव किये हुए ही होते हैं तथा वे जगनेपर उपलब्ध नहीं होते । एकके स्वप्नकी घटना दूसरेको नहीं दीखती । उसी प्रकार बाजीगरद्वारा कल्पित पदार्थ भी थोड़ी देरके बाद नहीं उपलब्ध होते । मरुभूमिकी तप्त बालुकाराशिमें प्रतीत होनेवाले जल, सीपमें दीखनेवाली चाँदी तथा भ्रमवश प्रतीत होनेवाली दूसरी किसी वस्तुकी भी सत्तारूपसे उपलब्धि नहीं होती है । परन्तु जो जाग्रत्-कालमें प्रत्यक्ष दिखायी देनेवाली वस्तुएँ हैं, उनके विषयमें ऐसी बात नहीं है । वे एक ही समय बहुतोंको समान रूपसे उपलब्ध होती हैं, कालान्तरमें भी उनकी उपलब्धि देखी जाती है । एक प्रकारका आकार नष्ट कर दिया जानेपर भी दूसरे आकारमें उनकी सत्ता विद्यमान रहती है । इस प्रकार स्वप्नादिमें भ्रान्तिसे प्रतीत होनेवाले पदार्थोंके और सत्पदार्थोंके धर्मोंमें बहुत अन्तर है । इसलिये स्वप्नादिके दृष्टान्तके बलपर यह कहना उपयुक्त नहीं है कि 'उपलब्धिमात्रसे पदार्थकी सत्ता सिद्ध नहीं होती ।'

सम्बन्ध—विज्ञानवादी ऐसा कहते हैं कि बाह्य पदार्थ न होनेपर भी पूर्व-वासनाके कारण बुद्धिद्वारा उन विचित्र पदार्थोंका उपलब्ध होना सम्भव है; अतः इसका खण्डन करते हैं—

न भावोऽनुपलब्धेः ॥ २ । २ । ३० ॥

भावः=विज्ञानवादियोंद्वारा कल्पित वासनाकी सत्ता; **न**=सिद्ध नहीं होती; **अनुपलब्धेः**=क्योंकि उनके मतके अनुसार बाह्य पदार्थोंकी उपलब्धि ही नहीं हो सकती ।

व्याख्या—जो वस्तु पहले उपलब्ध हो चुकी है, उसीके संस्कार बुद्धिमें जमते हैं और वे ही वासनारूपसे स्फुरित होते हैं । पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार न

करनेसे उनकी उपलब्धि नहीं होगी और उपलब्धि सिद्ध हुए बिना पूर्व अनुभवके अनुसार वासनाका होना सिद्ध नहीं होगा । इसलिये विज्ञानवादियोंकी मान्यता ठीक नहीं है । बाह्य पदार्थोंको सत्य मानना ही युक्तिसङ्गत है ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे वासनाका खण्डन करते हैं—

क्षणिकत्वाच्च ॥ २ । २ । ३१ ॥

क्षणिकत्वात्=बौद्धमतके अनुसार वासनाकी आधारभूता बुद्धि भी क्षणिक है, इसलिये; **च**=भी (वासनाकी सत्ता सिद्ध नहीं होती) ।

*व्याख्या—*वासनाकी आधारभूता जो बुद्धि है, उसे भी विज्ञानवादी क्षणिक मानते हैं । इसलिये वासनाके आधारकी स्थिर सत्ता न होनेके कारण निराधार वासनाका अस्तित्व सिद्ध नहीं हो सकता, इसलिये भी बौद्धमत भ्रान्तिपूर्ण है ।

सम्बन्ध—अब सूत्रकार बौद्धमतमें सब प्रकारकी अनुपपत्ति होनेके कारण उसकी अनुपयोगिता सूचित करते हुए इस प्रकरणका उपसंहार करते हैं—

सर्वथानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३२ ॥

(विचार करनेपर बौद्धमतमें) **सर्वथा**=सब प्रकारसे; **अनुपपत्तेः**=अनुपपत्ति (असङ्गति) दिखायी देती है, इसलिये; **च**=भी (बौद्धमत उपादेय नहीं है) ।

*व्याख्या—*बौद्धमतकी मान्यताओंपर जितना ही विचार किया जाता है, उतना ही उनकी प्रत्येक बात युक्तिविरुद्ध जान पड़ती है । बौद्धोंकी प्रत्येक मान्यताका युक्तियोंसे खण्डन हो जाता है, अतः वह कदापि उपादेय नहीं है । यहाँ सूत्रकारने प्रसङ्गका उपसंहार करते हुए माध्यमिक बौद्धोंके सर्वशून्यवादका भी खण्डन कर दिया—यह बात इसीके अन्तर्गत समझ लेनी चाहिये । तात्पर्य यह कि क्षणिकवाद और विज्ञानवादका जिन युक्तियोंसे खण्डन किया गया है, उन्हींके द्वारा सर्वशून्यवादका भी खण्डन हो गया; ऐसा मानना चाहिये ।

सम्बन्ध—यहाँतक बौद्धमतका निराकरण करके अब जैनमतका खण्डन करनेके लिये नया प्रकरण आरम्भ करते हैं । जैनीलोग सप्तभङ्गी-न्यायके अनुसार एक ही पदार्थकी सत्ता और असत्ता दोनों स्वीकार करते हैं; उनकी इस मान्यताका निराकरण करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

नैकस्मिन्नसंभवात् ॥ २ । २ । ३३ ॥

एकस्मिन्=एक सत्य पदार्थमें; **न**=परस्पर-विरुद्ध अनेक धर्म नहीं रह सकते; **असंभवात्**=क्योंकि यह असम्भव है ।

व्याख्या—जैनीलोग सात पदार्थ* और पञ्च अस्तिकाय† मानते हैं और सर्वत्र सप्तभङ्गी-न्यायकी अवतारणा करते हैं । उनकी मान्यताके अनुसार सप्तभङ्गी-न्यायका स्वरूप इस प्रकार है— १ स्यादस्ति (सम्भव है, पदार्थकी सत्ता हो), २ स्यान्नास्ति (सम्भव है, उसकी सत्ता न हो), ३ स्यादस्ति च नास्ति च (हो सकता है कि पदार्थकी सत्ता हो भी और न भी हो), ४ स्यादवक्तव्यः (सम्भव है, वह कहने या वर्णन करने योग्य न हो), ५ स्यादस्ति चावक्तव्यश्च (सम्भव है, उसकी सत्ता हो, पर वह वर्णन करने योग्य न हो), ६ स्यान्नास्ति चावक्तव्यश्च (सम्भव है, उसकी सत्ता भी न हो और वह वर्णन करने योग्य भी न हो) तथा ७ स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यश्च (सम्भव है, उसकी सत्ता हो, न भी हो और वह वर्णन करनेके योग्य भी न हो) । इस तरह वे प्रत्येक पदार्थके विषयमें विकल्प रखते हैं । सूत्रकारने इस सूत्रके द्वारा इसीका निराकरण किया है । उनका कहना है कि जो एक सत्य पदार्थ है, उसके प्रकारभेद तो हो सकते हैं; परन्तु उसमें विरोधी धर्म नहीं हो सकते । जो वस्तु है, उसका अभाव नहीं हो सकता । जो नहीं है, उसकी विद्यमानता नहीं हो सकती । जो नित्य पदार्थ है, वह नित्य ही है, अनित्य नहीं है । जो अनित्य है, वह अनित्य ही है, नित्य नहीं है । इसी प्रकार समझ लेना चाहिये । अतः जैनियोंका प्रत्येक वस्तुको विरुद्ध धर्मोंसे युक्त मानना युक्तिसंगत नहीं है ।

सम्बन्ध—जैनीलोगोंकी दूसरी मान्यता यह है कि आत्माका माप शरीरके बराबर है, उसमें दोष दिखाते हुए सूत्रकार कहते हैं—

एवं चात्माकार्त्स्न्यम् ॥ २ । २ । ३४ ॥

एवं च=इसी प्रकार; **आत्माकार्त्स्न्यम्**=आत्माको अपूर्ण—एकदेशीय अर्थात् शरीरके बराबर मापवाला मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं है ।

---

* उनके बताये हुए सात पदार्थ इस प्रकार हैं—जीव, अजीव, आस्रव, संवर, निर्जर, बन्ध और मोक्ष ।

† पाँच अस्तिकाय इस प्रकार हैं—जीवास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय तथा आकाशास्तिकाय ।

व्याख्या—जिस प्रकार एक पदार्थमें विरुद्ध धर्मोंको मानना युक्तिसङ्गत नहीं है, उसी प्रकार आत्माको एकदेशीय अर्थात् शरीरके बराबर मापवाला मानना भी युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि किसी मनुष्यशरीरमें रहनेवाले आत्माको यदि उसके कर्मवश कभी चींटीका शरीर प्राप्त हो तो वह उसमें कैसे समायेगा ? इसी तरह यदि उसे हाथीका शरीर मिले तो उसका माप हाथीके बराबर कैसे हो जायगा । इसके सिवा, मनुष्यका शरीर भी जन्मके समय बहुत छोटा-सा होता है, पीछे बहुत बड़ा हो जाता है तो आत्माका माप किस अवस्थाके शरीरके बराबर मानेंगे ? शरीरका हाथ या पैर आदि कोई अंग कट जानेसे आत्मा नहीं कट जाता । इस प्रकार विचार करनेसे आत्माको शरीरके बराबर माननेकी बात भी सर्वथा दोषपूर्ण प्रतीत होती है; अतः जैनमत भी अनुपपन्न होनेके कारण अमान्य है ।

सम्बन्ध—यदि जैनीलोग यह कहें कि 'आत्मा छोटे शरीरमें छोटा और बड़ेमें बड़ा हो जाता है, इसलिये हमारी मान्यतामें कोई दोष नहीं है' तो इसके उत्तरमें कहते हैं—

न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः ॥ २ । २ । ३५ ॥

च=इसके सिवा; **पर्यायात्**=आत्माको घटने-बढ़नेवाला मान लेनेसे; **अपि**=भी; **अविरोधः**=विरोधका निवारण; **न**=नहीं हो सकता; **विकारादिभ्यः**= क्योंकि ऐसा माननेपर आत्मामें विकार आदि दोष प्राप्त होंगे ।

व्याख्या—यदि यह मान लिया जाय कि आत्माको जब-जब जैसे मापवाला छोटा-बड़ा शरीर मिलता है, तब-तब वह भी वैसे ही मापवाला हो जाता है, तो भी आत्मा निर्दोष नहीं ठहरता; क्योंकि ऐसा मान लेनेपर उसको विकारी, अवयवयुक्त, अनित्य तथा इसी प्रकार अन्य अनेक दोषोंसे युक्त मानना हो जायगा । जो पदार्थ घटता-बढ़ता है, वह अवयवयुक्त होता है, किन्तु आत्मा अवयवयुक्त नहीं माना गया है । घटने-बढ़नेवाला पदार्थ नित्य नहीं हो सकता, परन्तु आत्माको नित्य माना गया है । घटना और बढ़ना विकार है, यह आत्मामें सम्भव नहीं है, क्योंकि उसे निर्विकार माना गया है । इस प्रकार घटना-बढ़ना माननेसे अनेक दोष आत्मामें प्राप्त हो सकते हैं, अतः जैनियोंकी उपर्युक्त मान्यता युक्तिसङ्गत नहीं है ।

सम्बन्ध—जीवात्माको शरीरके बराबर मापवाला मानना सर्वथा असङ्गत है, इस बातको प्रकारान्तरसे सिद्ध करते हैं—

अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः ॥ २ । २ । ३६ ॥

च=और; **अन्त्यावस्थितेः**=अन्तिम अर्थात् मोक्षावस्थामें जो जीवका परिमाण है, उसकी नित्य स्थिति स्वीकार की गयी है, इसलिये; **उभयनित्यत्वात्**=आदि और मध्य-अवस्थामें जो उसका परिमाण (माप) रहा है, उसको भी नित्य मानना हो जाता है, अतः; **अविशेषः**=कोई विशेषता नहीं रह जाती (सब शरीरोंमें उसका एक-सा माप सिद्ध हो जाता है)।

व्याख्या—जैन-सिद्धान्तमें यह स्वीकार किया गया है कि मोक्षावस्थामें जो जीवका परिमाण है, उसकी नित्य स्थिति है। वह घटता-बढ़ता नहीं है। इस कारण आदि और मध्यकी अवस्थामें भी जो उसका परिमाण है, उसको भी उसी प्रकार नित्य मानना हो जाता है; क्योंकि पहलेका माप अनित्य मान लेनेपर अन्तिम मापको भी नित्य नहीं माना जा सकता। जो नित्य है, वह सदासे ही एक-सा रहता है। बीचमें घटता-बढ़ता नहीं है। इसलिये पहले या बीचकी अवस्थाओंमें जितने शरीर उसे प्राप्त होते हैं, उन सबमें उसका छोटा या बड़ा एक-सा ही माप मानना पड़ेगा। किसी प्रकारकी विशेषताका मानना युक्तिसंगत नहीं होगा। इस प्रकार पूर्वापरकी मान्यतामें विरोध होनेके कारण आत्माको प्रत्येक शरीरके मापवाला मानना सर्वथा असंगत है। अतएव जैन-सिद्धान्त माननेके योग्य नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अनीश्वरवादियोंके मतका निराकरण करके अब पाशुपत सिद्धान्तवालोंकी मान्यतामें दोष दिखानेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

पत्युरसामञ्जस्यात् ॥ २ । २ । ३७ ॥

पत्युः=पशुपतिका मत भी आदरणीय नहीं है; **असामञ्जस्यात्**=क्योंकि वह युक्तिविरुद्ध है।

व्याख्या—पशुपति-मतको माननेवालोंकी कल्पना बड़ी विचित्र है। इनके मतमें तत्त्वोंकी कल्पना वेदविरुद्ध है तथा मुक्तिके साधन भी ये लोग वेदविरुद्ध ही मानते हैं। उनका कथन है कि कण्ठी, रुचिका, कुण्डल, जटा, भस्म और यज्ञोपवीत—ये छः मुद्राएँ हैं, इनके द्वारा जो अपने शरीरको मुद्रित अर्थात् चिह्नित

कर लेता है, वह इस संसारमें पुनः जन्म नहीं धारण करता। हाथमें रुद्राक्षका कंकण पहनना, मस्तकपर जटा धारण करना, मुर्देकी खोपड़ी लिये रहना तथा शरीरमें भस्म लगाना—इन सबसे मुक्ति मिलती है। इत्यादि प्रकारसे वे चिह्न धारण करनेमात्रसे भी मोक्ष होना मानते हैं। इसके सिवा, वे महेश्वरको केवल निमित्त कारण तथा प्रधानको उपादान कारण मानते हैं। ये सब बातें युक्तिसंगत नहीं हैं; इसलिये यह मत माननेयोग्य नहीं है।

सम्बन्ध—अब पाशुपतोंके दार्शनिक मत निमित्तकारणवादका खण्डन करते हैं—

सम्बन्धानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३८ ॥

सम्बन्धानुपपत्तेः=सम्बन्धकी सिद्धि न होनेसे; **च**=भी (यह मान्यता असंगत है)।

व्याख्या—पाशुपतोंकी मान्यताके अनुसार यदि ईश्वरको केवल निमित्त कारण माना जाय तो उपादान कारणके साथ उसका किस प्रकार सम्बन्ध होगा, यह बताना आवश्यक है। लोकमें यह देखा जाता है कि शरीरधारी निमित्त कारण कुम्भकार आदि ही घट आदि कार्यके लिये मृत्तिका आदि साधनोंके साथ अपना संयोग-सम्बन्ध स्थापित करते हैं; किन्तु ईश्वर शरीरादिसे रहित निराकार है, अतः उसका प्रधान आदिके साथ संयोगरूप सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतएव उसके द्वारा सृष्टिरचना भी नहीं हो सकेगी। जो लोग वेदको प्रमाण मानते हैं, उनको तो सब बातें युक्तिसे सिद्ध करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती; क्योंकि वे परब्रह्म परमेश्वरको वेदके कथनानुसार सर्वशक्तिमान् मानते हैं, अतः वह शक्तिशाली परमेश्वर स्वयं ही निमित्त और उपादान कारण हो सकता है। वेदोंके प्रति जिनकी निष्ठा है, उनके लिये युक्तिका कोई मूल्य नहीं है। वेदमें जो कुछ कहा गया है, वह निर्भ्रान्त सत्य है; युक्ति उसके साथ रहे तो ठीक है। न रहे तो भी कोई चिन्ता नहीं है; किन्तु जिनका मत केवल तर्कपर ही अवलम्बित है, उनको तो अपनी प्रत्येक बात तर्कसे सिद्ध करनी ही चाहिये। परन्तु पाशुपतों-की उपर्युक्त मान्यता न वेदसे सिद्ध होती है, न तर्कसे ही। अतः वह सर्वथा अमान्य है।

सम्बन्ध—अब उक्त मतमें दूसरी अनुपपत्ति दिखलाते हैं—

अधिष्ठानानुपपत्तेश्च ॥ २ । २ । ३९ ॥

अधिष्ठानानुपपत्तेः=अधिष्ठानकी उपपत्ति न होनेके कारण; **च**=भी (ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानना उचित नहीं है)।

व्याख्या—उनकी मान्यताके अनुसार जैसे कुम्भकार मृत्तिका आदि साधन-सामग्रीका अधिष्ठाता होकर घट आदि कार्य करता है, उसी प्रकार सृष्टिकर्ता ईश्वर भी प्रधान आदि साधनोंका अधिष्ठाता होकर ही सृष्टिकार्य कर सकेगा; परन्तु न तो ईश्वर ही कुम्भकारकी भाँति सशरीर है और न प्रधान ही मिट्टी आदिकी भाँति साकार है; अतः रूपादिसे रहित प्रधान निराकार ईश्वरका अधिष्ठेय कैसे हो सकता है? इसलिये ईश्वरको केवल निमित्त कारण माननेवाला पाशुपतमत युक्तिविरुद्ध होनेके कारण मान्य नहीं है।

सम्बन्ध—यदि ऐसी बात है तो ईश्वरको शरीर और इन्द्रियोंसे युक्त क्यों न मान लिया जाय? इसपर कहते हैं—

करणवच्चेन्न भोगादिभ्यः ॥ २ । २ । ४० ॥

चेत्=यदि; **करणवत्**=ईश्वरको शरीर, इन्द्रिय आदि करणोंसे युक्त मान लिया जाय; **न**=तो यह ठीक नहीं है; **भोगादिभ्यः**=क्योंकि भोग आदिसे उसका सम्बन्ध सिद्ध हो जायगा।

व्याख्या—यदि यह मान लिया जाय कि ईश्वर अपने सङ्कल्पसे ही मन, बुद्धि और इन्द्रिय आदिसहित शरीर धारण करके लौकिक दृष्टान्तके अनुसार निमित्त कारण बन जाता है, तो यह भी ठीक नहीं है; क्योंकि शरीरधारी होनेपर साधारण जीवोंकी भाँति उसे कर्मानुसार भोगोंकी प्राप्ति होनेका प्रसङ्ग आ जायगा। उस दशामें उसकी ईश्वरता ही सिद्ध नहीं होगी। अतः ईश्वरको केवल निमित्त कारण मानना युक्तिसंगत नहीं है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त पाशुपतमतमें अन्य दोषोंकी उद्भावना करते हुए कहते हैं—

अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा ॥ २ । २ । ४१ ॥

अन्तवत्त्वम्=(पाशुपतमतमें) ईश्वरके सान्त होनेका; **वा**=अथवा; **असर्वज्ञता**=सर्वज्ञ न होनेका दोष उपस्थित होता है।

व्याख्या—पाशुपतसिद्धान्तके अनुसार ईश्वर अनन्त एवं सर्वज्ञ है। साथ

ही वे प्रधान (प्रकृति) और जीवोंको भी अनन्त मानते हैं। अतः यह प्रश्न उठता है कि उनका माना हुआ ईश्वर यह बात जानता है या नहीं कि 'जीव कितने और कैसे हैं ? प्रधानका स्वरूप क्या और कैसा है ? तथा मैं (ईश्वर) कौन और कैसा हूँ ?' इसके उत्तरमें यदि पाशुपतमतवाले यह कहें कि ईश्वर यह सब कुछ जानता है, तब तो जाननेमें आ जानेवाले पदार्थोंको अनन्त (असीम) मानना या कहना अयुक्त सिद्ध होता है और यदि कहें, वह नहीं जानता तो ईश्वरको सर्वज्ञ मानना नहीं बन सकता। अतः या तो ईश्वर, जीवात्मा और प्रकृतिको सान्त मानना पड़ेगा या ईश्वरको अल्पज्ञ स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार पूर्वोक्त सिद्धान्त दोषयुक्त एवं वेदविरुद्ध होनेके कारण माननेयोग्य नहीं है।

सम्बन्ध—यहाँतक वेदविरुद्ध मतोंका खण्डन किया गया। अब वेद-प्रमाण माननेवाले पाञ्चरात्र आगममें जो आंशिक अनुपपत्तिकी शङ्का उठायी जाती है, उसका समाधान करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं। भागवत-शास्त्र, पाञ्चरात्र आदिकी प्रक्रिया इस प्रकार है—'परम कारण परब्रह्म-स्वरूप 'वासुदेव'से 'सङ्कर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति होती है; सङ्कर्षणसे 'प्रद्युम्न'संज्ञक मन उत्पन्न होता है और उस प्रद्युम्नसे 'अनिरुद्ध' नामधारी अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है।' इसमें दोषकी उद्भावना करते हुए पूर्वपक्षी कहता है—

उत्पत्त्यसम्भवात् ॥ २ । २ । ४२ ॥

उत्पत्त्यसम्भवात्=जीवकी उत्पत्ति सम्भव नहीं है, इसलिये (वासुदेवसे सङ्कर्षणकी उत्पत्ति मानना वेद-विरुद्ध प्रतीत होता है)।

व्याख्या—भागवत-शास्त्र या पाञ्चरात्र आगम जो यह मानता है कि 'इस जगत्के परम कारण परब्रह्म पुरुषोत्तम श्री'वासुदेव' हैं, वे ही इसके निमित्त और उपादान भी हैं;' यह वैदिक मान्यताके सर्वथा अनुकूल है। परन्तु उसमें भगवान् वासुदेवसे जो 'सङ्कर्षण' नामक जीवकी उत्पत्ति बतायी गयी है, यह कथन वेदविरुद्ध जान पड़ता है; क्योंकि श्रुतिमें जीवको जन्म-मरणसे रहित और नित्य कहा गया है (क० उ० १ । २ । १८)। उत्पन्न होनेवाली वस्तु कभी नित्य नहीं हो सकती; अतः जीवकी उत्पत्ति असम्भव है। यदि जीवको उत्पत्ति-

विनाशशील एवं अनित्य मान लिया जाय तो वेद-शास्त्रोंमें जो उसकी बद्ध-मुक्त अवस्थाका वर्णन है, वह व्यर्थ होगा । इसके सिवा, जन्म-मरणरूप बन्धनसे छूटने और परमात्माको प्राप्त करनेके लिये जो वेदोंमें साधन बताये गये हैं, वे सब भी व्यर्थ सिद्ध होते हैं । अतः जीवकी उत्पत्ति मानना उचित नहीं है ।

सम्बन्ध—अब पूर्वपक्षीकी दूसरी शङ्काका उल्लेख करते हैं—

न च कर्तुः करणम् ॥ २ । २ । ४३ ॥

च=तथा; **कर्तुः**=कर्ता (जीवात्मा) से; **करणम्**=करण (मन और मनसे अहङ्कार) की उत्पत्ति भी; **न**=सम्भव नहीं है ।

व्याख्या--जिस प्रकार परब्रह्म भगवान् वासुदेवसे जीवकी उत्पत्ति असम्भव है, उसी प्रकार सङ्कर्षण नामसे कहे जानेवाले चेतन जीवात्मासे 'प्रद्युम्न' नामक मनस्तत्त्वकी और उससे 'अनिरुद्ध' नामक अहङ्कारतत्त्वकी उत्पत्ति भी सम्भव नहीं है; क्योंकि जीवात्मा कर्ता और चेतन है, मन करण है । अतः कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती ।

सम्बन्ध—इस प्रकार पाञ्चरात्रनामक भक्तिशास्त्रमें अन्य सब मान्यता वेदानुकूल होनेपर भी उपर्युक्त स्थलोंमें श्रुतिसे कुछ विरोध-सा प्रतीत होता है; उसे पूर्वपक्षके रूपमें उठाकर सूत्रकार अगले दो सूत्रोंद्वारा उस विरोधका परिहार करते हुए कहते हैं—

विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः ॥ २ । २ । ४४ ॥

वा=निःसन्देह; **विज्ञानादिभावे**=(पाञ्चरात्र शास्त्रद्वारा) भगवान्के विज्ञानादि षड्विध गुणोंका सङ्कर्षण आदिमें भाव (होना) सूचित किया गया है इस मान्यताके अनुसार उनका भगवत्स्वरूप होना सिद्ध होता है, इसलिये; **तदप्रतिषेधः**=उनकी उत्पत्तिका वेदमें निषेध नहीं है ।

व्याख्या—पूर्वपक्षीने जो यह कहा कि 'श्रुतिमें जीवात्माकी उत्पत्तिका विरोध है तथा कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं हो सकती' इसके उत्तरमें सिद्धान्तपक्षका कहना है कि उक्त पाञ्चरात्रशास्त्रमें जीवकी उत्पत्ति या कर्तासे करणकी उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है, अपि तु सङ्कर्षण जीव-तत्त्वके, प्रद्युम्न मनस्तत्त्वके और अनिरुद्ध अहङ्कारतत्त्वके अधिष्ठाता बताये गये हैं, जो भगवान् वासुदेवके ही

अङ्गभूत हैं; क्योंकि वहाँ सङ्कर्षणको भगवान्‌का प्राण, प्रद्युम्नको मन और अनिरुद्धको अहङ्कार माना गया है। अतः वहाँ जो इनकी उत्पत्तिका वर्णन है, वह भगवान्‌के ही अंशोंका उन-उन रूपोंमें प्राकट्य बतानेवाला है। श्रुतिमें भी भगवान्‌के अजन्मा होते हुए भी विविध रूपोंमें प्रकट होनेका वर्णन इस प्रकार मिलता है—'अजायमानो बहुधा विजायते।' (यजु० ३१। १९) इसलिये भगवान् वासुदेवका सङ्कर्षण आदि व्यूहोंके रूपमें प्रकट होना वेद-विरुद्ध नहीं है। जिस प्रकार भगवान् अपने भक्तोंपर दया करके श्रीराम आदिके रूपमें प्रकट होते हैं, उसी प्रकार साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर भगवान् वासुदेव अपने भक्तजनोंपर कृपा करके स्वेच्छासे ही चतुर्व्यूहके रूपमें प्रकट होते हैं। भागवत-शास्त्रमें इन चारोंकी उपासना भगवान् वासुदेवकी ही उपासना मानी गयी है। भगवान् वासुदेव विभिन्न अधिकारियोंके लिये विभिन्न रूपोंमें उपास्य होते हैं, इसलिये उनके चार व्यूह माने गये हैं। इन व्यूहोंकी पूजा-उपासनासे परब्रह्म परमात्माकी ही प्राप्ति मानी गयी है। उन सङ्कर्षण आदिका जन्म साधारण जीवोंकी भाँति नहीं है; क्योंकि वे चारों ही चेतन तथा ज्ञान, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेज आदि समस्त भगवद्भावोंसे सम्पन्न माने गये हैं। अतः सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध—ये तीनों उन परब्रह्म परमेश्वर भगवान् वासुदेवसे भिन्न तत्त्व नहीं हैं। अतः इनकी उत्पत्तिका वर्णन वेद-विरुद्ध नहीं है।

सम्बन्ध—यह पाञ्चरात्र-आगम वेदानुकूल है, किसी अंशमें भी इसका वेदसे विरोध नहीं है; इस बातको पुनः दृढ़ करते हैं—

विप्रतिषेधाच्च ॥ २ । २ । ४५ ॥

विप्रतिषेधात्=इस शास्त्रमें विशेषरूपसे जीवकी उत्पत्तिका निषेध किया गया है, इसलिये; **च**=भी (यह वेदके प्रतिकूल नहीं है)।

व्याख्या—उक्त शास्त्रमें जीवको अनादि, नित्य, चेतन और अविनाशी माना गया है तथा उसके जन्म-मरणका निषेध किया गया है, इसलिये भी यह सिद्ध होता है कि इसका वैदिक-प्रक्रियासे कोई विरोध नहीं है। इसमें जो यह कहा गया है कि 'शाण्डिल्य मुनिने अङ्गोंसहित चारों वेदोंमें निष्ठा (निश्चल स्थिति)को न पाकर इस भक्तिशास्त्रका अध्ययन किया।' यह वेदोंकी निन्दा या प्रतिषेध

नहीं है, जिससे कि इसे वेदविरोधी शास्त्र कहा जा सके । इस प्रसङ्गद्वारा भक्ति-शास्त्रकी महिमाका ही प्रतिपादन किया गया है । छान्दोग्योपनिषद्में नारदजीके विषयमें भी ऐसा ही प्रसङ्ग आया है । नारदजीने सनत्कुमारजीसे कहा है, 'मैंने समस्त वेद, वेदाङ्ग, इतिहास, पुराण आदि पढ़ लिये तो भी मुझे आत्मतत्त्वका अनुभव नहीं हुआ ।' यह कथन वेदादि शास्त्रोंको तुच्छ बतानेके लिये नहीं, आत्मज्ञानकी महत्ता सूचित करनेके लिये है । उसी प्रकार पाञ्चरात्रमें शाण्डिल्य-का प्रसङ्ग भी वेदोंकी तुच्छता बतानेके लिये नहीं, अपितु भक्तिशास्त्रकी महिमा प्रकट करनेके लिये आया है; अतः वह शास्त्र सर्वथा निर्दोष एवं वेदानुकूल है ।

दूसरा पाद सम्पूर्ण ।



तीसरा पाद

सम्बन्ध—इस शास्त्रमें जो ब्रह्मके लक्षण बताये गये हैं, उनमें स्मृति और न्यायसे जो विरोध प्रतीत होता है, उसका निर्णयपूर्वक समाधान तो इस अध्यायके पहले पादमें किया गया, उसके बाद दूसरे पादमें अपने सिद्धान्तकी सिद्धिके लिये अनीश्वरवादी नास्तिकोंके सिद्धान्तका तथा ईश्वरको मानते हुए भी उसको उपादान कारण न माननेवालोंके सिद्धान्तका युक्तियोंद्वारा निराकरण किया गया। साथ ही भागवतमतमें जो इस ग्रन्थके सिद्धान्तसे विरोध प्रतीत होता था, उसका समाधान करके उस पादकी समाप्ति की गयी। अब पूर्व प्रतिज्ञानुसार परब्रह्मको समस्त प्रपञ्चका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण माननेमें जो श्रुतियोंके वाक्योंसे विरोध प्रतीत होता है, उसका समाधान करनेके लिये तथा जीवात्माके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये तीसरा पाद आरम्भ किया जाता है—

श्रुतियोंमें कहीं तो कहा है कि परमेश्वरने पहले-पहल तेजकी रचना की, उसके बाद तेजसे जल और जलसे अन्न—इस क्रमसे जगत्‌की रचना हुई। कहीं कहा है कि पहले-पहल आकाशकी रचना हुई, उससे वायु आदिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति हुई। इस प्रकारके विकल्पोंकी एकता करके समाधान करनेके लिये पूर्वपक्षकी उत्थापना करते हैं—

न वियदश्रुतेः ॥ २ । ३ । १ ॥

वियत्=आकाश; **न**=उत्पन्न नहीं होता; **अश्रुतेः**=क्योंकि (छान्दोग्योपनिषद्‌के सृष्टि-प्रकरणमें) उसकी उत्पत्ति नहीं सुनी गयी है।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्‌में जहाँ जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया है, वहाँ पहले-पहल तेजकी रचना बतायी गयी है।* फिर तेज, जल और अन्न—इन तीनोंके सम्मेलनसे जगत्‌की रचनाका वर्णन है (छा० उ० ६ । २ । १ से ६ । ३ । ४ तक), वहाँ आकाशकी उत्पत्तिका कोई प्रसङ्ग नहीं है तथा आकाशको विभु (व्यापक), माना गया है (गीता १३ । ३२) । इसलिये यह सिद्ध होता है कि आकाश नित्य है, वह उत्पन्न नहीं होता।

---

* 'तत्तेजोऽसृजत।' (छा० उ० ६ । २ । ३)

सम्बन्ध—इस शङ्काके उत्तरमें कहते हैं—

अस्ति तु ॥ २ । ३ । २ ॥

तु=किन्तु (दूसरी श्रुतिमें); **अस्ति**=आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन भी है।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्में 'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' इस प्रकार ब्रह्मके लक्षण बताकर फिर उसी ब्रह्मसे आकाशकी उत्पत्ति बतायी गयी है,* इसलिये यह कहना ठीक नहीं कि वेदमें आकाशकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं है।

सम्बन्ध—उक्त विषयको स्पष्ट करनेके लिये पुनः पूर्वपक्षको उठाया जाता है—

गौण्यसम्भवात् ॥ २ । ३ । ३ ॥

असम्भवात्=आकाशकी उत्पत्ति असम्भव होनेके कारण; **गौणी**=यह श्रुति गौणी है।

व्याख्या—अवयवरहित और विभु होनेके कारण आकाशका उत्पन्न होना नहीं बन सकता, अतः तैत्तिरीयोपनिषद्में जो आकाशकी उत्पत्ति बतायी है, उस कथनको गौण समझना चाहिये, वहाँ किसी दूसरे अभिप्रायसे आकाशकी उत्पत्ति कही गयी होगी।

सम्बन्ध—पूर्वपक्षकी ओरसे अपने पक्षको दृढ़ करनेके लिये दूसरा हेतु दिया जाता है—

शब्दाच्च ॥ २ । ३ । ४ ॥

शब्दात्=शब्दप्रमाणसे; **च**=भी (यह सिद्ध होता है कि आकाश उत्पन्न नहीं हो सकता)।

व्याख्या—बृहदारण्यकमें कहा है कि 'वायुश्चान्तरिक्षं चैतदमृतम्'—'वायु और अन्तरिक्ष—यह अमृत है' (बृह० उ० २ । ३ । ३), अतः जो अमृत हो, उसकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; तथा यह भी कहा है कि 'जिस प्रकार यह आकाश अनन्त है, उसी प्रकार आत्माको अनन्त समझना चाहिये।' 'आकाशशरीरं ब्रह्म' 'ब्रह्मका शरीर आकाश है' (तै० उ० १ । ६ । २) इन

---

* तस्माद् वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी। इत्यादि। (तै० उ० २ । १ । १)

श्रुति-वाक्योंसे आकाशकी अनन्तता सिद्ध होती है, इसलिये भी आकाशकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उक्त श्रुतिमें जिस प्रकार आकाशकी उत्पत्ति बतानेवाले वाक्य हैं, उसी प्रकार वायु, अग्नि आदिकी उत्पत्ति बतानेवाले शब्द भी हैं; फिर यह कैसे माना जा सकता है कि आकाशके लिये तो कहना गौण है और दूसरोंके लिये मुख्य है, इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे उत्तर दिया जाता है—

स्याच्चैकस्य ब्रह्मशब्दवत् ॥ २ । ३ । ५ ॥

च=तथा; **ब्रह्मशब्दवत्**=ब्रह्मशब्दकी भाँति; **एकस्य**=किसी एक शब्दका प्रयोग; **स्यात्**=गौण भी हो सकता है।

*व्याख्या—*दूसरी जगह एक ही प्रकरणमें पहले तो कहा है कि 'तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।'—'ब्रह्म विज्ञानमय तपसे वृद्धिको प्राप्त होता है, उससे अन्न उत्पन्न होता है।' (मु० उ० १ । १ । ८) उसके बाद कहा है कि—

य: सर्वज्ञ: सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तप:।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते॥
(मु० उ० १ । १ । ९)

अर्थात् 'जो सर्वज्ञ, सबको जाननेवाला है, जिसका ज्ञानमय तप है, उससे यह ब्रह्म और नाम, रूप एवं अन्न उत्पन्न होता है।' इस प्रकरणमें जैसे पहले ब्रह्म शब्द मुख्य अर्थमें प्रयुक्त हुआ है और पीछे उसी ब्रह्म शब्दका गौण अर्थमें प्रयोग किया गया है, उसी प्रकार श्रुतिमें किसी एक शब्द (आकाश आदि) का गौण अर्थमें प्रयोग भी हो सकता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वपक्षकी उत्थापना करके अब दो सूत्रोंद्वारा उसका समाधान करते हैं—

प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्य: ॥ २ । ३ । ६ ॥

अव्यतिरेकात्=ब्रह्मके कार्यसे आकाशको अलग न माननेसे ही; **प्रतिज्ञाऽहानि:**=एकके ज्ञानसे सबके ज्ञानसम्बन्धी प्रतिज्ञाकी रक्षा हो सकती है; **शब्देभ्य:**=श्रुतिके शब्दोंसे यही सिद्ध होता है।

*व्याख्या—*उपनिषदोंमें जो एकको जाननेसे सबका ज्ञान हो जानेकी प्रतिज्ञा की गयी है और उस प्रसङ्गमें जो कारण-कार्यके उदाहरण दिये गये हैं,

(छा० उ० ६ । १ । १ से ६ तक) उन सबकी विरोधरहित सिद्धि आकाशको ब्रह्मके कार्यसे अलग न माननेपर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं; क्योंकि वहाँ मिट्टी और सुवर्ण आदिका दृष्टान्त देकर उनके किसी एक कार्यके ज्ञानसे कारणके ज्ञानद्वारा सबका ज्ञान होना बताया है। अतः यदि आकाशको ब्रह्मका कार्य न मानकर ब्रह्मसे अलग मानेंगे तो कारणरूप ब्रह्मको जान लेनेपर भी आकाश जाना हुआ नहीं होगा; इससे प्रतिज्ञाकी हानि होगी। इतना ही नहीं, 'यह सब ब्रह्म ही है' (मु० उ० २ । २ । ११) 'यह सब इस ब्रह्मका स्वरूप है' (छा० उ० ६ । ८ । ७) 'यह सब निःसन्देह ब्रह्म ही है; क्योंकि उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय उसीमें होते हैं' (छा० उ० ३ । १४ । १) इत्यादि श्रुतिवाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि आकाश उस ब्रह्मका ही कार्य है।

यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् ॥ २ । ३ । ७ ॥

तु=तथा; **लोकवत्**=साधारण लौकिक व्यवहारकी भाँति; **यावद्विकारम्**=विकारमात्र सब कुछ; **विभागः**=ब्रह्मका ही विभाग (कार्य) है।

व्याख्या—जिस प्रकार लोकमें यह बात देखी जाती है कि कोई पुरुष देवदत्तके पुत्रोंका परिचय देते समय कहता है—'ये सब-के-सब देवदत्तके पुत्र हैं।' फिर वह उनमेंसे किसी एक या दोका ही नाम लेकर यदि कहे कि 'इनकी उत्पत्ति देवदत्तसे हुई है' तो भी उन सबकी उत्पत्ति देवदत्तसे ही मानी जायगी, उसी प्रकार जब समस्त विकारात्मक जगत्को उस ब्रह्मका कार्य बता दिया गया, तब आकाश उससे अलग कैसे रह सकता है। अतः तेज आदिकी सृष्टि बताते समय यदि आकाशका नाम छूट गया तो भी यही सिद्ध होता है कि आकाश भी अन्य तत्त्वोंकी भाँति ब्रह्मका कार्य है और वह उससे उत्पन्न होता है। वायु और आकाशको अमृत कहनेका तात्पर्य देवताओंकी भाँति उन्हें अन्यकी अपेक्षा चिरस्थायी बतानामात्र है।

सम्बन्ध—इस प्रकार आकाशका उत्पन्न होना सिद्ध करके उसीके उदाहरणसे यह निश्चय किया जाता है कि वायु भी उत्पन्न होता है—

एतेन मातरिश्वा व्याख्यातः ॥ २ । ३ । ८ ॥

एतेन=इससे अर्थात् आकाशकी उत्पत्ति सिद्ध करनेवाले कथनसे ही; **मातरिश्वा**=वायुका उत्पन्न होना; **व्याख्यातः**=बता दिया गया ।

व्याख्या—जिन युक्तियों और श्रुतिप्रमाणोंद्वारा पूर्वसूत्रोंमें ब्रह्मसे आकाशका उत्पन्न होना निश्चित किया गया, उन्हींसे यह कहना भी हो गया कि वायु भी उत्पन्न होता है । अतः उसके विषयमें अलग कहना आवश्यक नहीं समझा गया ।

सम्बन्ध—इस प्रकार आकाश और वायुको उत्पत्तिशील बतलाकर अब इस दृश्य-जगत्में जिन तत्त्वोंको दूसरे मतवाले नित्य मानते हैं तथा जिनकी उत्पत्तिका स्पष्ट वर्णन वेदमें नहीं आया है, उन सबको भी उत्पत्तिशील बतानेके लिये अगला सूत्र कहते हैं—

असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः ॥ २ । ३ । ९ ॥

सतः=‘सत्’ शब्दवाच्य ब्रह्मके सिवा (अन्य किसीका उत्पन्न न होना); **तु**=तो; **असम्भवः**=असम्भव है; **अनुपपत्तेः**=क्योंकि अन्य किसीका उत्पन्न न होना युक्ति और प्रमाणद्वारा सिद्ध नहीं हो सकता ।

व्याख्या—जिस पूर्णब्रह्म परमात्माका श्रुतिमें जगह-जगह सत् नामसे वर्णन आया है तथा जो इस जड-चेतनात्मक जगत्का परम कारण माना गया है, उसे छोड़कर इस जगत्में कोई भी तत्त्व ऐसा नहीं है, जो उत्पत्तिशील न हो । बुद्धि, अहङ्कार, काल तथा गुण और परमाणु आदि सभी उत्पत्तिशील हैं; क्योंकि वेदमें प्रलयके समय एकमात्र परब्रह्म परमेश्वरसे भिन्न किसीका अस्तित्व स्वीकार नहीं किया गया है । इसलिये युक्ति या प्रमाणद्वारा कोई भी पदार्थ उत्पन्न न होनेवाला सिद्ध नहीं हो सकता । अतः ब्रह्मके सिवा सब कुछ उत्पत्तिशील है ।

सम्बन्ध—छान्दोग्योपनिषद्में यह कहा है कि ‘उस ब्रह्मने तेजको रचा’ और तैत्तिरीयोपनिषद्में बताया गया है कि ‘सर्वात्मा परमेश्वरसे आकाश उत्पन्न हुआ, आकाशसे वायु और वायुसे तेज ।’ अतः यहाँ तेजको किससे उत्पन्न हुआ माना जाय ? ब्रह्मसे या वायुसे ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तेजोऽतस्तथा ह्याह ॥ २ । ३ । १० ॥

तेजः=तेज; **अतः**=इस (वायु) से (उत्पन्न हुआ); **तथा हि**=ऐसा ही; **आह**=अन्यत्र कहा है ।

व्याख्या—तेज-तत्त्व वायुसे उत्पन्न हुआ, यही मानना चाहिये; क्योंकि यही बात श्रुतिमें दूसरी जगह कही गयी है। भाव यह है कि उस ब्रह्मने वायुसे तेज-की रचना की अर्थात् आकाश और वायुको पहले उत्पन्न करके उसके बाद वायुसे तेजकी उत्पत्ति की; ऐसा माननेपर दोनों श्रुतियोंकी एकवाक्यता हो जायगी।

सम्बन्ध—इसी प्रकार—

आपः ॥ २ । ३ । ११ ॥

आपः=जल (तेजसे उत्पन्न हुआ)।

व्याख्या—उपर्युक्त प्रकारसे दोनों श्रुतियोंके कथनकी एकता होनेसे उक्त तेजसे जल उत्पन्न हुआ, यह समझना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकरणमें यह कहा गया है कि उस जलने अन्नको रचा, अतः यहाँ गेहूँ, जौ आदि अन्नकी उत्पत्ति जलसे हुई या पृथिवीसे ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

पृथिव्यधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः ॥ २ । ३ । १२ ॥

पृथिवी=(इस प्रकरणमें अन्नके नामसे) पृथिवी ही कही गयी है; **अधिकाररूपशब्दान्तरेभ्यः**=क्योंकि पाँचों तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है, उसमें बताया हुआ काला रूप भी पृथिवीका ही माना गया है तथा दूसरी श्रुतिमें भी जलसे पृथिवीकी ही उत्पत्ति बतायी गयी है।

व्याख्या—इस प्रकरणमें अन्न शब्द पृथिवीका ही बोधक है, ऐसा समझना ठीक है; क्योंकि यह तत्त्वोंकी उत्पत्तिका प्रकरण है तथा जो अन्नका रूप काला बताया गया है, वह भी अन्नका रूप नहीं है, पृथिवीका ही रूप काला माना गया है। इसके सिवा, तैत्तिरीयोपनिषद्‌में जहाँ इस क्रमका वर्णन है, वहाँ भी जलसे पृथिवीका उत्पन्न होना बताया गया है, उसके बाद पृथिवीसे ओषधि और ओषधिसे अन्नकी उत्पत्तिका वर्णन है*। इसलिये यहाँ सीधे जलसे ही अन्नकी उत्पत्ति मानना ठीक नहीं है। छान्दोग्यके उक्त प्रकरणमें जो यह बात कही गयी है कि 'यत्र क्व च वर्षति तदेव भूयिष्ठमन्नं भवति।' (६ । २ । ४) अर्थात् 'जहाँ-कहीं जल अधिक बरसता है, वहीं अन्नकी उत्पत्ति अधिक होती है।' इसका भी यही भाव है कि जलके सम्बन्धसे पृथिवीमें पहले ओषधि अर्थात्

* देखिये पृष्ठ १६२ की टिप्पणी।

अन्नका पौधा उत्पन्न होता है और उससे अन्न उत्पन्न होता है; ऐसा माननेपर पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं रहेगा।

सम्बन्ध—इस प्रकरणमें आकाशकी उत्पत्ति साक्षात् ब्रह्मसे बतायी गयी है और अन्य चार तत्त्वोंमें एकसे दूसरेकी क्रमशः उत्पत्ति बतायी है। अतः यह जिज्ञासा होती है कि एक तत्त्वके बाद दूसरे तत्त्वकी रचना साक्षात् परमेश्वर करता है या एक तत्त्व दूसरे तत्त्वको स्वयं उत्पन्न करता है? इसपर कहते हैं—

तदभिध्यानादेव तु तल्लिङ्गात्सः ॥ २ । ३ । १३ ॥

तदभिध्यानात्=उन तत्त्वोंके भलीभाँति चिन्तन करनेका कथन होनेसे; **एव**=ही; **तु**=तो (यह सिद्ध होता है कि); **सः**=वह परमात्मा ही उन सबकी रचना करता है; **तल्लिङ्गात्**=क्योंकि उक्त लक्षण उसीके अनुरूप है।

व्याख्या—इस प्रकरणमें बार-बार कार्यके चिन्तनकी बात कही गयी है, यह चिन्तनरूप कर्म जडमें सम्भव नहीं है, चेतन परमात्मामें ही सङ्गत हो सकता है, इसलिये यही सिद्ध होता है कि वह परमात्मा स्वयं ही उत्पन्न किये हुए पहले तत्त्वसे दूसरे तत्त्वको उत्पन्न करता है। इसी उद्देश्यसे एक तत्त्वसे दूसरे तत्त्वकी उत्पत्तिका कथन है। उन तत्त्वोंको स्वतन्त्ररूपसे एक-दूसरेके कार्य-कारण बतानेके उद्देश्यसे नहीं। इसलिये यही समझना चाहिये कि मुख्यरूपसे सबकी रचना करनेवाला वह पूर्ण ब्रह्म परमेश्वर ही है, अन्य कोई नहीं।

सम्बन्ध—इस प्रकार जगत्‌की उत्पत्तिके वर्णनद्वारा ब्रह्मको जगत्‌का कारण बताकर अब प्रलयके वर्णनसे भी इसी बातकी पुष्टि करते हैं—

विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते च ॥ २ । ३ । १४ ॥

तु=किन्तु; **अतः**=इस उत्पत्ति-क्रमसे; **क्रमः**=प्रलयका क्रम; **विपर्ययेण**=विपरीत होता है; **उपपद्यते**=ऐसा ही होना युक्तिसङ्गत है; **च**=तथा (स्मृतिमें भी ऐसा ही वर्णन है)।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जगत्‌की उत्पत्तिका जो क्रम बताया गया है, इससे विपरीत क्रम प्रलयकालमें होता है। प्रारम्भिक सृष्टिके समय ब्रह्मसे आकाश, वायु,

तेज, जल और पृथिवी आदिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति होती है। फिर जब प्रलय-काल आता है, तब ठीक उसके विपरीत क्रमसे पृथिवी आदि तत्त्वों-का अपने कारणोंमें लय होता है। जैसे पृथिवी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायु-में, वायु आकाशमें और आकाश परमात्मामें विलीन हो जाता है। युक्तिसे भी यही क्रम ठीक जान पड़ता है। प्रत्येक कार्य अपने उपादान कारणमें ही लीन होता है। जैसे जलसे बर्फ बनता है और जलमें ही उसका लय होता है। स्मृतियोंमें भी ऐसा ही वर्णन आता है। (देखिये विष्णुपुराण अंश ६, अध्याय ४, श्लोक १४ से ३८ तक)।

सम्बन्ध—यहाँ भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलयका क्रम तो बताया गया, परन्तु मन, बुद्धि और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके विषयमें कोई निर्णय नहीं हुआ; अतः यह जिज्ञासा होती है कि इन सबकी उत्पत्ति भूतोंसे होती है या परमेश्वरसे? यदि परमेश्वरसे होती है तो भूतोंके पहले होती है या पीछे? अतः इसका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—

अन्तरा विज्ञानमनसी क्रमेण तल्लिङ्गादिति चेन्नाविशेषात्॥ २। ३। १५॥

चेत्=यदि कहो; **विज्ञानमनसी**=इन्द्रियाँ और मन; **क्रमेण**=उत्पत्ति-क्रम-की दृष्टिसे; **अन्तरा (स्याताम्)**=परमात्मा और आकाश आदि भूतोंके बीचमें होने चाहिये; **तल्लिङ्गात्**=क्योंकि (श्रुतिमें) यही निश्चय करानेवाला लिङ्ग (प्रमाण) प्राप्त होता है; **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **अवि-शेषात्**=क्योंकि श्रुतिमें किसी क्रम-विशेषका वर्णन नहीं है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्‌में पहले यह वर्णन आया है कि 'जैसे प्रज्वलित अग्निसे चिनगारियोंकी उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ये नाना नाम-रूपोंसे संयुक्त पदार्थ उस परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें विलीन हो जाते हैं।'* (मु० २। १। १) फिर जगत्‌के कारणरूप उस परमेश्वरके परात्पर स्वरूप-

---

* यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः
सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद् विविधाः सोम्य भावाः
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यन्ति ॥ (मु० उ० २। १। १)

का वर्णन करते हुए उसे अजन्मा, अविनाशी, दिव्य, निराकार, सब प्रकारसे परम शुद्ध और समस्त जगत्के बाहर-भीतर व्याप्त बताया गया है ।* तदनन्तर यह कहा गया है कि 'इसी परब्रह्म पुरुषोत्तमसे यह प्राण, मन, सब इन्द्रियाँ तथा आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है ।'† इस वर्णनमें परमात्मासे पहले प्राण, मन और इन्द्रियोंके उत्पन्न होनेकी बात बताकर आकाश आदि भूतोंकी क्रमशः उत्पत्ति बतायी गयी है; अतः परमात्मा और आकाशके बीचमें मन इन्द्रियोंका स्थान निश्चित होता है । तात्पर्य यह कि प्राण और इन्द्रियोंसहित मनकी उत्पत्ति-के बाद ही आकाश आदि भूतोंकी सृष्टि माननी चाहिये; क्योंकि उपर्युक्त श्रुतिमें जैसा क्रम दिया गया है, वह इसी निश्चयपर पहुँचानेवाला है; ऐसा यदि कोई कहे तो उसका यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि इस वर्णनमें विशेषरूपसे कोई क्रम नहीं बताया गया है । इससे तो केवल यही बात सिद्ध होती है कि बुद्धि, मन और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भी परमेश्वरसे ही होती है; इतना ही क्यों, उक्त श्रुतिके पूरे प्रकरणको देखनेसे यह स्पष्ट हो जाता है कि श्रुतिका उद्देश्य किसी प्रकारके क्रमका प्रतिपादन करना नहीं है, उसे केवल यही बताना अभीष्ट है कि जगत्का उपादान और निमित्त कारण एकमात्र ब्रह्म है; क्योंकि भिन्न-भिन्न कल्पोंमें भिन्न-भिन्न क्रमसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन श्रुतियों और स्मृतियोंमें पाया जाता है । अतः किसी एक ही क्रमको निश्चित कर देना नहीं बन सकता (देखिये मु० उ० २ । १ । ५ से ९ तक) ।

सम्बन्ध—इस ग्रन्थमें अबतकके विवेचनसे परब्रह्म परमेश्वरको जड-चेतनात्मक सम्पूर्ण जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध किया गया । इससे यह प्रतीत होता है कि उस परब्रह्मसे अन्य तत्त्वोंकी भाँति जीवोंकी भी उत्पत्ति होती है । यदि यही बात है तो फिर यह प्रश्न उठता है कि परमात्माका ही अंश होनेसे जीवात्मा तो अविनाशी, नित्य तथा जन्म-मरणसे रहित माना गया है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है ? इसपर कहते हैं—

---

* दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥
(मु० उ० २ । १ । २)

† एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥
(मु० उ० २ । १ । ३)

चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात्तद्व्यपदेशो भाक्तस्त-द्भावभावित्वात् ॥ २ । ३ । १६ ॥

तु=किन्तु; **चराचरव्यपाश्रयः**=चराचर शरीरोंको लेकर कहा हुआ; **तद्व्यपदेशः**=वह जन्म-मरण आदिका कथन; **भाक्तः स्यात्**=जीवात्माके लिये गौणरूपसे हो सकता है; **तद्भावभावित्वात्**=क्योंकि वह उन-उन शरीरोंके भावसे भावित रहता है ।

व्याख्या—यह जीवात्मा वास्तवमें सर्वथा शुद्ध परमेश्वरका अंश, जन्म-मरणसे रहित विज्ञानस्वरूप नित्य अविनाशी है; इसमें कोई शङ्का नहीं है । तो भी यह अनादि परम्परागत अपने कर्मोंके अनुसार मिले हुए स्थावर (वृक्ष-पहाड़ आदि), जङ्गम (देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि) शरीरोंके आश्रित है, उन-उनके साथ तद्रूप हो रहा है, 'मैं शरीरसे सर्वथा भिन्न हूँ, इससे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है,' इस वास्तविक तत्त्वको नहीं जानता, इस कारण उन-उन शरीरोंके जन्म-मरण आदिको लेकर गौणरूपसे जीवात्माका उत्पन्न होना श्रुतिमें कहा गया है, इसलिये कोई विरोध नहीं है । कल्पके आदिमें इस जड-चेतनात्मक अनादिसिद्ध जगत्का प्रकट हो जाना ही उस परमात्मामें इसका उत्पन्न होना है और कल्पके अन्तमें उस परमेश्वरमें विलीन हो जाना ही उसका लय है (गीता ९ । ७–१०) । इसके सिवा, परब्रह्म परमात्मा किन्हीं नये जीवोंको उत्पन्न करते हों, ऐसी बात नहीं है । इस प्रकार स्थूल, सूक्ष्म और कारण—इन तीन प्रकारके शरीरोंके आश्रित जीवात्माका परमात्मासे उत्पन्न होना और उसमें विलीन होना श्रुति-स्मृतियोंमें जगह-जगह कहा गया है । जीवोंको भगवान् उनके परम्परागत संचित कर्मोंके अनुसार ही अच्छी-बुरी योनियोंमें उत्पन्न करते हैं, यह पहले सिद्ध कर दिया गया है (देखिये ब्र० सू० २ । १ । ३४) ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीवोंकी उत्पत्ति गौण न मानकर मुख्य मान ली जाय तो क्या आपत्ति है, इसपर कहते हैं—

नात्माऽश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः ॥ २ । ३ । १७ ॥

आत्मा=जीवात्मा; **न**=वास्तवमें उत्पन्न नहीं होता; **अश्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें कहीं भी जीवात्माकी उत्पत्ति नहीं बतायी गयी है; **च**=इसके सिवा; **ताभ्यः**=उन

श्रुतियोंसे ही; **नित्यत्वात्**=इसकी नित्यता सिद्ध की गयी है, इसलिये भी (जीवात्माकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहीं भी जीवात्माका वास्तवमें उत्पन्न होना नहीं कहा गया है। मुण्डकोपनिषद्में जो अग्निके दृष्टान्तसे नाना भावोंकी उत्पत्तिका वर्णन है,* (मु० उ० २ । १ । १) वह पूर्वसूत्रमें कहे अनुसार शरीरोंकी उत्पत्तिको लेकर ही है। इसी प्रकार दूसरी श्रुतियोंके कथनका उद्देश्य भी समझ लेना चाहिये। अतः श्रुतिका यही निश्चित सिद्धान्त है कि जीवात्माकी स्वरूपसे उत्पत्ति नहीं होती। इतना ही नहीं, श्रुतियोंद्वारा उसकी नित्यताका भी प्रतिपादन किया गया है। छान्दोग्योपनिषद्में सजीव वृक्षके दृष्टान्तसे श्वेतकेतुको समझाते हुए उसके पिताने कहा है कि 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियते।' अर्थात् 'जीवसे रहित हुआ यह शरीर ही मरता है, जीवात्मा नहीं मरता' (छाँ० उ० ६ । ११ । ३), कठोपनिषद्में कहा है कि 'यह विज्ञानस्वरूप जीवात्मा न तो जन्मता है और न मरता ही है। यह अजन्मा, नित्य, सदा रहनेवाला और पुराण है, शरीरका नाश होनेपर इसका नाश नहीं होता'† (क० उ० १ । २ । १८) इत्यादि। इसलिये यह सर्वथा निर्विवाद है कि जीवात्मा स्वरूपसे उत्पन्न नहीं होता।

सम्बन्ध—जीवकी नित्यताको दृढ़ करनेके लिये पुनः कहते हैं—

ज्ञोऽत एव ॥ २ । ३ । १८ ॥

अतः=(वह नित्यचैतन्यस्वरूप है) इसलिये; **एव**=ही; **ज्ञः**=ज्ञाता है।

व्याख्या—वह जीवात्मा स्वरूपसे जन्मने-मरनेवाला नहीं है; नित्य चेतन है, इसीलिये वह ज्ञाता है। भाव यह कि वह जन्मने-मरनेवाला या घटने-बढ़नेवाला और अनित्य होता तो ज्ञाता नहीं हो सकता। किन्तु सिद्ध योगी अपने जन्म-जन्मान्तरोंकी बात जान लेता है तथा प्रत्येक जीवात्मा पहले शरीरसे सम्बन्ध छोड़कर जब दूसरे नवीन शरीरको धारण करता है, तब पूर्वस्मृतिके अनुसार स्तन-पानादिमें प्रवृत्त हो जाता है। इसी प्रकार पशु-पक्षी आदिका भी प्रजोत्पादनका ज्ञान पहलेके अनुभवकी स्मृतिसे हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि जीव नित्य है और ज्ञानस्वरूप है, शरीरोंके बदलनेसे जीवात्मा नहीं बदलता।

सम्बन्ध—जीवात्मा नित्य है, शरीरके बदलनेसे वह नहीं बदलता, इस बातको प्रकारान्तरसे पुनः सिद्ध करते हैं—

---

* यह मन्त्र पृष्ठ १६८ की टिप्पणीमें आ गया है।

† न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम् ॥ २ । ३ । १९ ॥

उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्=(एक ही जीवात्माके) शरीरसे उत्क्रमण करने, परलोकमें जाने और पुनः लौटकर आनेका श्रुतिमें वर्णन है (इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा नित्य है)।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२ । २ । ७) में कहा है कि—

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥

'मरनेके बाद इन जीवात्माओंमेंसे अपने-अपने कर्मोंके अनुसार कोई तो वृक्षादि अचल शरीरको धारण कर लेते हैं और कोई देव, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि जङ्गम शरीरोंको धारण कर लेते हैं ।'

प्रश्नोपनिषद्में कहा है—'अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते स सोमलोकं स सोमलोके विभूतिमनुभूय पुनरावर्तते ।' (प्र० उ० ५ । ४) । अर्थात् 'जो इस ॐकारकी दो मात्राओंका ध्यान करता है, वह मनोमय चन्द्रलोकको प्राप्त होता है। यजुर्वेदकी श्रुतियाँ उसे अन्तरिक्षवर्ती चन्द्रलोकमें ऊपरकी ओर ले जाती हैं; वहाँ स्वर्गलोकमें नाना प्रकारके ऐश्वर्योंका भोग करके वह पुनः मृत्युलोकमें लौट आता है ।' इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतियोंमें जीवात्माके वर्तमान शरीरको छोड़ने, परलोकमें जाने तथा वहाँसे पुनः लौटकर आनेका वर्णन है; इससे भी यही सिद्ध होता है कि शरीरके नाशसे जीवात्माका नाश नहीं होता, वह नित्य और अपरिवर्तनशील है ।

सम्बन्ध—कही हुई बातसे ही पुनः आत्माका नित्यत्व सिद्ध करते हैं—

स्वात्मना चोत्तरयोः ॥ २ । ३ । २० ॥

उत्तरयोः=परलोकमें जाना और पुनः वहाँसे लौट आना—इन पीछे कही हुई दोनों क्रियाओंकी सिद्धि; **स्वात्मना**=स्वस्वरूपसे; **च**=ही होती है (इसलिये भी आत्मा नित्य है)।

व्याख्या—उत्क्रान्तिका अर्थ है शरीरका वियोग । यह तो आत्माको नित्य न माननेपर भी होगा ही; किन्तु बादमें बतायी हुई गति और आगति अर्थात् परलोकमें जाना और वहाँसे लौटकर आना—इन दो क्रियाओंकी सिद्धि अपने

स्वरूपसे ही हो सकती है। जो परलोकमें जाता है, वही स्वयं लौटकर आता है, दूसरा नहीं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता और वह सदा ही रहता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार श्रुतिप्रमाणसे जो आत्माका नित्यत्व सिद्ध किया गया, इसमें जीवात्माको गमनागमनशील—एक देशसे दूसरे देशमें जाने-आनेवाला कहा गया। यदि यही ठीक है तब तो आत्मा विभु नहीं माना जा सकता, उसको एकदेशी मानना पड़ेगा; अतः उसका नित्यत्व भी गौण ही होगा। इस शङ्काका निराकरण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। इसमें पूर्वपक्षकी ओरसे आत्माके अणुत्वकी स्थापना करके अन्तमें उसको विभु (व्यापक) सिद्ध किया गया है—

नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात् ॥ २ । ३ । २१ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **अणुः**=जीवात्मा अणु; **न**=नहीं है; **अतच्छ्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें उसको अणु न कहकर महान् और व्यापक बताया गया है; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं; **इतराधिकारात्**=क्योंकि (जहाँ श्रुतियोंमें आत्माको महान् और विभु बताया है) वहाँ इतर अर्थात् परमात्माका प्रकरण है।

व्याख्या—'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु।' (बृह० उ० ४। ४। २२) अर्थात् 'जो यह विज्ञानमय आत्मा प्राणोंमें है, वही यह महान् अजन्मा आत्मा है।' इत्यादि श्रुतियोंके वर्णनको लेकर यदि यह कहा जाय कि श्रुतिमें उसको अणु नहीं कहा गया है, महान् कहा गया है, इसलिये जीवात्मा अणु नहीं है, व्यापक है तो यह सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि यह श्रुति परमात्माके प्रकरणकी है; अतः वहाँ आया हुआ 'आत्मा' शब्द जीवात्माका वाचक नहीं है।

सम्बन्ध—केवल इतनी ही बात नहीं है, अपि तु—

स्वशब्दानुमानाभ्यां च ॥ २ । ३ । २२ ॥

स्वशब्दानुमानाभ्याम्=श्रुतिमें अणुवाचक शब्द है, उससे और अनुमान (उपमा) वाचक दूसरे शब्दोंसे; **च**=भी (जीवात्माका अणुत्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्में कहा है कि 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः।'

(३ । १ । ९) अर्थात् 'यह अणु परिमाणवाला आत्मा चित्तसे जाननेके योग्य है ।' तथा श्वेताश्वतरमें कहा है कि 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवः स विज्ञेयः ।' (५ । ९) अर्थात् 'बालके अग्रभागके सौ टुकड़े किये जायँ और उनमेंसे एक टुकड़ेके पुनः एक सौ टुकड़े किये जायँ, तो उतना ही माप जीवात्माका समझना चाहिये ।' इस प्रकार श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें जीवको 'अणु' कहा गया है तथा उपमासे भी उसका अणुके तुल्य माप बताया गया है एवं युक्तिसे भी यही समझमें आता है कि जीवात्मा अणु है; अन्यथा वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म शरीरमें प्रविष्ट कैसे हो सकता ? अतः यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा अणु है ।

सम्बन्ध—जीवात्माको शरीरके एक देशमें स्थित मान लेनेसे उसको समस्त शरीरमें होनेवाले सुख-दुःखादिका अनुभव कैसे होगा ? इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे कहा जाता है——

अविरोधश्चन्दनवत् ॥ २ । ३ । २३ ॥

चन्दनवत्=जिस प्रकार एक देशमें लगाया हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुणसे सब जगह फैल जाता है, वैसे ही एक देशमें स्थित आत्मा विज्ञानरूप गुण-द्वारा समस्त शरीरको व्याप्त करके सुख-दुःखादिका ज्ञाता हो जाता है, अतः; **अविरोधः**=कोई विरोध नहीं है ।

व्याख्या—जीवको अणु मान लेनेपर उसको शरीरके प्रत्येक देशमें होनेवाली पीड़ाका ज्ञान होना युक्तिविरुद्ध प्रतीत होता है, ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जिस प्रकार किसी एक देशमें लगाया हुआ या मकानमें किसी एक जगह रक्खा हुआ चन्दन अपने गन्धरूप गुणसे सब जगह फैल जाता है, वैसे ही शरीरके भीतर एक जगह हृदयमें स्थित हुआ जीवात्मा अपने विज्ञानरूप गुणके द्वारा समस्त शरीरमें फैल जाता है और सभी अङ्गोंमें होनेवाले सुख-दुःखोंको जान सकता है ।

सम्बन्ध—शरीरके एक देशमें आत्माकी स्थिति है——यह सिद्ध करनेके लिये पूर्वपक्षी कहता है——

अवस्थितिवैशेष्यादिति चेन्नाध्युपगमाद्धृदि हि ॥ २ । ३ । २४ ॥

चेत्=यदि कहो; **अवस्थितिवैशेष्यात्**=चन्दन और आत्माकी स्थितिमें भेद है, इसलिये (चन्दनका दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है); **इति न**=तो यह बात नहीं है; **हि**=क्योंकि; **हृदि**=हृदय-देशमें; **अभ्युपगमात्**=उसकी स्थिति स्वीकार की गयी है ।

व्याख्या—यदि कहो कि चन्दनकी स्थिति तो एक देशमें प्रत्यक्ष है; किन्तु उसके समान आत्माकी स्थिति शरीरके एक देशमें प्रत्यक्ष नहीं है, इसलिये यह दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है । तो यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि श्रुतिने आत्माको हृदयमें स्थित बताकर उसकी एक देशमें स्थिति स्पष्ट स्वीकार की है । जैसे 'हृद्येष आत्मा' 'यह आत्मा हृदयमें स्थित है ।' (प्र० उ० ३ । ६) तथा 'कतम आत्मेति योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः'—'आत्मा कौन है,' ऐसा पूछनेपर कहा है कि 'प्राणोंमें हृदयके अंदर जो यह विज्ञानमय ज्योतिःस्वरूप पुरुष है ।' (बृह० उ० ४ । ३ । ७) इत्यादि ।

सम्बन्ध—उसी बातको प्रकारान्तरसे कहते हैं—

गुणाद्वा लोकवत् ॥ २ । ३ । २५ ॥

वा=अथवा यह समझो कि अणुपरिमाणवाले जीवात्माका; **गुणात्**=चेतनतारूप गुणसे समस्त शरीरको चेतनायुक्त कर देना सम्भव है; **लोकवत्**=क्योंकि लोकमें ऐसा देखा जाता है ।

व्याख्या—अथवा जिस प्रकार लोकमें यह बात प्रत्यक्ष देखी जाती है कि घरके किसी एक देशमें रक्खा हुआ दीपक अपने प्रकाशरूप गुणसे समस्त घरको प्रकाशित कर देता है, वैसे ही शरीरके एक देशमें स्थित अणु मापवाला जीवात्मा अपने चेतनतारूप गुणके द्वारा समस्त शरीरको चेतनायुक्त कर देता है; अतः इसमें कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—गुण अपने गुणीसे अलग कैसे होता है ? इसपर कहते हैं—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥ २ । ३ । २६ ॥

गन्धवत्=गन्धकी भाँति; **व्यतिरेकः**=गुणका गुणीसे अलग होना बन सकता है (अतः कोई विरोध नहीं है) ।

व्याख्या—यहाँ यह शङ्का भी नहीं करनी चाहिये कि गुण तो गुणीके साथ

ही रहता है, वह गुणीसे अलग होकर कोई कार्य कैसे कर सकता है; क्योंकि जैसे गन्ध अपने गुणी पुष्प आदिसे अलग होकर स्थानान्तरमें फैल जाती है, उसी प्रकार आत्माका चेतनतारूप गुण भी आत्मासे अलग होकर समस्त शरीरमें व्याप्त हो जाता है; अतः कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—इसी बातको श्रुतिप्रमाणसे दृढ़ करते हैं—

तथा च दर्शयति ॥ २ । ३ । २७ ॥

तथा=ऐसा; **च**=ही; **दर्शयति**=श्रुति भी दिखलाती है।

*व्याख्या—*केवल युक्तिसे ही यह बात सिद्ध होती हो, ऐसा नहीं; श्रुतिमें भी आत्माका एक जगह रहकर अपने गुणके द्वारा समस्त शरीरमें नखसे लोमतक व्याप्त होना दिखाया गया है (बृह० उ० १ । ४ । ७), (छा० उ० ८ । ८ । १); अतः यह सिद्ध होता है कि आत्मा अणु है।

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वपक्षीद्वारा इक्कीसवें सूत्रसे लेकर सत्ताईसवें सूत्रतक जीवात्माका अणु होना सिद्ध किया गया; किन्तु उसमें दी हुई युक्तियाँ सर्वथा निर्बल हैं और पूर्वपक्षीद्वारा उद्धृत श्रुति-प्रमाण तो आभासमात्र है ही, इसलिये अब सिद्धान्तीकी ओरसे अणुवादका खण्डन करके आत्माके विभुत्वकी सिद्धि की जाती है—

पृथगुपदेशात् ॥ २ । ३ । २८ ॥

पृथक्=(जीवात्माके विषयमें) अणुपरिमाणसे भिन्न; **उपदेशात्**=उपदेश श्रुतिमें मिलता है, इसलिये (जीवात्मा अणु नहीं, विभु है)।

*व्याख्या—*पूर्वपक्षकी ओरसे जीवात्माको अणु बतानेके लिये जो प्रमाण दिया गया, उसी श्रुतिमें स्पष्ट शब्दोंमें जीवात्माको विभु बताया गया है। भाव यह कि जहाँ जीवात्माका स्वरूप बालाग्रके दस हजारवें भागके समान बताया है, वहीं उसको 'स चानन्त्याय कल्पते।' इस वाक्यसे अनन्त अर्थात् विभु होनेमें समर्थ कहा गया है (श्वेता० उ० ५ । ९)। अतः प्रमाण देनेवालेको श्रुतिके अगले उपदेशपर भी दृष्टिपात करना चाहिये। इसके सिवा, कठोपनिषद् (१ । ३ । १०, १३; २ । ३ । ७) में स्पष्ट ही जीवात्माका विशेषण **'महान्'** आया है तथा गीतामें भी जीवात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए स्पष्ट कहा है कि 'यह

आत्मा नित्य, सर्वव्यापी, स्थिर, अचल और सनातन है।' (गीता २ । २४), 'जिस प्रकार सब जगह व्याप्त हुआ भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा भी शरीरमें सत्र जगह स्थित है तो भी उससे लिप्त नहीं होता।' (गीता १३ । ३२) तथा 'उस आत्माको तू अविनाशी समझ, जिससे यह समस्त जडसमुदाय व्याप्त है।' (गीता २ । १७)—इन प्रमाणोंके विषयमें यह नहीं कहा जा सकता कि ये परमात्माके प्रकरणमें आये हैं।

सम्बन्ध—इसपर यह जिज्ञासा होती है कि यदि ऐसी बात है तो श्रुतिमें जो स्पष्ट शब्दोंमें आत्माको अणु और अङ्गुष्ठमात्र कहा है, उसकी सङ्गति कैसे होगी? इसपर कहते हैं—

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥ २ । ३ । २९ ॥

तद्व्यपदेशः=वह कथन; **तु**=तो; **तद्गुणसारत्वात्**=उस बुद्धि आदिके गुणोंकी प्रधानताको लेकर है; **प्राज्ञवत्**=जैसे परमेश्वरको अणु और हृदयमें स्थित अङ्गुष्ठमात्र बताया है, वैसे ही जीवात्माके लिये भी समझना चाहिये।

व्याख्या—श्रुतिमें जीवात्माको अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला कहते हुए इस प्रकार वर्णन किया गया है—

अङ्गुष्ठमात्रो रवितुल्यरूपः सङ्कल्पाहङ्कारसमन्वितो यः ।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्टः ॥

'जो अङ्गुष्ठमात्र परिमाणवाला, सूर्यके सदृश प्रकाशस्वरूप तथा सङ्कल्प और अहङ्कारसे युक्त है, वह बुद्धिके गुणोंसे और शरीरके गुणोंसे ही आरेकी नोक-जैसे सूक्ष्म आकारवाला है—ऐसा परमात्मासे भिन्न जीवात्मा भी निस्सन्देह ज्ञानियोंद्वारा देखा गया है।' (श्वेता० उ० ५ । ८) जीवात्माकी गति-आगतिका वर्णन भी शरीरादिके सम्बन्धसे ही है (कौ० उ० ३ । ६; प्र० उ० ३ । ९, १०)*। इससे यह बात बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है कि श्रुतिमें जहाँ कहीं जीवात्माको एकदेशी 'अङ्गुष्ठमात्र' या 'अणु' कहा गया है, वह बुद्धि और शरीर-के गुणोंको लेकर ही है; जैसे परमात्माको भी जगह-जगह जीवात्माके हृदयमें स्थित (क० उ० १ । ३ । १; प्र० उ० ६ । २; मु० उ० २ । १ । १० तथा २ । २ । १; ३ । १ । ५; ७; श्वेता० उ० ३ । २०) तथा अङ्गुष्ठमात्र भी (क० उ० २ । १ । १२-१३) बताया है। वह कथन स्थानकी अपेक्षासे ही है, उसी प्रकार

* यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः सहात्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ।

जीवात्माके विषयमें भी समझना चाहिये । वास्तवमें वह अणु नहीं, विभु है; इसमें कोई शङ्का नहीं है ।

पूर्वपक्षीने जो छान्दोग्य-श्रुतिका प्रमाण देकर यह बात कही कि 'वह एक जगह स्थित रहते हुए ही नखसे लोमतक व्याप्त है', वह कहना सर्वथा प्रकरण-विरुद्ध है; क्योंकि उस प्रकरणमें आत्माके गुणकी व्याप्तिविषयक कोई बात ही नहीं कही गयी है । तथा गन्ध, प्रदीप आदिका दृष्टान्त देकर जो गुणके द्वारा आत्माके चैतन्यकी व्याप्ति बतायी है, वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें आत्माको चैतन्यगुणविशिष्ट नहीं माना गया है, बल्कि परमेश्वरकी भाँति सत्, चेतन और आनन्द—ये उसके स्वरूपभूत लक्षण माने गये हैं । अतः जीवात्माको अणु मानना किसी प्रकार भी उचित नहीं है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि इस प्रकार बुद्धि आदिके गुणोंके संयोगसे आत्माको अङ्गुष्ठमात्र तथा एकदेशी माना जायगा, स्वरूपसे नहीं, तब तो जब प्रलयकालमें आत्माके साथ बुद्धि आदिका सम्बन्ध नहीं रहेगा, उस समय समस्त जीवोंकी मुक्ति हो जायगी । अतः प्रलयके बाद सृष्टि भी नहीं हो सकेगी । यदि मुक्त जीवोंका पुनः उत्पन्न होना मान लिया जाय तो मुक्तिके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित होगा, इसपर कहते हैं—

यावदात्मभावित्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात् ॥ २ । ३ । ३० ॥

यावदात्मभावित्वात्=जबतक स्थूल, सूक्ष्म या कारण—इनमेंसे किसी भी शरीरके साथ जीवात्माका सम्बन्ध रहता है, तबतक वह उस शरीरके अनुरूप, एकदेशी-सा रहता है, इसलिये; **च**=भी; **दोषः**=उक्त दोष; **न**=नहीं है; **तद्दर्शनात्**=श्रुतिमें भी ऐसा ही देखा गया है ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि जीवका एक शरीरसे दूसरेमें जाते समय भी सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध बना रहता है (प्र० उ० ३ । ९, १०) । परलोकमें भी उसका शरीरसे सम्बन्ध माना गया है तथा सुषुप्ति और स्वप्नकालमें भी देहके साथ उसका सम्बन्ध बताया गया है (प्र० उ० ४ । २, ५) । * इसी प्रकार प्रलयकालमें भी

* तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्कस्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकीभवन्ति ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवꣳह वै तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति । तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नादत्ते नानन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ।'

कर्मसंस्कारोंके सहित कारणशरीरसे जीवात्माका सम्बन्ध रहता है; क्योंकि श्रुतिमें यह बात स्पष्ट कही है कि प्रलयकालमें यह विज्ञानात्मा समस्त इन्द्रियोंके सहित उस परब्रह्ममें स्थित होता है (प्र० उ० ४ । ११), * इसलिये सुषुप्ति और प्रलयकालमें समस्त जीवोंके मुक्त होनेका तथा मुक्त पुरुषोंके पुनर्जन्म आदिका कोई दोष नहीं आ सकता ।

सम्बन्ध—प्रलयकालमें तो समस्त जगत् परमात्मामें विलीन हो जाता है, वहाँ बुद्धि आदि तत्त्वोंकी भी परमात्मासे भिन्न सत्ता नहीं रहती, इस स्थितिमें बुद्धि आदिके समुदायरूप सूक्ष्म या कारण-शरीरके साथ जीवात्माका सम्बन्ध कैसे रह सकता है ? और यदि उस समय नहीं रहता है तो सृष्टिकालमें कैसे सम्बन्ध हो जाता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

पुंस्त्वादिवत्त्वस्य सतोऽभिव्यक्तियोगात् ॥ २ । ३ । ३१ ॥

पुंस्त्वादिवत्=पुरुषत्व आदिकी भाँति; **सतः**=पहलेसे विद्यमान; **अस्य**=

'उससे उन सुप्रसिद्ध महर्षि पिप्पलादने कहा—गार्ग्य ! जिस प्रकार अस्त होते हुए सूर्यकी सब किरणें इस तेजोमण्डलमें एक हो जाती हैं; फिर उदय होनेपर वे सब पुनः-पुनः सब ओर फैलती रहती हैं । ठीक ऐसे ही (निद्राके समय) वे सब इन्द्रियाँ भी परमदेव मनमें एक हो जाती हैं; इस कारण उस समय वह जीवात्मा न तो सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न स्वाद लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न मैथुनका आनन्द भोगता है, न मल-मूत्रका त्याग करता है और न चलता ही है । उस समय 'वह सो रहा है' ऐसा लोग कहते हैं ।'

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद् दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति । देशदिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति । दृष्टं चादृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ।

'इस स्वप्नावस्थामें यह जीवात्मा अपनी विभूतिका अनुभव करता है, जो बार-बार देखा हुआ है, उसीको बार-बार देखता है । बार-बार सुनी हुई बातको पुनः-पुनः सुनता है । नाना देश और दिशाओंमें बार-बार अनुभव किये हुए विषयोंको पुनः-पुनः अनुभव करता है । इतना ही नहीं, देखे और न देखे हुएको भी, सुने हुए और न सुने हुएको भी, अनुभव किये हुए और अनुभव न किये हुएको भी तथा विद्यमान और अविद्यमानको भी देखता है; इस प्रकार वह सारी घटनाओंको देखता है और सब कुछ स्वयं बनकर देखता है ।'

* **विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।**
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥

शरीरादि सम्बन्धका; **तु**=ही; **अभिव्यक्तियोगात्**=सृष्टिकालमें प्रकट होनेका योग है, इसलिये (कोई दोष नहीं है)।

व्याख्या—प्रलयकालमें यद्यपि बुद्धि आदि तत्त्व स्थूलरूपमें न रहकर अपने कारणरूप परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन हो जाते हैं, तथापि भगवान्‌की अचिन्त्य शक्तिके रूपमें वे अव्यक्तरूपसे सब-के-सब विद्यमान रहते हैं। तथा सब जीवात्मा भी अपने-अपने कर्मसंस्काररूप कारण-शरीरोंके सहित अव्यक्तरूपसे उस परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन रहते हैं (प्र० उ० ४। ११)।* उनका सर्वथा नाश नहीं होता। अतः सृष्टिकालमें उस परब्रह्म परमात्माके संकल्पसे वे उसी प्रकार सूक्ष्म और स्थूल रूपोंमें प्रकट हो जाते हैं; जैसे बीजरूपमें पहलेसे ही विद्यमान पुरुषत्व बाल्यकालमें प्रकट नहीं होता, किन्तु युवावस्थामें शक्तिके संयोगसे प्रकट हो जाता है। यही बात बीज-वृक्षके सम्बन्धमें भी समझी जा सकती है। (गीता अध्याय १४ श्लोक ३ और ४ में यही बात स्पष्ट की गयी है) इसलिये कोई विरोध नहीं है। जिस साधकका अन्तःकरण साधनाके द्वारा जितना शुद्ध और व्यापक होता है, वह उतना ही विशाल हो जाता है। यही कारण है कि योगीमें दूर देशकी बात जानने आदिकी सामर्थ्य आ जाती है; क्योंकि जीवात्मा तो पहलेसे सर्वत्र व्याप्त है ही, अन्तःकरण और स्थूल शरीरके सम्बन्धसे ही वह उसके अनुरूप आकारवाला हो रहा है।

सम्बन्ध—जीवात्मा तो स्वयंप्रकाशस्वरूप है, उसे मन, बुद्धिके सम्बन्धसे वस्तुका ज्ञान होता है, यह माननेकी क्या आवश्यकता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा ॥ २ । ३ । ३२ ॥

अन्यथा=जीवको अन्तःकरणके सम्बन्धसे विषय-ज्ञान होता है, ऐसा न माननेपर; **नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गः**=उसे सदा ही विषयोंके अनुभव होनेका या कभी भी न होनेका प्रसङ्ग उपस्थित होगा; **वा**=अथवा; **अन्यतरनियमः**=आत्माकी ग्राहकता-शक्ति या विषयकी ग्राह्यता-शक्तिके नियमन (प्रतिबन्ध) की

* यह मन्त्र पूर्वसूत्रकी टिप्पणीमें आ गया है।

कल्पना करनी पड़ेगी (ऐसी दशामें अन्तःकरणका सम्बन्ध मानना ही युक्तिसङ्गत है)।

व्याख्या-यदि यह नहीं माना जाय कि यह जीवात्मा अन्तःकरणके सम्बन्धसे समस्त वस्तुओंका अनुभव करता है तो प्रत्यक्षमें जो यह देखा जाता है कि यह जीवात्मा कभी किसी वस्तुका अनुभव करता है और कभी नहीं करता, इसकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि इसको यदि प्रकाशस्वरूप होनेके कारण स्वतः अनुभव करनेवाला मानेंगे, तब तो इसे सदैव एक साथ प्रत्येक वस्तुका ज्ञान रहता है, ऐसा मानना पड़ेगा। यदि इसमें जाननेकी शक्ति स्वाभाविक नहीं मानेंगे तो कभी नहीं जाननेका प्रसङ्ग आ जायगा। अथवा दोनोंमेंसे किसी एकको शक्तिका नियमन (सङ्कोच) मानना पड़ेगा। अर्थात् या तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि किसी निमित्तसे जीवात्माकी ग्राहकशक्तिका प्रतिबन्ध होता है या यह मानना पड़ेगा कि विषयकी ग्राह्यता-शक्तिमें किसी कारणवश प्रतिबन्ध आ जाता है। प्रतिबन्ध हट जानेपर विषयकी उपलब्धि होती है और उसके रहनेपर विषयोपलब्धि नहीं होती। परन्तु यह गौरवपूर्ण कल्पना करनेकी अपेक्षा अन्तःकरणके सम्बन्धको स्वीकार कर लेनेमें ही लाघव है। इसलिये यही मानना ठीक है कि अन्तःकरणके सम्बन्धसे ही जीवात्माको समस्त लौकिक पदार्थोंका अनुभव होता है। 'मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति' (बृह० उ० १। ५। ३) अर्थात् 'मनसे ही देखता है, मनसे सुनता है' इत्यादि मन्त्र-वाक्योंद्वारा श्रुति भी अन्तःकरणके सम्बन्धको स्वीकार करती है। जीवात्माका अन्तःकरणसे सम्बन्ध रहते हुए भी वह कभी तो कार्यरूपमें प्रकट रहता है और कभी कारणरूपसे अप्रकट रहता है। इस प्रकार यहाँतक यह बात सिद्ध हो गयी कि जीवात्माको जो अणु कहा गया है, वह उसकी सूक्ष्मताका बोधक है, न कि एकदेशिता (छोटेपन) का; और उसको जो अङ्गुष्ठमात्र कहा गया है, वह मनुष्य-शरीरके हृदयके मापके अनुसार कहा गया है तथा उसे जो छोटे आकारवाला बताया गया है, वह भी सङ्कीर्ण अन्तःकरणके सम्बन्धसे है, वास्तवमें वह विभु (समस्त जड पदार्थोंमें व्याप्त) और अनन्त (देश-कालकी सीमासे अतीत) है।

सम्बन्ध—सांख्यमतमें जड प्रकृतिको स्वतन्त्र कर्ता माना गया है और पुरुषको असङ्ग माना गया है; किन्तु जड प्रकृतिको स्वभावसे कर्ता मानना युक्तिसङ्गत नहीं है तथा पुरुष असङ्ग होनेसे उसको भी कर्ता मानना नहीं बन

सकता। अतः यह निश्चय करनेके लिये कि कर्ता कौन है, अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। वहाँ गौणरूपसे 'जीवात्मा कर्ता है' यह बात सिद्ध करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात् ॥ २ । ३ । ३३ ॥

कर्ता=कर्ता जीवात्मा है; **शास्त्रार्थवत्त्वात्**=क्योंकि विधि-निषेधबोधक शास्त्रकी इसीमें सार्थकता है।

व्याख्या—श्रुतियोंमें जो बार-बार यह कहा गया है कि अमुक काम करना चाहिये, अमुक नहीं करना चाहिये। अमुक शुभकर्म करनेवालेको अमुक श्रेष्ठ फल मिलता है, अमुक पापकर्म करनेवालेको अमुक दुःख भोग करना पड़ता है, इत्यादि; यह जो शास्त्रका कथन है, वह किसी चेतनको कर्ता न माननेसे और जड प्रकृतिको कर्ता माननेसे भी व्यर्थ होता है; किन्तु शास्त्र-वचन कभी व्यर्थ नहीं हो सकता। इसलिये जीवात्माको ही समस्त कर्मोंका कर्ता मानना उचित है। इसके सिवा, श्रुति स्पष्ट शब्दोंमें जीवात्माको कर्ता बतलाती है; (प्र० उ० ४ । ९) यहाँ यह ध्यानमें रखना चाहिये कि अनादिकालसे जो जीवात्माका कारण-शरीरके साथ सम्बन्ध है, उसीसे जीवको कर्ता माना गया है, स्वरूपसे वह कर्ता नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें उसका स्वरूप निष्क्रिय बताया गया है। (श्वेता० ६ । १२) यह बात इस प्रकरणके अन्तमें सिद्ध की गयी है।

सम्बन्ध—जीवात्माके कर्ता होनेमें दूसरा हेतु बताया जाता है—

विहारोपदेशात् ॥ २ । ३ । ३४ ॥

विहारोपदेशात्=स्वप्नमें स्वेच्छासे विहार करनेका वर्णन होनेसे भी (यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा 'कर्ता' है)।

व्याख्या—शास्त्रके विधि-निषेधके सिवा, यह स्वप्नावस्थामें स्वेच्छापूर्वक घूमना-फिरना, खेल-तमाशा करना आदि कर्म करता है, ऐसा वर्णन है (बृह० उ० ४ । ३ । १३; २ । १ । १८) इसलिये भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा कर्ता है, जड प्रकृतिमें स्वेच्छापूर्वक कर्म करना नहीं बनता।

सम्बन्ध—तीसरा कारण बताते हैं—

उपादानात् ॥ २ । ३ । ३५ ॥

उपादानात्=इन्द्रियोंको ग्रहण करके विचरनेका वर्णन होनेसे (भी यही सिद्ध होता है कि इन्द्रिय आदिके सम्बन्धसे जीवात्मा 'कर्ता' है)।

व्याख्या—यहाँ 'उपादान' शब्द उपादान कारणका वाचक नहीं; किन्तु 'ग्रहण' रूप क्रियाका बोधक है। श्रुतिमें कहा है कि—'स यथा महाराजो जानपदान् गृहीत्वा स्वे जनपदे यथाकामं परिवर्तेतैवमेवैष एतत्प्राणान् गृहीत्वा स्वे शरीरे यथाकामं परिवर्तते ॥' (बृह० उ० २। १। १८) अर्थात् 'जिस प्रकार कोई महाराज प्रजाजनोंको साथ लेकर अपने देशमें इच्छानुसार भ्रमण करता है, वैसे ही यह जीवात्मा स्वप्नावस्थामें प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियोंको ग्रहण करके इस शरीरमें इच्छानुसार विचरता है। इस प्रकार इन्द्रियोंके द्वारा कर्म करनेका वर्णन होनेसे यह सिद्ध होता है कि प्रकृति या इन्द्रियाँ स्वतन्त्र 'कर्ता' नहीं हैं; उनसे युक्त हुआ जीवात्मा ही कर्ता है (गीता १५। ७, ९)।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे जीवात्माका कर्तापन सिद्ध करते हैं—

व्यपदेशाच्च क्रियायां न चेन्निर्देश-
विपर्ययः ॥ २। ३। ३६ ॥

क्रियायाम्=क्रिया करनेमें; **व्यपदेशात्**=जीवात्माके कर्तापनका श्रुतिमें कथन है, इसलिये; **च**=भी (जीवात्मा कर्ता है); **चेत्**=यदि; **न**=जीवात्माको कर्ता बताना अभीष्ट न होता तो; **निर्देशविपर्ययः**=श्रुतिका सङ्केत उसके विपरीत होता।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि 'विज्ञानं यज्ञं तनुते कर्माणि तनुतेऽपि च।' (तै० उ० २। ५) अर्थात् 'यह जीवात्मा यज्ञका विस्तार करता है और उसके लिये कर्मोंका विस्तार करता है।' इस प्रकार जीवात्माको कर्मोंका विस्तार करनेवाला कहा जानेके कारण उसका कर्तापन सिद्ध होता है। यदि कहो 'विज्ञान' शब्द बुद्धिका वाचक है, अतः यहाँ बुद्धिको ही कर्ता बताया गया है तो यह कहना उस प्रसङ्गके विपरीत होगा; क्योंकि वहाँ विज्ञानमयके नामसे जीवात्माका ही प्रकरण है। यदि 'विज्ञान' नामसे बुद्धिको ग्रहण करना अभीष्ट होता तो मन्त्रमें 'विज्ञान' शब्दके साथ प्रथमा विभक्तिका प्रयोग न होकर करणद्योतक तृतीया विभक्तिका प्रयोग होता।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीव यदि स्वतन्त्र कर्ता है, तब तो इसे अपने हितका ही काम करना चाहिये, अनिष्टकार्यमें इसकी

प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये; किन्तु ऐसा नहीं देखा जाता, इसका क्या कारण है? इसपर कहते हैं—

उपलब्धिवदनियमः ॥ २ । ३ । ३७ ॥

उपलब्धिवत्=सुख-दुःखादि भोगोंकी प्राप्तिकी भाँति; **अनियमः**=कर्म करनेमें भी नियम नहीं है ।

व्याख्या—जिस प्रकार इस जीवात्माको सुख-दुःख आदि भोगोंकी प्राप्ति होती है, उसमें यह निश्चित नियम नहीं है कि उसे अनुकूल-ही-अनुकूल भोग प्राप्त हों, प्रतिकूल न हों; इसी प्रकार कर्म करनेमें भी यह नियम नहीं है कि वह अपने हितकारक ही कर्म करे, अहितकारक न करे । यदि कहो कि फलभोगमें तो जीव प्रारब्धके कारण स्वतन्त्र नहीं है, उसके प्रारब्धानुसार परमेश्वरके विधानसे जैसे भोगोंका मिलना उचित होता है, वैसे भोग मिलते हैं; परन्तु नये कर्मोंके करनेमें तो वह स्वतन्त्र है, फिर अहितकर कर्ममें प्रवृत्त होना कैसे उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि वह जिस प्रकार फल भोगनेमें प्रारब्धके अधीन है, वैसे ही नये कर्म करनेमें अनादिकालसे सञ्चित कर्मोंके अनुसार जो जीवात्माका स्वभाव बना हुआ है, उसके अधीन है; इसलिये यह सर्वथा हितमें ही प्रयुक्त हो, ऐसा नियम नहीं हो सकता । अतः कोई विरोध नहीं है । भगवान्‌का आश्रय लेकर यदि यह अपने स्वभावको सुधारनेमें लग जाय तो उसका सुधार कर सकता है । उसका पूर्णतया सुधार हो जानेपर अहितकारक कर्मोंमें होनेवाली प्रवृत्ति बंद हो सकती है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथनकी पुष्टिके लिये दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

शक्तिविपर्ययात् ॥ २ । ३ । ३८ ॥

शक्तिविपर्ययात्=शक्तिका विपर्यय होनेके कारण भी (उसके द्वारा सर्वथा हिताचरण होनेका नियम नहीं हो सकता) ।

व्याख्या—जीवात्माका जो कर्तापन है, वह स्वरूपसे नहीं है; किन्तु अनादि कर्मसंस्कार तथा इन्द्रियों और शरीर आदिके सम्बन्धसे है यह बात पहले बता आये हैं । इसलिये वह नियमितरूपसे अपने हितका आचरण नहीं कर सकता; क्योंकि प्रत्येक काम करनेमें सहकारी कारणोंकी और बाह्य सामग्रीकी आवश्यकता होती है; उन सबकी उपलब्धिमें यह सर्वथा परतन्त्र है । एवं अन्तःकरणकी, इन्द्रियोंकी और शरीरकी शक्ति भी कभी अनुकूल हो जाती है और कभी प्रतिकूल हो जाती है । इस प्रकार

शक्तिका विपर्यय होनेके कारण भी जीवात्मा अपने हितका आचरण करनेमें सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि जीवात्माका कर्तापन उसमें स्वरूपसे ही मान लिया जाय तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

समाध्यभावाच्च ॥ २ । ३ । ३९ ॥

समाध्यभावात्=समाधि-अवस्थाका अभाव प्राप्त होनेसे; **च**=भी (जीवात्माका कर्तापन स्वाभाविक नहीं मानना चाहिये) ।

व्याख्या—समाधि-अवस्थामें कर्मोंका सर्वथा अभाव हो जाता है । यदि जीवमें कर्तापन उसका स्वाभाविक धर्म मान लिया जायगा तो समाधि-अवस्थाका होना सिद्ध नहीं होगा; क्योंकि जिस प्रकार जीवात्मामें चेतनता स्वरूपगत धर्म है, उसी प्रकार यदि कर्म भी हो तो वह कभी भी निष्क्रिय नहीं हो सकता; किन्तु वास्तवमें ऐसी बात नहीं है; जीवात्माका स्वरूप निष्क्रिय माना गया है, (श्वेता० ६ । १२) अतः उसमें जो कर्तापन है, वह अनादिसिद्ध अन्तःकरण आदिके सम्बन्धसे है, स्वरूपगत नहीं है ।

सम्बन्ध—इस बातको दृढ़ करनेके लिये फिर कहा जाता है—

यथा च तक्षोभयथा ॥ २ । ३ । ४० ॥

च=इसके सिवा; **यथा**=जैसे; **तक्षा**=कारीगर; **उभयथा**=कभी कर्म करता है, कभी नहीं करता, ऐसे दो प्रकारकी स्थितिमें देखा जाता है (उसी प्रकार जीवात्मा भी दोनों प्रकारकी स्थितिमें रहता है, इसलिये उसका कर्तापन स्वरूपगत नहीं है) ।

व्याख्या—जिस प्रकार रथ आदि वस्तुओंको बनानेवाला कारीगर जब अपने सहकारी नाना प्रकारके हथियारोंसे सम्पन्न होकर कार्यमें प्रवृत्त होता है, तब तो वह उस कार्यका कर्ता है और जब हथियारोंको अलग रखकर चुपचाप बैठ जाता है, तब उस क्रियाका कर्ता नहीं है । इस प्रकार यह जीवात्मा भी जब अन्तःकरण और इन्द्रियोंका अधिष्ठाता होता है, तब तो उनके द्वारा किये जानेवाले कर्मोंका वह कर्ता है और जब उनसे सम्बन्ध छोड़ देता है, तब कर्ता नहीं है । अतः जीवात्माका कर्तापन स्वभावसिद्ध नहीं है । इसके सिवा, यदि जीवात्माको स्वरूपसे कर्ता मान लिया जाय तो श्रीमद्भगवद्गीतादिका निम्नलिखित वर्णन सर्वथा असङ्गत ठहरेगा—

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥

'हे अर्जुन ! वास्तवमें सम्पूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणोंद्वारा किये हुए हैं, तो भी अहङ्कारसे मोहित हुए अन्तःकरणवाला पुरुष 'मैं कर्ता हूँ' ऐसे मान लेता है ।'

(गी० ३ । २७)

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्यञ्शृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपञ्श्वसन् ॥
प्रलपन्विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ॥

'हे अर्जुन ! तत्त्वको जाननेवाला सांख्ययोगी तो देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ तथा आँखोंको खोलता और मीचता हुआ भी सब इन्द्रियाँ अपने-अपने अर्थोंमें बर्त रही हैं, इस प्रकार समझता हुआ, निःसन्देह ऐसे माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ ।'

(गी० ५ । ८-९)

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः ।
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ॥

'जो पुरुष सम्पूर्ण कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिसे ही किये हुए देखता है अर्थात् इस बातको तत्त्वसे समझ लेता है कि प्रकृतिसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण गुण ही गुणोंमें बर्तते हैं तथा आत्माको अकर्ता देखता है, वही देखता है ।'

(गी० १३ । २९)

इसी प्रकार भगवद्गीतामें जगह-जगह जीवात्मामें कर्तापनका निषेध किया है, इससे यही सिद्ध होता है कि जीवात्माका कर्तापन अन्तःकरण और संस्कारोंके सम्बन्धसे है, केवल शुद्ध आत्मामें कर्तापन नहीं है (गीता १८ । १६) ।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रोंसे यह निश्चय किया गया कि प्रकृति स्वतन्त्र कर्ता नहीं है तथा जीवात्माका जो कर्तापन है वह भी बुद्धि, मन और इन्द्रिय आदिके सम्बन्धसे है, स्वभावसे नहीं है, इस कारण यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उपर्युक्त जीवात्माका कर्तापन स्वाधीन है या पराधीन, इसपर कहते हैं—

परात्तु तच्छ्रुतेः ॥ २ । ३ । ४१ ॥

तत्=वह जीवात्माका कर्तापन; **परात्**=परमेश्वरसे; **तु**=ही है; **श्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिके वर्णनसे यही सिद्ध होता है ।

व्याख्या—बृहदारण्यकमें कहा है कि 'जो जीवात्मामें रहकर उसका नियमन करता है, वह अन्तर्यामी तेरा आत्मा है' (३ । ७ । २२); छान्दोग्यमें कहा है कि 'मैं इस जीवात्माके सहित प्रविष्ट होकर नामरूपको प्रकट करूँगा।' (६ । ३ । २) तथा केनोपनिषद्में जो यक्षकी आख्यायिका है, उसमें भी यह सिद्ध किया गया है कि 'अग्नि और वायु आदि देवताओंमें अपना कार्य करनेकी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है, उस परब्रह्मसे शक्ति पाकर ही वे अपना-अपना कार्य करनेमें समर्थ होते हैं।' (३ । १—१०) इत्यादि । श्रुतियोंके इस वर्णनसे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा स्वतन्त्रतापूर्वक कुछ भी नहीं कर सकता, वह जो कुछ करता है, परब्रह्म परमेश्वरके सहयोगसे, उसकी दी हुई शक्तिके द्वारा ही करता है ।

जीवका कर्तापन ईश्वराधीन है, यह बात गीतामें स्पष्ट कही गयी है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥

'हे अर्जुन ! शरीररूपी यन्त्रमें आरूढ़ हुए सब प्राणियोंको अपनी मायासे गुणोंके अनुसार चलाता हुआ ईश्वर सबके हृदयमें निवास करता है ।'

(गी० १८ । ६१)

विष्णुपुराणमें जहाँ प्रह्लादका प्रसङ्ग आया है, वहाँ प्रह्लादने अपने पितासे कहा है—'पिताजी ! वे भगवान् विष्णु केवल मेरे ही हृदयमें नहीं हैं, अपितु समस्त लोकोंको सब ओरसे व्याप्त करके स्थित हो रहे हैं, वे ही सर्वव्यापी परमेश्वर मुझे और आपके सहित अन्य सब प्राणियोंको भी समस्त चेष्टाओंमें नियुक्त करते हैं ।' (विष्णु० १ । १७ । २६)*। इससे भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्माका कर्तापन सर्वथा ईश्वराधीन है । यह जो कुछ करता है, उसीकी दी हुई शक्तिसे करता है, तथापि अभिमानवश अपनेको कर्ता मानकर फँस जाता है (गीता ३ । २७) ।

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें जीवात्माका कर्तापन ईश्वराधीन बताया गया, इसे सुनकर यह जिज्ञासा होती है कि ईश्वर पहले तो जीवोंसे शुभाशुभ कर्म करवाता

---

* न केवलं मद्धृदयं स विष्णुराक्रम्य लोकानखिलानवस्थितः ।
स मां त्वदादींश्च पितः समस्तान् समस्तचेष्टासु युनक्ति सर्वगः ॥

है और फिर उसका फल-भोग करवाता है, यह माननेसे ईश्वरमें विषमता और निर्दयताका दोष आयेगा, उसका निराकरण कैसे होगा, इसपर कहते हैं—

कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ॥ २ । ३ । ४२ ॥

तु=किन्तु; **कृतप्रयत्नापेक्षः**=ईश्वर जीवके पूर्वकृत कर्म-संस्कारोंकी अपेक्षा रखते हुए ही उसको नवीन कर्मोंमें नियुक्त करता है, इसलिये तथा; **विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः**=विधि-निषेध शास्त्रकी सार्थकता आदि हेतुओंसे भी ईश्वर सर्वथा निर्दोष है।

व्याख्या—ईश्वरद्वारा जो जीवात्माको नवीन कर्म करनेकी शक्ति देकर उसे नवीन कर्मोंमें नियुक्त किया जाता है, वह उस जीवात्माके जन्म-जन्मान्तरमें सञ्चित किये हुए कर्म-संस्कारसे उत्पन्न स्वभावकी अपेक्षासे ही किया जाता है, बिना अपेक्षाके नहीं। इसलिये ईश्वर सर्वथा निर्दोष है तथा ऐसा करनेसे ही शास्त्रोंमें अच्छे काम करनेके लिये कहे हुए विधि-वाक्योंकी और पापाचरण न करनेके लिये कहे हुए निषेध-वाक्योंकी सार्थकता सिद्ध होती है। तथा ईश्वरने जीवको अपने स्वभावका सुधार करनेके लिये जो स्वतन्त्रता प्रदान की है, वह भी सार्थक होती है। इसलिये ईश्वरका यह कर्म न्याय ही है। इसी भावको स्पष्ट करनेके लिये गीतामें भगवान्‌ने कहा है कि—

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत्॥

'हे कुन्तीपुत्र! अपने जन्म-जन्मान्तरके कर्मसंस्काररूप स्वभावजनित कर्मोंद्वारा बँधा हुआ तू जिस कामको नहीं करना चाहता उसे भी परवश हुआ अवश्य करेगा।' (गी० १८। ६०)

इसके बाद ही यह भी कहा है कि 'सबके हृदयमें स्थित परमेश्वर सबसे चेष्टा कराता है।' इससे भी यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमेश्वर जीवोंद्वारा जन्म-जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंकी अपेक्षासे ही उनको कर्म करनेकी शक्ति आदि प्रदान करके स्वाभाविक स्वधर्मरूप नवीन कर्मोंमें नियुक्त करते हैं। इसलिये ईश्वर सर्वथा निर्दोष हैं।

सम्बन्ध—पूर्वप्रकरणमें यह सिद्ध किया गया कि जीवात्मा कर्ता है और

परमेश्वर उसको कर्मोंमें नियुक्त करनेवाला है, इससे जीवात्मा और परमात्माका भेद सिद्ध होता है। श्रुतियोंमें भी जगह-जगह भेदका प्रतिपादन किया गया है (श्वेता० उ० ४ । ६-७) परन्तु कहीं-कहीं अभेदका भी प्रतिपादन है (बृह० उ० ४ । ४ । ५) तथा समस्त जगत्का कारण एक परब्रह्म परमेश्वर ही बताया गया है, इससे भी अभेद सिद्ध होता है । अतः उक्त विरोधका निराकरण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादित्वमधीयत एके ॥ २ । ३ । ४३ ॥

नानाव्यपदेशात्=श्रुतिमें जीवोंको बहुत और अलग-अलग बताया गया है, इसलिये; **च**=तथा; **अन्यथा**=दूसरे प्रकारसे; **अपि**=भी; (यही सिद्ध होता है कि) **अंशः**=जीव ईश्वरका अंश है; **एके**=क्योंकि एक शाखावाले; **दाशकितवादित्वम्**=ब्रह्मको दाशकितव आदिरूप कहकर; **अधीयते**=अध्ययन करते हैं ।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद् (६ । १२-१३) में कहा है कि—

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥
नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान् ।
तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ॥

'बहुत-से निष्क्रिय जीवोंपर शासन करनेवाला जो एक परमेश्वर एक बीज (अपनी प्रकृति)को अनेक प्रकारसे विस्तृत करता है, उस अपने हृदयमें स्थित परमेश्वरको जो ज्ञानीजन निरन्तर देखते हैं, उन्हींको सदा रहनेवाला सुख मिलता है, दूसरोंको नहीं । जो एक नित्य चेतन परब्रह्म परमेश्वर बहुत-से नित्य चेतन जीवोंके कर्मफलभोगोंका विधान करता है, वही सबका कारण है, उस ज्ञानयोग और कर्मयोगद्वारा प्राप्त किये जानेयोग्य परमदेव परमेश्वरको जानकर जीवात्मा समस्त बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।'

इस प्रकार श्रुतिमें जीवोंके नानात्वका प्रतिपादन किया गया है; साथ ही उसको नित्य और चेतन भी कहा गया है और ईश्वरको जगत्का कारण बताया गया है । इससे यह सिद्ध होता है कि जीवगण परमेश्वरके अंश हैं। केवल इतनेसे ही नहीं, प्रकारान्तरसे भी जीवगण ईश्वरके अंश

सिद्ध होते हैं; क्योंकि अथर्ववेदकी शाखावालोंके ब्रह्मसूक्तमें यह पाठ है कि 'ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा ब्रह्मैवेमे कितवाः' अर्थात् 'ये केवट ब्रह्म हैं, दास ब्रह्म हैं तथा ये जुआरी भी ब्रह्म ही हैं।' इस प्रकार जीवोंके बहुत्व और ब्रह्मरूपताका भी वर्णन होनेसे यही सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरके अंश हैं। यदि जीवोंको परमेश्वरका अंश न मानकर सर्वथा भिन्न तत्त्व माना जाय तो जो पूर्वोक्त श्रुतियोंमें ब्रह्मको जगत्‌का एकमात्र कारण कहा गया है और उन दाश, कितवोंको ब्रह्म कहा गया है, उस कथनमें विरोध आयेगा, इसलिये सर्वथा भिन्न तत्त्व नहीं माना जा सकता। इसलिये अंश मानना ही युक्तिसंगत है, किन्तु जिस प्रकार साकार वस्तुके टुकड़ोंको उसका अंश कहा जाता है, वैसे भी जीवोंको ईश्वरका अंश नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अवयवरहित अखण्ड परमेश्वरके खण्ड नहीं हो सकते। अतएव कार्यकारणभावसे ही जीवोंको परमेश्वरका अंश मानना उचित है। तथा वह कार्यकारणभाव भी इसी रूपमें है कि प्रलयकालमें अव्यक्तरूपसे परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन रहनेवाले नित्य और चेतन जीव सृष्टिकालमें उसी परमेश्वरसे प्रकट हो जाते हैं और पुनः संहारके समय उन्हींमें उन जीवोंका लय होता है तथा उनके शरीरोंकी उत्पत्ति भी उस ब्रह्मसे ही होती है।

यह बात श्रीमद्भगवद्गीतामें इस प्रकार स्पष्ट की गयी है—

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥

'हे अर्जुन! मेरी महत् ब्रह्मरूप प्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया सम्पूर्ण भूतोंकी योनि है अर्थात् गर्भाधानका स्थान है और मैं उस योनिमें चेतनरूप बीजको स्थापित करता हूँ, उस जड-चेतनके संयोगसे सब भूतोंकी उत्पत्ति होती है। तथा हे अर्जुन! नाना प्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी मेरी प्रकृति तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापित करनेवाला पिता हूँ।' (गी० १४। ३-४)

इसलिये पिता और सन्तानकी भाँति जीवोंको ईश्वरका अंश मानना ही शास्त्रके कथनानुसार ठीक मालूम होता है और ऐसा होनेसे जीव तथा ब्रह्मका अभेद कहनेवाली श्रुतियोंकी भी सार्थकता हो जाती है।

सम्बन्ध—प्रमाणान्तरसे जीवके अंशत्वको सिद्ध करते हैं—

मन्त्रवर्णाच्च ॥ २ । ३ । ४४ ॥

मन्त्रवर्णात्=मन्त्रके शब्दोंसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—मन्त्रमें कहा है कि पहले जो कुछ वर्णन किया गया है उतना तो इस परब्रह्म परमेश्वरका महत्त्व है ही; वह परमपुरुष उससे अधिक भी है, समस्त जीव-समुदाय इस परब्रह्मका एक पाद (अंश) है और इसके तीन पाद अमृतस्वरूप दिव्य (सर्वथा अलौकिक अपने ही विज्ञानानन्दस्वरूपमें) हैं ।'* (छा० उ० ३ । १२ । ६) । इस प्रकार मन्त्रके शब्दोंमें स्पष्ट ही समस्त जीवोंको ईश्वरका अंश बताया गया है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि जीवगण परमेश्वरके अंश हैं ।

सम्बन्ध—उसी बातको स्मृतिप्रमाणसे सिद्ध करते हैं—

अपि च स्मर्यते ॥ २ । ३ । ४५ ॥

अपि=इसके सिवा; **स्मर्यते च**=(भगवद्गीता आदिमें) यही स्मरण भी किया गया है।

व्याख्या—यह बात केवल मन्त्रमें ही नहीं कही गयी है, अपि तु गीता (१५ । ७) में साक्षात् भगवान् श्रीकृष्णने भी इसका अनुमोदन किया है—'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।' 'इस जीवलोकमें यह जीव-समुदाय मेरा ही अंश है ।' इसी प्रकार दसवें अध्यायमें अपनी मुख्य-मुख्य विभूतियों अर्थात् अंशसमुदायका वर्णन करके अन्त (१० । ४२) में कहा है कि—

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन ।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ॥

'अर्जुन ! तुझे इस बहुत भेदोंको अलग-अलग जाननेसे क्या प्रयोजन है, तू बस इतना ही समझ ले कि मैं अपनी शक्तिके किसी एक अंशसे इस समस्त जगत्को भलीभाँति धारण किये हुए स्थित हूँ ।' दूसरी जगह भी ऐसा ही वर्णन आता है—'हे मैत्रेय ! एक पुरुष जीवात्मा जो कि अविनाशी, शुद्ध, नित्य और सर्वव्यापी है, वह भी सर्वभूतमय विज्ञानानन्दघन परमात्माका अंश ही है ।'†

* यह मन्त्र पहले पृष्ठ १६ में आ गया है ।

† **एकः शुद्धोऽक्षरो नित्यः सर्वव्यापी तथा पुमान् । सोऽप्यंशः सर्वभूतस्य मैत्रेय परमात्मनः ॥**
(वि० पु० ६ । ४ । ३६)

इस प्रकार स्मृतियोंद्वारा समर्थन किया जानेसे भी यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा परमेश्वरका अंश है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि जीवात्मा ईश्वरका ही अंश है, तब तो जीवके शुभाशुभ कर्मोंसे और सुख-दुःखादि भोगोंसे ईश्वरका भी सम्बन्ध होता होगा, इसपर कहते हैं—

प्रकाशादिवन्नैवं परः ॥ २ । ३ । ४६ ॥

परः=परमेश्वर; **एवम्**=इस प्रकार जीवात्माके दोषोंसे सम्बद्ध; **न**=नहीं होता; **प्रकाशादिवत्**=जिस प्रकार कि प्रकाश आदि अपने अंशके दोषोंसे लिप्त नहीं होते ।

व्याख्या—जिस प्रकार प्रकाश सूर्य तथा आकाश आदि भी अपने अंश इन्द्रिय आदिके दोषोंसे लिप्त नहीं होते, वैसे ही ईश्वर भी जीवोंके शुभाशुभ कर्म-फलरूप सुख-दुःखादि दोषोंसे लिप्त नहीं होता । श्रुतिमें कहा है—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः ॥

'जिस प्रकार समस्त लोकोंके चक्षुःस्वरूप सूर्यदेव चक्षुमें होनेवाले दोषोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा अद्वितीय परमेश्वर लोगोंके दुःखोंसे लिप्त नहीं होता ।' (क० उ० २ । २ । ११)

सम्बन्ध—इसी बातको स्मृतिप्रमाणसे पुष्ट करते हैं—

स्मरन्ति च ॥ २ । ३ । ४७ ॥

स्मरन्ति=यही बात स्मृतिकार कहते हैं; **च**=और (श्रुतिमें भी कही गयी है) ।

व्याख्या—श्रीमद्भगवद्गीतादिमें भी ऐसा ही वर्णन मिलता है—

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥

'अर्जुन ! यह अविनाशी परमात्मा अनादि और गुणातीत होनेके कारण शरीरमें स्थित हुआ भी न तो स्वयं कर्ता है और न सुख-दुःखादि फलोंसे लिप्त ही होता है ।' (गीता १३ । ३१) इसी प्रकार दूसरी जगह भी कहा है कि 'उन दोनोंमें जो परमात्मा नित्य और निर्गुण कहा गया है, वह जिस प्रकार

कमलका पत्ता जलमें रहता हुआ जलसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही वह जीवके कर्मफलोंसे लिप्त नहीं होता (महाभारत शान्तिपर्व ३५१ । १४—१५) । इसी प्रकार श्रुतिमें भी कहा है कि 'उन दोनोंमेंसे एक जीवात्मा तो पीपलके फलोंको अर्थात् कर्मफलरूप सुख-दुःखोंको भोगता है और परमेश्वर न भोगता हुआ देखता रहता है । (मु० उ० ३ । १ । १) इससे भी यही सिद्ध होता है कि परमात्मा किसी प्रकारके दोषोंसे लिप्त नहीं होता ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'जब सभी जीव एक ही परमेश्वरके अंश हैं, तब किसी एकके लिये जिस कामको करनेकी आज्ञा दी जाती है, दूसरेके लिये उसीका निषेध क्यों किया जाता है ? शास्त्रमें जीवोंके लिये भिन्न-भिन्न आदेश दिये जानेका क्या कारण है ?' इसपर कहते हैं—

अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धाज्ज्योतिरादिवत् ॥ २ । ३ । ४८ ॥

अनुज्ञापरिहारौ=विधि और निषेध; **ज्योतिरादिवत्**=ज्योति आदिकी भाँति; **देहसम्बन्धात्**=शरीरोंके सम्बन्धसे हैं ।

*व्याख्या—*भिन्न-भिन्न प्रकारके शरीरोंके साथ जीवात्माओंका सम्बन्ध होनेसे उनके लिये अनुज्ञा और निषेधका भेद अनुचित नहीं है । जैसे, श्मशानकी अग्निको त्याज्य और यज्ञकी अग्निको ग्राह्य बताया जाता है तथा जैसे शूद्रको सेवा करनेके लिये आज्ञा दी है और ब्राह्मणके लिये सेवा-वृत्तिका निषेध किया गया है, इसी प्रकार सभी जगह समझ लेना चाहिये । शरीरोंके सम्बन्धसे यथायोग्य भिन्न-भिन्न प्रकारका विधि-निषेधरूप आदेश उचित ही है, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि उक्त प्रकारसे विधि-निषेधकी व्यवस्था होनेपर भी जीवात्माओंको विभु माननेसे उनका और उनके कर्मोंका अलग-अलग विभाग कैसे होगा ? इसपर कहते हैं—

असन्ततेश्चाव्यतिकरः ॥ २ । ३ । ४९ ॥

च=इसके सिवा; **असन्ततेः**=(शरीरोंके आवरणसे) व्यापकताका निरोध होनेके कारण; **अव्यतिकरः**=उनका तथा उनके कर्मोंका मिश्रण नहीं होगा ।

*व्याख्या—*जिस प्रकार कारणशरीरका आवरण होनेसे सब जीवात्मा विभु होते

हुए भी प्रलयकालमें एक नहीं हो जाते, उनका विभाग विद्यमान रहता है (ब्र० सू० २ । ३ । ३०) वैसे ही सृष्टिकालमें शरीरोंके सम्बन्धसे सब जीवोंकी परस्पर व्याप्ति न होनेके कारण उनके कर्मोंका मिश्रण नहीं होता, विभाग बना रहता है; क्योंकि शरीर, अन्तःकरण और अनादि कर्मसंस्कार आदिके सम्बन्धसे उनकी व्यापकता परमेश्वरकी भाँति नहीं है, किन्तु सीमित है, अतएव जिस प्रकार शब्दमात्रकी आकाशमें व्याप्ति होते हुए भी प्रत्येक शब्दका परस्पर मिश्रण नहीं होता, उनकी भिन्नता बनी रहती है तभी तो एक ही कालमें भिन्न-भिन्न देशोंमें बोले हुए शब्दोंको भिन्न-भिन्न स्थानोंमें भिन्न-भिन्न मनुष्य रेडियोंद्वारा अलग-अलग सुन सकते हैं, इसमें कोई अड़चन नहीं आती । उन शब्दोंका विभुत्व और अमिश्रण दोनों रह सकते हैं, वैसे ही आत्माओंका भी विभुत्व उनके अमिश्रणमें बाधक नहीं है; क्योंकि आत्मतत्त्व तो शब्दकी अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है, उसके विभु होते हुए परस्पर मिश्रण न होनेमें तो कहना ही क्या है !'

सम्बन्ध—यहाँतक जीवात्मा परमात्माका अंश है तथा वह नित्य और विभु है, इस सिद्धान्तका श्रुति-स्मृतियोंके प्रमाणसे और युक्तियोंद्वारा भी भलीभाँति प्रतिपादन किया गया तथा अंशांशिभावके कारण अभेदप्रतिपादक श्रुतियोंकी भी सार्थकता सिद्ध की गयी । अब जो लोग जीवात्माका स्वरूप अन्य प्रकारसे मानते हैं, उनकी वह मान्यता ठीक नहीं है; इस बातको सिद्ध करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

आभासा एव च ॥ २ । ३ । ५० ॥

च=इसके सिवा; (अन्य प्रकारकी मान्यताके समर्थनमें दिये जानेवाले युक्ति-प्रमाण) **आभासाः**=आभासमात्र; **एव**=ही हैं ।

व्याख्या—जो लोग जीवात्माको उस परब्रह्मका अंश नहीं मानते, सब जीवोंको अलग-अलग स्वतन्त्र मानते हैं, उन्होंने अपनी मान्यताको सिद्ध करनेके लिये जो युक्ति-प्रमाण दिये हैं, वे सब-के-सब आभासमात्र हैं; अतः उनका कथन ठीक नहीं है । जीवात्माओंको परमात्माका अंश मानना ही युक्तिसङ्गत है; क्योंकि ऐसा माननेपर ही समस्त श्रुतियोंके वर्णनकी एकवाक्यता हो सकती है ।

सम्बन्ध—परब्रह्म परमेश्वरको श्रुतिमें अखण्ड और अवयवरहित बताया गया है, इसलिये उसका अंश नहीं हो सकता । फिर भी जो जीवोंको उस

परमात्माका अंश कहा जाता है, वह अंशांशिभाव वास्तविक नहीं है, घटाकाशकी भाँति उपाधिके निमित्तसे प्रतीत होता है, ऐसा माना जाय तो क्या आपत्ति है?

अदृष्टानियमात् ॥ २ । ३ । ५१ ॥

अदृष्टानियमात्=अदृष्ट अर्थात् जन्मान्तरमें किये हुए कर्मफलभोगकी कोई नियत व्यवस्था नहीं हो सकेगी; इसलिये (उपाधिके निमित्तसे जीवोंको परमात्माका अंश मानना युक्तिसंगत नहीं है)।

व्याख्या—जीवोंको परमात्माका अंश न मानकर अलग-अलग स्वतन्त्र माननेसे तथा घटाकाशकी भाँति उपाधिके निमित्तसे जीवगणको परमात्माका अंश माननेसे भी जीवोंके कर्मफल-भोगकी व्यवस्था नहीं हो सकेगी; क्योंकि यदि जीवोंको अलग-अलग स्वतन्त्र मानते हैं, तब उनके कर्म-फल-भोगकी व्यवस्था कौन करेगा। जीवात्मा स्वयं अपने कर्मोंका विभाग करके ऐसा नियम बना ले कि अमुक कर्मका अमुक फल मुझे अमुक प्रकारसे भोगना है, तो यह सम्भव नहीं है। कर्म जड हैं, अतः वे भी अपने फलका भोग करानेकी व्यवस्था स्वयं नहीं कर सकते। यदि ऐसा मानें कि एक ही परमात्मा घटाकाशकी भाँति अनादिसिद्ध शरीरादिकी उपाधियोंके निमित्तसे नाना जीवोंके रूपमें प्रतीत हो रहा है, तो भी उन जीवोंके कर्मफलभोगकी व्यवस्था नहीं हो सकती; क्योंकि इस मान्यताके अनुसार जीवात्मा और परमात्माका भेद वास्तविक न होनेके कारण समस्त जीवोंके कर्मोंका विभाग करना, उनके भोगनेवाले जीवोंका विभाग करना तथा परमात्माको उन सबसे अलग रहकर उनके कर्मफलोंका व्यवस्थापक मानना सम्भव न होगा। अतः श्रुतिके कथनानुसार यही मानना ठीक है कि सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वर ही सबके कर्मफलोंकी यथायोग्य व्यवस्था करता है। तथा सब जीव उसीसे प्रकट होते हैं, इसलिये पिता-पुत्रकी भाँति उसके अंश हैं।

सम्बन्ध—केवल कर्मफलभोगमें ही नहीं, सङ्कल्प आदिमें भी उसी दोषकी प्राप्ति दिखाते हैं—

अभिसन्ध्यादिष्वपि चैवम् ॥ २ । ३ । ५२ ॥

च=इसके सिवा; **एवम्**=इसी प्रकार; **अभिसन्ध्यादिषु**=सङ्कल्प आदिमें; **अपि**=भी (अव्यवस्था होगी)।

व्याख्या—ईश्वर तथा जीवोंका अंशांशिभाव वास्तविक नहीं, घटाकाशकी भाँति उपाधिके निमित्तसे प्रतीत होनेवाला है, यह माननेपर जिस प्रकार पूर्वसूत्रमें जीवोंके कर्मफल-भोगकी नियमित व्यवस्था न हो सकनेका दोष दिखाया गया है, उसी प्रकार उन जीवोंके सङ्कल्प और इच्छा आदिके विभागकी नियमित व्यवस्था होनेमें भी बाधा पड़ेगी; क्योंकि उन सबके सङ्कल्प आदि परस्पर अलग नहीं रह सकेंगे और परमात्माके सङ्कल्प आदिसे भी उनका भेद सिद्ध नहीं हो सकेगा। अतः शास्त्रमें जो परब्रह्म परमेश्वरके द्वारा ईक्षण (सङ्कल्प) पूर्वक जगत्की उत्पत्ति करनेका वर्णन है, उसकी भी सङ्गति नहीं बैठेगी।

प्रदेशादिति चेन्नान्तर्भावात् ॥ २ । ३ । ५३ ॥

चेत्=यदि कहो; **प्रदेशात्**=उपाधियोंमें देशभेद होनेसे (सब व्यवस्था हो जायगी); **इति न**=तो यह नहीं हो सकता; **अन्तर्भावात्**=क्योंकि सभी देशोंका उपाधिमें और उपाधियोंका उस परमेश्वरमें अन्तर्भाव है।

व्याख्या—यदि कहो, उपाधियोंमें देशका भेद होनेसे सब जीवोंका अलग-अलग विभाग हो जायगा और उसीसे कर्मफल-भोग एवं सङ्कल्प आदिकी भी व्यवस्था हो जायगी, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि सर्वव्यापी परब्रह्म परमेश्वर सभी उपाधियोंमें व्याप्त है। उपाधियोंके देशभेदसे परमात्माके देशमें भेद नहीं हो सकता। प्रत्येक उपाधिका सम्बन्ध सब देशोंसे हो सकता है। उपाधि एक जगहसे दूसरी जगह जाय तो उसके साथ विभुतत्त्व नहीं आता-जाता है। जब जिस देशमें उपाधि रहती है, उस समय वहाँका विभुतत्त्व उसमें आ जाता है। इस प्रकार समस्त विभुतत्त्वके प्रदेशका सब उपाधियोंमें अन्तर्भाव होगा। इसी तरह समस्त उपाधियोंका भी विभुतत्त्वमें अन्तर्भाव होगा। किसी प्रकारसे कोई विभाग सिद्ध नहीं हो सकेगा। इसलिये परब्रह्म परमेश्वर और जीवात्माओंका अंशांशिभाव घटाकाशकी भाँति उपाधिनिमित्तक नहीं माना जा सकता।

तीसरा पाद सम्पूर्ण।

चौथा पाद

इसके पूर्व तीसरे पादमें पाँच भूतों तथा अन्तःकरणकी उत्पत्तिका प्रतिपादन किया गया और गौणरूपसे जीवात्माकी उत्पत्ति भी बतायी गयी। साथ ही प्रसंगवश जीवात्माके स्वरूपका भी विवेचन किया गया। किन्तु वहाँ इन्द्रियों और प्राणकी उत्पत्तिका प्रतिपादन नहीं हुआ, इसलिये उनकी उत्पत्तिका विचारपूर्वक प्रतिपादन करनेके लिये तथा तद्विषयक श्रुतियोंमें प्रतीत होनेवाले विरोधका निराकरण करनेके लिये चौथा पाद आरम्भ किया जाता है।

श्रुतिमें कहीं तो प्राण और इन्द्रियोंकी उत्पत्ति स्पष्ट शब्दोंमें परमेश्वरसे बतायी है (मु० उ० २।१।३; प्र० उ० ६।४), कहीं अग्नि, जल और पृथिवीसे उनका उत्पन्न होना बताया गया है (छा० उ० ६।६।२ से ५) तथा कहीं आकाश आदिके क्रमसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन है, वहाँ इन प्राण और इन्द्रिय आदिका नामतक नहीं आया है (तै० उ० २।१) और कहीं तत्त्वोंकी उत्पत्तिके पहले ही इनका होना माना है (शतपथब्रा० ६।१।१।१) उससे इनकी उत्पत्तिका निषेध प्रतीत होता है। इसलिये श्रुतिवाक्योंमें प्रतीत होनेवाले विरोधका निराकरण करते हुए सूत्रकार कहते हैं—

तथा प्राणाः ॥ २ । ४ । १ ॥

तथा=उसी प्रकार; **प्राणाः**=प्राणशब्दवाच्य इन्द्रियाँ भी (परमेश्वरसे ही उत्पन्न होती हैं)।

व्याख्या—जिस प्रकार आकाशादि पाँचों तत्त्व तथा अन्य सब परब्रह्म परमेश्वरसे उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार समस्त इन्द्रियाँ भी उसी परमेश्वरसे उत्पन्न होती हैं; क्योंकि उन आकाश आदिकी और इन्द्रियोंकी उत्पत्तिमें किसी प्रकारका भेद नहीं है। श्रुति स्पष्ट कहती है कि 'इस परब्रह्म परमेश्वरसे ही प्राण, मन, समस्त इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, ज्योति, जल और सबको धारण करनेवाली पृथिवी उत्पन्न होती है।' *(मु० उ० २।१।३) इस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका श्रुतिमें वर्णन होनेसे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ भी उस परमेश्वरसे ही उत्पन्न होती हैं।

---

* यह मन्त्र पहले पृष्ठ १६९ में आ गया है।

सम्बन्ध—जहाँ पहले तेज, जल और पृथिवीकी उत्पत्ति बताते हुए जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है, वहाँ स्पष्ट कहा है कि 'वाणी तेजोमयी है अर्थात् वाक्-इन्द्रिय तेजसे उत्पन्न हुई है; इसलिये तेजसे ओतप्रोत है।' इससे तो पाँचों भूतोंसे ही इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका होना सिद्ध होता है, जैसा कि दूसरे मतवाले मानते हैं। इस परिस्थितिमें दोनों श्रुतियोंकी एकता कैसे होगी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

गौण्यसम्भवात् ॥ २ । ४ । २ ॥

असम्भवात्=सम्भव न होनेके कारण, वह श्रुति; **गौणी**=गौणी है अर्थात् उसका कथन गौणरूपसे है।

व्याख्या—उस श्रुतिमें कहा गया है कि 'भक्षण किये हुए तेजका जो सूक्ष्म अंश है, वह एकत्र होकर वाणी बनता है।' (छा० उ० ६ । ६ । ४) इससे यह सिद्ध होता है कि तैजस पदार्थका सूक्ष्म अंश वाणीको बलवान् बनाता है; क्योंकि श्रुतिने खाये हुए तैजस पदार्थोंके सूक्ष्मांशका ही ऐसा परिणाम बताया है, इसलिये जिसके द्वारा यह खाया जाय, उस इन्द्रियका उस तैजस तत्त्वसे पहले ही उत्पन्न होना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार वहाँ खाये हुए अन्नसे मनकी और पीये हुए जलसे प्राणोंकी उत्पत्ति बतायी गयी है। परन्तु प्राणोंके बिना जलका पीना ही सिद्ध नहीं होगा। फिर उससे प्राणोंकी उत्पत्ति कैसे सिद्ध होगी? अतः जैसे प्राणोंका उपकारी होनेसे जलको गौणरूपसे प्राणोंकी उत्पत्तिका हेतु कहा गया है, वैसे ही वाक्-इन्द्रियका उपकारी होनेसे तैजस पदार्थोंको वाक्-इन्द्रियकी उत्पत्तिका हेतु गौणरूपसे ही कहा गया है। इसलिये वह श्रुति गौणी है, अर्थात् उसके द्वारा तेज आदि तत्त्वोंसे वाक् आदि इन्द्रियकी उत्पत्तिका कथन गौण है; यही मानना ठीक है और ऐसा मान लेनेपर श्रुतियोंके वर्णनमें कोई विरोध नहीं रह जाता है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उस श्रुतिका गौणत्व सिद्ध करते हैं—

तत्प्राक्छ्रुतेश्च ॥ २ । ४ । ३ ॥

तत्प्राक्छ्रुतेः=श्रुतिके द्वारा उन आकाशादि तत्त्वोंके पहले इन्द्रियोंकी उत्पत्ति कही गयी है, इसलिये; **च**=भी (तेज आदिसे वाक् आदि इन्द्रियकी उत्पत्ति कहनेवाली श्रुति गौण है)।

व्याख्या—शतपथ-ब्राह्मणमें ऋषियोंके नामसे इन्द्रियोंका पाँच तत्त्वोंकी उत्पत्तिसे पहले होना कहा गया है (६ । १ । १ । १) तथा मुण्डकोपनिषद्में भी इन्द्रियोंकी उत्पत्ति पाँच भूतोंसे पहले बतायी गयी है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आकाशादि तत्त्वोंसे इन्द्रियोंकी उत्पत्ति नहीं हुई है, अतः तेज आदि तत्त्वोंसे वाक् आदिकी उत्पत्ति सूचित करनेवाली वह श्रुति गौण है।

सम्बन्ध—अब दूसरी युक्ति देकर उक्त बातकी ही पुष्टि करते हैं—

तत्पूर्वकत्वाद्वाचः ॥ २ । ४ । ४ ॥

वाचः=वाणीकी उत्पत्तिका वर्णन; **तत्पूर्वकत्वात्**=तीनों तत्त्वोंमें उस ब्रह्मके प्रविष्ट होनेके बाद है (इसलिये तेजसे उसकी उत्पत्ति सूचित करनेवाली श्रुति गौण है)।

व्याख्या—उस प्रकरणमें यह कहा गया है कि 'उन तीन तत्त्वरूप देवताओंमें जीवात्माके सहित प्रविष्ट होकर उस ब्रह्मने नामरूपात्मक जगत्की रचना की।' (छा० उ० ६ । ३ । ३) इस प्रकार वहाँ जगत्की उत्पत्ति ब्रह्मके प्रवेशपूर्वक बतायी गयी है; इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि समस्त इन्द्रियोंकी उत्पत्ति ब्रह्मसे ही हुई है, तेज आदि तत्त्वोंसे नहीं। अतः तेज-तत्त्वसे वाणीकी उत्पत्ति सूचित करनेवाली श्रुतिका कथन गौण है।

सम्बन्ध—इस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति भी उस ब्रह्मसे ही होती है और वह पाँच तत्त्वोंसे पहले ही हो जाती है; यह सिद्ध किया गया। अब जो श्रुतियोंमें कहीं तो प्राणोंके नामसे सात इन्द्रियोंकी उत्पत्तिका वर्णन किया गया है (मु० उ० २ । १ । ८) तथा कहीं मनसहित ग्यारह इन्द्रियोंका वर्णन है (बृह० उ० ३ । ९ । ४) इनमेंसे कौन-सा वर्णन ठीक है, इसका निर्णय करनेके लिये पूर्वपक्षकी उत्थापना करते हुए प्रकरण आरम्भ करते हैं—

सप्त गतेर्विशेषितत्वाच्च ॥ २ । ४ । ५ ॥

सप्त=इन्द्रियाँ सात हैं; **गतेः**=क्योंकि सात ही ज्ञात होती हैं; **च**=तथा; **विशेषितत्वात्**='सप्त प्राणाः' कहकर श्रुतिने 'सप्त' पदका प्राणों (इन्द्रियों) के विशेषणरूपसे प्रयोग किया है।

व्याख्या—पूर्वपक्षीका कथन है कि मुख्यतः सात इन्द्रियाँ ही ज्ञात होती हैं और श्रुतिने 'जिनमें सात प्राण अर्थात् आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, वाक् और मन—ये सात इन्द्रियाँ विचरती हैं, वे लोक सात हैं।' (मु० उ० २ । १ । ८)।

ऐसा कहकर इन्द्रियोंका 'सात' यह विशेषण दिया है। इससे यही सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ सात ही हैं।

सम्बन्ध—अब सिद्धान्तीकी ओरसे उत्तर दिया जाता है—

हस्तादयस्तु स्थितेऽतो नैवम् ॥ २ । ४ । ६ ॥

तु=किन्तु; **हस्तादयः**=हाथ आदि अन्य इन्द्रियाँ भी हैं; **अतः**=इसलिये; **स्थिते**=इस स्थितिमें; **एवम्**=ऐसा; **न**=नहीं (कहना चाहिये कि इन्द्रियाँ सात ही हैं)।

व्याख्या—हाथ आदि (हाथ, पैर, उपस्थ और गुदा) अन्य चार इन्द्रियों-का वर्णन भी पूर्वोक्त सात इन्द्रियोंके साथ-साथ दूसरी श्रुतियोंमें स्पष्ट आता है (प्र० उ० ४ । ८) तथा प्रत्येक मनुष्यके कार्यमें करणरूपसे हस्त आदि चारों इन्द्रियोंका प्रयोग प्रत्यक्ष उपलब्ध है; इसलिये यह नहीं कहा जा सकता कि इन्द्रियाँ सात ही हैं। अतः जहाँ किसी अन्य उद्देश्यसे केवल सातोंका वर्णन हो, वहाँ भी इन चारोंको अधिक समझ लेना चाहिये। गीतामें भी मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ बतायी गयी हैं (गीता १३ । ५) तथा बृहदारण्यक-श्रुतिमें भी दस इन्द्रिय और एक मन—इन ग्यारहका वर्णन स्पष्ट शब्दोंमें किया गया है (३ । ९ । ४)। अतः इन्द्रियाँ सात नहीं ग्यारह हैं, यह मानना चाहिये।

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रसङ्गवश प्राप्त हुई शङ्काका निराकरण करते हुए मन-सहित इन्द्रियोंकी संख्या ग्यारह सिद्ध करके पुनः तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन करते हैं—

अणवश्च ॥ २ । ४ । ७ ॥

च=तथा; **अणवः**=सूक्ष्मभूत यानी तन्मात्राएँ भी उस परमेश्वरसे ही उत्पन्न होती हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार इन्द्रियोंकी उत्पत्ति परमेश्वरसे होती है, उसी प्रकार पाँच महाभूतोंका जो सूक्ष्मरूप है, जिसको दूसरे दर्शनकारोंने परमाणु-के नामसे कहा है तथा उपनिषदोंमें मात्राके नामसे जिनका वर्णन है (प्र० उ० ४ । ८) वे भी परमेश्वरसे ही उत्पन्न होते हैं; क्योंकि वहाँ उनकी स्थिति उस परमेश्वरके आश्रित ही बतायी गयी है। कुछ महानुभावोंका कहना है कि यह सूत्र इन्द्रियोंका अणु-परिमाण सिद्ध करनेके लिये कहा गया है, किन्तु प्रसङ्गसे यह ठीक मालूम नहीं होता। त्वक्-इन्द्रियको अणु नहीं कहा जा सकता; क्योंकि वह शरीरके किसी एक देशमें सूक्ष्मरूपसे स्थित न होकर समस्त

शरीरको आच्छादित किये हुए रहती है, इस बातका सबको प्रत्यक्ष अनुभव है। अतः विद्वान् पुरुषोंको इसपर विचार करना चाहिये। इन्द्रियोंको अणु बतानेवाले व्याख्याकारोंने इस विषयमें श्रुतियों तथा स्मृतियोंका कोई प्रमाण भी उद्धृत नहीं किया है।

श्रेष्ठश्च ॥ २ । ४ । ८ ॥

श्रेष्ठः=मुख्य प्राण; **च**=भी (उस परमात्मासे ही उत्पन्न होता है)।

व्याख्या—जिसे प्राण नामसे कही जानेवाली इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है, (प्र० उ० २ । ३, ४; छा० उ० ५ । १ । ७) जिसका प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान—इन पाँच नामोंसे वर्णन किया जाता है, वह मुख्य प्राण भी इन्द्रिय आदिकी भाँति उस परमेश्वरसे ही उत्पन्न होता है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है (मु० उ० २ । १ । ३)।

सम्बन्ध—अब प्राणके स्वरूपका निर्धारण करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

न वायुक्रिये पृथगुपदेशात् ॥ २ । ४ । ९ ॥

वायुक्रिये=(श्रुतिमें वर्णित मुख्य प्राण) वायु-तत्त्व और उसकी क्रिया; **न**=नहीं है (क्योंकि); **पृथगुपदेशात्**=उन दोनोंसे अलग इसका वर्णन है।

व्याख्या—श्रुतिमें जहाँ प्राणकी उत्पत्तिका वर्णन आया है (मु० उ० २ । १ । ३) वहाँ वायुकी उत्पत्तिका वर्णन अलग है। इसलिये श्रुतिमें वर्णित मुख्य प्राण न तो वायुतत्त्व है और न वायुकी क्रियाका ही नाम मुख्य प्राण है, वह इन दोनोंसे भिन्न पदार्थ है, यही सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि प्राण यदि वायुतत्त्व नहीं है, तो क्या जीवात्माकी भाँति स्वतन्त्र पदार्थ है, इसपर कहते हैं—

चक्षुरादिवत्तु तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः ॥ २ । ४ । १० ॥

तु=किन्तु (प्राण भी); **चक्षुरादिवत्**=चक्षु आदि इन्द्रियोंकी भाँति (जीवात्माका करण है); **तत्सहशिष्ट्यादिभ्यः**=क्योंकि उन्हींके साथ प्राण और इन्द्रियोंके संवादमें इसका वर्णन किया गया है तथा उनकी भाँति यह जड भी है ही।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्में मुख्य प्राणकी श्रेष्ठता सूचित करनेवाली एक कथा आती है, जो इस प्रकार है—एक समय सब इन्द्रियाँ परस्पर विवाद करती

हुई कहने लगीं—'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ।' अन्तमें वे अपना न्याय करानेके लिये प्रजापतिके पास गयीं। वहाँ उन सबने उनसे पूछा—'भगवन्! हममें सर्वश्रेष्ठ कौन है?' प्रजापतिने कहा—'तुममेंसे जिसके निकलनेसे शरीर मुर्दा हो जाय, वही श्रेष्ठ है।' यह सुनकर वाणी शरीरसे बाहर निकली, फिर चक्षु, उसके बाद श्रोत्र। इस प्रकार एक-एक इन्द्रियके निकलनेपर भी शरीरका काम चलता रहा; अन्तमें जब मुख्य प्राणने शरीरसे बाहर निकलनेकी तैयारी की, तब प्राणशब्दवाच्य मनसहित सब इन्द्रियोंको अपने-अपने स्थानसे विचलित कर दिया। यह देख वे सब इन्द्रियाँ घबरायीं और मुख्य प्राणसे कहने लगीं 'तुम्हीं हम सबमें श्रेष्ठ हो, तुम बाहर मत जाओ।' (छा० उ० ५।१।६ से १२)। इस वर्णनमें जीवात्माके मन और चक्षु आदि अन्य करणोंके साथ-साथ प्राणका वर्णन आया है, इससे यह सिद्ध होता है कि जिस प्रकार वे स्वतन्त्र नहीं हैं, जीवात्माके अधीन हैं, उसी प्रकार मुख्य प्राण भी उसके अधीन है। इसीलिये इन्द्रियनिग्रह-की भाँति शास्त्रोंमें प्राणको निग्रह करनेका भी उपदेश है। तथा 'आदि' शब्दसे यह भी सूचित किया गया है कि इन्द्रियादिकी भाँति यह जड भी है, अतः जीवात्माकी भाँति स्वतन्त्र नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—"यदि चक्षु आदि इन्द्रियोंकी भाँति प्राण भी किसी विषयके अनुभवका द्वार अथवा किसी कार्यकी सिद्धिमें सहायक होता तब तो इसको भी 'करण' कहना ठीक था; परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। शास्त्रमें भी मन तथा दस इन्द्रियोंको ही प्रत्येक कार्यमें करण बताया गया है; प्राणको नहीं। यदि प्राणको 'करण' माना जाय तो उसके लिये भी किसी ग्राह्य विषयकी कल्पना करनी पड़ेगी।" इस शङ्काका निवारण करनेके लिये कहते हैं—

अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति ॥ २ । ४ । ११ ॥

च=निश्चय ही; **अकरणत्वात्**=(इन्द्रियोंकी भाँति) विषयोंके उपभोगमें करण न होनेके कारण; **दोषः**=उक्त दोष; **न**=नहीं है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=इसका करण होना कैसा है, यह बात; **दर्शयति**=श्रुति स्वयं दिखाती है।

व्याख्या—जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियाँ रूप आदि विषयोंका ज्ञान करानेमें करण हैं, इस प्रकार विषयोंके उपभोगमें करण न होनेपर भी उसको जीवात्माके लिये करण माननेमें कोई दोष नहीं है; क्योंकि उन सब इन्द्रियोंको प्राण ही

धारण करता है, इस शरीर और इन्द्रियोंका पोषण भी प्राण ही करता है, प्राणके संयोगसे ही जीवात्मा एक शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है। इस प्रकार श्रुतिमें इसके करणभावको दिखाया गया है। (छा० उ० ५। १। ६ से प्रकरणकी समाप्तितक) इस प्रकरणके सिवाय और भी जहाँ-जहाँ मुख्य प्राणका प्रकरण आया है, सभी जगह ऐसी ही बात कही गयी है (प्र० उ० ३। १०)।

सम्बन्ध—इतना ही नहीं, अपि तु—

पञ्चवृत्तिर्मनोवद् व्यपदिश्यते ॥ २ । ४ । १२ ॥

मनोवत्=(श्रुतिके द्वारा यह) मनकी भाँति; **पञ्चवृत्तिः**=पाँच वृत्तियों-वाला; **व्यपदिश्यते**=बताया जाता है।

व्याख्या—जिस प्रकार श्रोत्र आदि ज्ञानेन्द्रियोंके रूपमें मनकी पाँच वृत्तियाँ मानी गयी हैं, उसी प्रकार श्रुतिने इस मुख्य प्राणको भी पाँच वृत्तिवाला बताया है (बृह० उ० १। ५। ३)। प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान—ये ही उसकी पाँच वृत्तियाँ हैं, इनके द्वारा यह अनेक प्रकारसे जीवात्माके उपयोगमें आता है। श्रुतियोंमें इसकी वृत्तियोंका भिन्न-भिन्न कार्य विस्तारपूर्वक बताया गया है (प्र० उ० ३। ४ से ७)। इसलिये भी प्राणको जीवात्माका उपकरण मानना उचित ही है।

सम्बन्ध—मुख्य प्राणके लक्षणोंका प्रतिपादन करनेके लिये नवें सूत्रसे प्रकरण आरम्भ करके बारहवें सूत्रतक यह सिद्ध किया गया है कि 'प्राण' जीवात्मा तथा वायुतत्त्वसे भी भिन्न है। मन और इन्द्रियोंको धारण करनेके कारण यह भी जीवात्माका करण है। शरीरमें यह पाँच प्रकारसे विचरता हुआ शरीरको धारण करता है और उसमें क्रियाशक्तिका संचार करता है। अब अगले सूत्रमें इसके स्वरूपका प्रतिपादन करके इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—

अणुश्च ॥ २ । ४ । १३ ॥

अणुः=यह सूक्ष्म; **च**=भी है।

व्याख्या—यह प्राणतत्त्व अपनी पाँच वृत्तियोंके द्वारा स्थूलरूपमें उपलब्ध होता है; इसके सिवा, यह अणु अर्थात् सूक्ष्म भी है। यहाँ 'अणु' कहनेसे यह

भाव नहीं समझना चाहिये कि यह छोटे आकारवाला है; इसकी सूक्ष्मताको लक्षित करानेके लिये इसे अणु कहा गया है। सूक्ष्म होनेके साथ ही यह परिच्छिन्न तत्त्व है। सूक्ष्मताके कारण व्यापक होनेपर भी सीमित है।

सम्बन्ध—छान्दोग्य-श्रुतिमें जहाँ तेज प्रभृति तीन तत्त्वोंसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है, वहाँ उन तीनोंका अधिष्ठाता देवता किसको बताया गया है, यह निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात् ॥ २ । ४ । १४ ॥

ज्योतिराद्यधिष्ठानम्=ज्योति आदि तत्त्व जिसके अधिष्ठान बताये गये हैं, वह; **तु**=तो ब्रह्म ही है; **तदामननात्**=क्योंकि दूसरी जगह भी श्रुतिके द्वारा उसीको अधिष्ठाता बताया गया है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि उस जगत्कर्ता परमदेवने विचार किया कि 'मैं बहुत होऊँ, तब उसने तेजकी रचना की, फिर तेजने विचार किया।' इत्यादि (छा० उ० ६ । २ । ३-४)। इस वर्णनमें जो तेज आदि तत्त्वमें विचार करनेवाला उनका अधिष्ठाता बताया गया है, वह परमात्मा ही है; क्योंकि तैत्तिरीयोपनिषद्में कहा है कि 'इस जगत्की रचना करके उसने उसमें साथ-साथ प्रवेश किया।' (तै० उ० २ । ६)। इसलिये यही सिद्ध होता है कि परमेश्वरने ही उन तत्त्वोंमें अधिष्ठातारूपसे प्रविष्ट होकर विचार किया, स्वतन्त्र जड तत्त्वोंने नहीं।

सम्बन्ध—अब यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि वह परब्रह्म परमेश्वर ही उन आकाशादि तत्त्वोंका अधिष्ठाता है, तब तो प्रत्येक शरीरका अधिष्ठाता भी वही होगा। जीवात्माको शरीरका अधिष्ठाता मानना भी उचित नहीं होगा, इसपर कहते हैं—

प्राणवता शब्दात् ॥ २ । ४ । १५ ॥

प्राणवता=(ब्रह्मने) प्राणधारी जीवात्माके सहित (प्रवेश किया); **शब्दात्**=ऐसा श्रुतिका कथन होनेसे यह दोष नहीं है।

व्याख्या—श्रुतिमें यह भी वर्णन आया है कि 'इन तीनों तत्त्वोंको उत्पन्न करनेके बाद उस परमदेवने विचार किया, 'अब मैं इस जीवात्माके सहित इन तीनों देवताओंमें प्रविष्ट होकर नाना नाम-रूपोंको प्रकट करूँ।' (छा० उ०

६।३।२) इस कथनसे यह सिद्ध होता है कि जीवात्माके सहित परमात्माने उन तत्त्वोंमें प्रविष्ट होकर जगत्का विस्तार किया। इसी प्रकार ऐतरेयोपनिषद्के पहले अध्यायमें जगत्की उत्पत्तिका वर्णन करते हुए यह बताया गया है कि जीवात्माको सहयोग देनेके लिये जगत्कर्ता परमेश्वरने सजीव शरीरमें प्रवेश किया। तथा मुण्डक और श्वेताश्वतरमें ईश्वर और जीवको दो पक्षियोंकी भाँति एक ही शरीररूप वृक्षपर स्थित बताया गया है। इसी प्रकार कठोपनिषद्में भी परमात्मा और जीवात्माको हृदयरूप गुहामें स्थित कहा गया है। इन सब वर्णनोंसे जीवात्मा और परमेश्वर—इन दोनोंका प्रत्येक शरीरमें साथ-साथ रहना सिद्ध होता है। इसलिये जीवात्माको शरीरका अधिष्ठाता माननेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—श्रुतिमें तत्त्वोंकी उत्पत्तिके पहले या पीछे भी जीवात्माकी उत्पत्तिका वर्णन नहीं आया, फिर उस परमेश्वरने सहसा यह विचार कैसे कर लिया कि 'इस जीवात्माके सहित मैं इन तत्त्वोंमें प्रवेश करूँ?' ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

तस्य च नित्यत्वात् ॥ २ । ४ । १६ ॥

तस्य=उस जीवात्माकी; **नित्यत्वात्**=नित्यता प्रसिद्ध होनेके कारण; **च**=भी (उसकी उत्पत्तिका वर्णन न करना उचित ही है)।

व्याख्या—जीवात्माको नित्य माना गया है। सृष्टिके समय शरीरोंकी उत्पत्तिके साथ-साथ गौणरूपसे ही उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है, वास्तवमें उसकी उत्पत्ति नहीं मानी गयी है। इसलिये पञ्चभूतोंकी उत्पत्तिके पहले या बाद उसकी उत्पत्ति न बतलाकर जो जीवात्माके सहित परमेश्वरका शरीरमें प्रविष्ट होना कहा गया है, वह उचित ही है। उसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—श्रुतिमें प्राणके नामसे इन्द्रियोंका वर्णन आया है, इससे यह जान पड़ता है कि इन्द्रियाँ मुख्य प्राणके ही कार्य हैं, उसीकी वृत्तियाँ हैं, भिन्न तत्त्व नहीं है। अथवा यह अनुमान होता है कि चक्षु आदिकी भाँति मुख्य प्राण भी एक इन्द्रिय है, उन्हींकी जातिका पदार्थ है। ऐसी दशामें वास्तविक बात क्या है? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥ २ । ४ । १७ ॥

ते=वे मन आदि ग्यारह प्राण; **इन्द्रियाणि**=इन्द्रिय कहे गये हैं (तथा);

श्रेष्ठात्=मुख्य प्राणसे भिन्न हैं; **अन्यत्र**=क्योंकि दूसरी श्रुतियोंमें; **तद्व्यपदेशात्**=उसका भिन्नतासे वर्णन है।

व्याख्या—दूसरी श्रुतियोंमें मुख्य प्राणकी गणना इन्द्रियोंसे अलग की गयी है तथा इन्द्रियोंको प्राणोंके नामसे नहीं कहा गया है (मु० उ० २ । १ । ३) इसलिये पूर्वोक्त चक्षु आदि दसों इन्द्रियाँ और मन मुख्य प्राणसे सर्वथा भिन्न पदार्थ हैं। न तो वे मुख्य प्राणके कार्य हैं, न मुख्य प्राण उनकी भाँति इन्द्रियोंकी गणनामें है। इन सबकी शरीरमें स्थिति मुख्य प्राणके अधीन है, इसलिये गौणरूपसे श्रुतिमें इन्द्रियोंको प्राणके नामसे कहा गया है।

सम्बन्ध—इन्द्रियोंसे मुख्य प्राणकी भिन्नता सिद्ध करनेके लिये दूसरा हेतु प्रस्तुत करते हैं—

भेदश्रुतेः ॥ २ । ४ । १८ ॥

भेदश्रुतेः=इन्द्रियोंसे मुख्य प्राणका भेद सुना गया है, इसलिये (भी मुख्य प्राण उनसे भिन्न तत्त्व सिद्ध होता है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जहाँ इन्द्रियोंका प्राणके नामसे वर्णन आया है, वहाँ भी उनका मुख्य प्राणसे भेद कर दिया गया है (मु० उ० २ । १ । ३ तथा बृह० उ० १ । ३ । ३) तथा प्रश्नोपनिषद्में भी मुख्य प्राणकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करनेके लिये अन्य सब तत्त्वोंसे और इन्द्रियोंसे मुख्य प्राणको अलग बताया है (प्र० उ० २ । २, ३)। इस प्रकार श्रुतियोंमें मुख्य प्राणका इन्द्रियोंसे भेद बताया जानेके कारण यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण इन सबसे भिन्न है।

सम्बन्ध—इसके सिवा—

वैलक्षण्याच्च ॥ २ । ४ । १९ ॥

वैलक्षण्यात्=परस्पर विलक्षणता होनेके कारण; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राणसे इन्द्रियाँ भिन्न पदार्थ हैं)।

व्याख्या—सब इन्द्रियाँ और अन्तःकरण सुषुप्तिके समय विलीन हो जाते हैं, उस समय भी मुख्य प्राण जागता रहता है, उसपर निद्राका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यही इन सबकी अपेक्षा मुख्य प्राणकी विलक्षणता है; इस कारण भी यही सिद्ध होता है कि मुख्य प्राणसे इन्द्रियाँ भिन्न हैं। न तो इन्द्रियाँ प्राणका

कार्य या वृत्तियाँ है और न मुख्य प्राण ही इन्द्रिय है, इन्द्रियोंको गौणरूपसे ही 'प्राण' नाम दिया गया है ।

सम्बन्ध—तेज आदि तत्त्वोंकी रचना करके परमात्माने जीवसहित उनमें प्रवेश करनेके पश्चात् नाम-रूपात्मक जगत्का विस्तार किया——यह श्रुतिमें वर्णन आया है । इस प्रसङ्गमें यह सन्देह होता है कि नाम-रूपादिकी रचना करनेवाला कोई जीवविशेष है या परमात्मा ही । अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं——

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात् ॥ २ । ४ । २० ॥

संज्ञामूर्तिक्लृप्तिः=नाम-रूपकी रचना; **तु**=भी; **त्रिवृत्कुर्वतः**=तीनों तत्त्वोंका मिश्रण करनेवाले परमेश्वरका (ही कर्म है); **उपदेशात्**=क्योंकि वहाँ श्रुतिके वर्णनसे यही बात सिद्ध होती है ।

व्याख्या—इस समस्त नाम-रूपात्मक जगत्की रचना करना जीवात्माका काम नहीं है । वहाँ जो जीवात्माके सहित परमात्माके प्रविष्ट होनेकी बात कही गयी है, उसका अभिप्राय जीवात्माके कर्तापनमें परमात्माके कर्तृत्वकी प्रधानता बताना है, उसे सृष्टिकर्ता बताना नहीं; क्योंकि जीवात्माके कर्म-संस्कारोंके अनुसार उसको कर्म करनेकी शक्ति आदि और प्रेरणा देनेवाला वही है । अतएव वहाँके वर्णनसे यही सिद्ध होता है कि नाम-रूपसे व्यक्त की जानेवाली इस जडचेतनात्मक जगत्की रचनारूप क्रिया उस परब्रह्म परमेश्वरकी ही है, जिसने उन तत्त्वोंको उत्पन्न करके उनका मिश्रण किया है; अन्य किसीकी नहीं ।

सम्बन्ध—उस परमात्माने तीनोंका मिश्रण करके उनसे यदि जगत्की उत्पत्ति की तो किस तत्त्वसे कौन पदार्थ उत्पन्न हुआ ? इसका विभाग किस प्रकार उपलब्ध होगा, इसपर कहते हैं——

मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च ॥ २ । ४ । २१ ॥

(जिस प्रकार) **मांसादि**=मांस आदि; **भौमम्**=पृथिवीके कार्य बताये गये हैं, (वैसे ही); **यथाशब्दम्**=वहाँ श्रुतिके शब्दद्वारा बताये अनुसार; **इतरयोः**= दूसरे दोनों तत्त्वोंका कार्य; **च**=भी समझ लेना चाहिये ।

व्याख्या—भूमि यानी पृथिवीके कार्यको भौम कहते हैं । उस प्रकरणमें जिस

प्रकार भूमिरूप अन्नके कार्य मांस, विष्ठा और मन—ये तीनों बताये गये हैं, उसी प्रकार उस प्रकरणके शब्दोंमें जिस-जिस तत्त्वके जो-जो कार्य बताये गये हैं, उसके वे ही कार्य हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये । वहाँ श्रुतिने जलका कार्य मूत्र, रक्त और प्राणको तथा तेजका कार्य हड्डी, मज्जा और वाणीको बताया है। अतः इन्हें ही उनका कार्य समझना चाहिये ।

सम्बन्ध—जब तीनों तत्त्वोंका मिश्रण करके सबकी रचना की गयी, तब खाये हुए किसी एक तत्त्वसे अमुक वस्तु हुई—इत्यादि रूपसे वर्णन करना कैसे संगत हो सकता है ? इसपर कहते हैं—

वैशेष्यात्तु तद्वादस्तद्वादः ॥ २ । ४ । २२ ॥

तद्वादः=वह कथन; **तद्वादः**=वह कथन; **तु**=तो; **वैशेष्यात्**=अधिकताके नातेसे है ।

व्याख्या—तीनोंके मिश्रणमें भी एककी अधिकता और दूसरोंकी न्यूनता रहती है, अतः जिसकी अधिकता रहती है उस अधिकताको लेकर व्यवहारमें मिश्रित तत्त्वोंका अलग-अलग नामसे कथन किया जाता है; इसलिये कोई विरोध नहीं है । यहाँ 'तद्वादः' पदका दो बार प्रयोग अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

इस प्रकरणमें जो मनको अन्नका कार्य और अन्नमय कहा गया है, प्राणोंको जलका कार्य और जलमय कहा गया है तथा वाणीको तेजका कार्य और तेजोमयी कहा गया है, वह भी उन-उन तत्त्वोंके सम्बन्धसे उनका उपकार होता हुआ देखा जानेके कारण गौणरूपसे ही कहा हुआ मानना चाहिये । वास्तवमें मन, प्राण और वाणी आदि इन्द्रियाँ भूतोंका कार्य नहीं हैं; भूतोंसे भिन्न पदार्थ हैं, यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है । (ब्र० सू० २ । ४ । २)

चौथा पाद सम्पूर्ण ।

श्रीवेदव्यासरचित वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) का
दूसरा अध्याय पूरा हुआ ।

श्रीपरमात्मने नमः

तीसरा अध्याय

पहला पाद

पूर्व दो अध्यायोंमें ब्रह्म और जीवात्माके स्वरूपका प्रतिपादन किया गया, अब उस परब्रह्म परमेश्वरकी प्राप्तिका उपाय बतानेके लिये तीसरा अध्याय आरम्भ किया जाता है। इसीलिये इस अध्यायको साधनाध्याय अथवा उपासनाध्याय कहते हैं। परमात्माकी प्राप्तिके साधनोंमें सबसे पहले वैराग्यकी आवश्यकता है। संसारके अनित्य भोगोंमें वैराग्य होनेसे ही मनुष्यमें परमात्माको प्राप्त करनेकी शुभेच्छा प्रकट होती है और वह उसके लिये प्रयत्नशील होता है। अतः वैराग्योत्पादनके लिये बार-बार जन्म-मृत्यु और गर्भादिके दुःखोंका प्रदर्शन करनेके लिये पहला पाद आरम्भ किया जाता है।

प्रलयके बाद सृष्टिकालमें उस परब्रह्म परमेश्वरसे जिस प्रकार इस जगत्की उत्पत्ति होती है, उसका वर्णन तो पहलेके दो अध्यायोंमें किया गया। उसके बाद वर्तमान जगत्में जो जीवात्माके शरीरोंका परिवर्तन होता रहता है, उसके विषयमें श्रुतियोंने जैसा वर्णन किया है, उसपर इस तीसरे अध्यायके प्रथम पादमें विचार किया जाता है। विचारका विषय यह है कि जब यह जीवात्मा पहले शरीरको छोड़कर दूसरे शरीरमें जाता है, तब अकेला ही जाता है या और भी कोई इसके साथ जाता है। इसका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—

तदन्तरप्रतिपत्तौ रंहति संपरिष्वक्तः प्रश्ननिरूपणाभ्याम् ॥ ३ । १ । १ ॥

तदन्तरप्रतिपत्तौ=उक्त देहके बाद देहान्तरकी प्राप्तिके समय (यह जीवात्मा); **संपरिष्वक्तः**=शरीरके बीजरूप सूक्ष्म तत्त्वोंसे युक्त हुआ; **रंहति**=जाता है (यह बात); **प्रश्ननिरूपणाभ्याम्**=प्रश्न और उसके उत्तरसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतियोंमें यह विषय कई जगह आया है, उनमेंसे जिस स्थलका

वर्णन स्पष्ट है, वह तो अपने-आप समझमें आ जाता है; परन्तु जहाँका वर्णन कुछ अस्पष्ट है, उसे स्पष्ट करनेके लिये यहाँ छान्दोग्योपनिषद्के प्रकरणपर विचार किया जाता है । वहाँ यह वर्णन है कि श्वेतकेतु नामसे प्रसिद्ध एक ऋषिकुमार था, वह एक समय पाञ्चालोंकी सभामें गया । वहाँ प्रवाहण नामक राजाने उससे पूछा—'क्या तुम अपने पितासे शिक्षा पा चुके हो ?' उसने कहा—'हाँ ।' तब प्रवाहणने पूछा—'यहाँसे मरकर यह जीवात्मा कहाँ जाता है ? वहाँसे फिर कैसे लौटकर आता है ? देवयान और पितृयान-मार्गका क्या अन्तर है ? यहाँसे गये हुए लोगोंसे वहाँका लोक भर क्यों नहीं जाता ?—इन सब बातोंको और जिस प्रकार पाँचवीं आहुतिमें यह जल पुरुषरूप हो जाता है, इस बातको तू जानता है या नहीं ?' तब प्रत्येक बातके उत्तरमें श्वेतकेतुने यही कहा—'मैं नहीं जानता ।' यह सुनकर प्रवाहणने उसे फटकारा और कहा—'जब तुम इन सब बातोंको नहीं जानते, तब कैसे कहते हो कि मैं शिक्षा पा चुका ?' श्वेतकेतु लज्जित होकर पिताके पास गया और बोला कि 'प्रवाहण नामवाले एक साधारण क्षत्रियने मुझसे पाँच बातें पूछीं, किन्तु उनमेंसे एकका भी उत्तर मैं न दे सका । आपने मुझे कैसे कह दिया था कि मैं तुमको शिक्षा दे चुका हूँ ।' पिताने कहा—'मैं स्वयं इन पाँचोंमेंसे किसीको नहीं जानता, तब तुमको कैसे बताता ।' उसके बाद अपने पुत्रके सहित पिता उस राजाके पास गया और धनादिके दानको स्वीकार न करके कहा—'आपने मेरे पुत्रसे जो पाँच बातें पूछी थीं, उन्हें ही मुझे बतलाइये ।' तब उस राजाने बहुत दिनोंतक उन दोनोंको अपने पास ठहराया और कहा कि 'आजतक यह विद्या क्षत्रियोंके पास ही रही है, अब पहले-पहल आप ब्राह्मणोंको मिल रही है ।' यह कहकर राजा प्रवाहणने पहले उस पाँचवें प्रश्नका उत्तर देना आरम्भ किया, जिसमें यह जिज्ञासा की गयी थी कि 'यह जल पाँचवीं आहुतिमें पुरुषरूप कैसे हो जाता है ?' वहाँ द्युलोकरूप अग्निमें श्रद्धाकी पहली आहुति देनेसे राजा सोमकी उत्पत्ति बतायी है । दूसरी आहुति है मेघरूप अग्निमें राजा सोमको हवन करना; उससे वर्षाकी उत्पत्ति बतायी गयी है । तीसरी आहुति है पृथ्वीरूप अग्निमें वर्षाको हवन करना; उससे अन्नकी उत्पत्ति बतायी गयी है । चौथी आहुति है पुरुषरूप अग्निमें अन्नका हवन करना; उससे वीर्यकी उत्पत्ति बतायी गयी है और पाँचवीं आहुति है स्त्रीरूप अग्निमें वीर्यका हवन करना; उससे

गर्भकी उत्पत्ति बताकर कहा है कि इस तरह यह जल पाँचवीं आहुतिमें 'पुरुष' संज्ञक होता है। इस प्रकार जन्म ग्रहण करनेवाला मनुष्य जबतक आयु होती है, तबतक यहाँ जीवित रहता है—इत्यादि (छा० उ० ५ । ३ । १ से ५ । ९ । २ तक)।

इस प्रकरणमें जलके नामसे बीजरूप समस्त तत्त्वोंके समुदाय सूक्ष्म शरीरसहित वीर्यमें स्थित जीवात्मा कहा गया है; अतः वहाँके प्रश्नोत्तरपूर्वक विवेचनसे यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा जब एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है, तब बीजरूपमें स्थित समस्त तत्त्वोंसे युक्त होकर ही प्रयाण करता है।

सम्बन्ध—'इस प्रकरणमें तो केवल जलका ही पुरुषरूप हो जाना कहा है, फिर इसमें सभी सूक्ष्म तत्त्वोंका भी होना कैसे समझा जायगा, यदि श्रुतिको यही बताना अभीष्ट था तो केवल जलका ही नाम क्यों लिया?' इस जिज्ञासापर कहते हैं—

त्र्यात्मकत्वात्तु भूयस्त्वात् ॥ ३ । १ । २ ॥

त्र्यात्मकत्वात्=(शरीर) तीनों तत्त्वोंका सम्मिश्रण है, इसलिये (जलके कहनेसे सबका ग्रहण हो जाता है); **तु**=तथा; **भूयस्त्वात्**=वीर्यमें सबसे अधिक जलका भाग रहता है, इसलिये (जलके नामसे उसका वर्णन किया गया है)।

व्याख्या—जगत्‌की उत्पत्तिके वर्णनमें कहा जा चुका है कि तीनों तत्त्वोंका सम्मेलन करके उसके बाद परमेश्वरने नाम और रूपोंको प्रकट किया (छा० उ० ६ । ३ । ३)। वहाँ तीन तत्त्वोंका वर्णन भी उपलक्षण है, उसमें सभी तत्त्वोंका मिश्रण समझ लेना चाहिये। स्त्रीके गर्भमें जिस वीर्यका आधान किया जाता है, उसमें सभी भौतिक तत्त्व रहते हैं, तथापि जलकी अधिकता होनेसे वहाँ उसीके नामसे उसका वर्णन किया गया है। वास्तवमें वह कथन शरीरके बीजभूत सभी तत्त्वोंको लक्ष्य करानेवाला है। एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते समय जीव प्राणमें स्थित होकर जाते हैं और प्राणको आपोमय (जलरूप) कहा गया है, अतः उस दृष्टिसे भी वहाँ जलको ही पुरुषरूप बताना सर्वथा सुसङ्गत है। इसलिये यही सिद्ध हुआ कि जीवात्मा सूक्ष्म तत्त्वोंसे युक्त हुआ ही एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातकी पुष्टि करते हैं—

प्राणगतेश्च ॥ ३ । १ । ३ ॥

प्राणगतेः=जीवात्माके साथ प्राणोंके गमनका वर्णन होनेसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद्में आश्वलायन मुनिने पिप्पलादसे प्राणके विषयमें कुछ प्रश्न किये हैं । उनमेंसे एक प्रश्न यह भी है कि 'यह एक शरीरको छोड़कर जब दूसरे शरीरमें जाता है, तब पहले शरीरसे किस प्रकार निकलता है ?' (प्र० उ० ३ । १) । उसके उत्तरमें पिप्पलादने कहा है कि 'जब इस शरीरसे उदानवायु निकलता है, तब यह शरीर ठण्डा हो जाता है, उस समय जीवात्मा मनमें विलीन हुई इन्द्रियोंको साथ लेकर उदानवायुके सहित दूसरे शरीरमें चला जाता है । उस समय जीवात्माका जैसा सङ्कल्प होता है, उस सङ्कल्प और मन-इन्द्रियोंके सहित यह प्राणमें स्थित हो जाता है । वह प्राण उदानके सहित जीवात्माको उसके सङ्कल्पानुसार भिन्न-भिन्न लोकों (योनियों) में ले जाता है ।' (प्र० उ० ३ । १० तक) इस प्रकार जीवात्माके साथ प्राण और मन-इन्द्रिय आदिके गमनका वर्णन होनेसे भी यही सिद्ध होता है कि बीजरूप सभी सूक्ष्म तत्त्वोंके सहित यह जीवात्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है ।

छान्दोग्योपनिषद्में जो पहले-पहल श्रद्धाका हवन बताया गया है, वहाँ श्रद्धाके नामसे सङ्कल्पका ही हवन समझना चाहिये । भाव यह कि श्रद्धारूप सङ्कल्पकी आहुतिसे जो उसके सूक्ष्म शरीरका निर्माण हुआ, वही पहला परिणाम राजा सोम हुआ; फिर उसका दूसरा परिणाम वर्षारूपसे मेघमें स्थिति है, तीसरे परिणाममें पहुँचकर वह अन्नमें स्थित हुआ; चौथे परिणाममें वीर्यरूपसे उसकी पुरुषमें स्थिति हुई और पाँचवें परिणाममें वह गर्भ होकर स्त्रीके गर्भाशयमें स्थित हुआ । तदनन्तर वही मनुष्य होकर बाहर आया । इस प्रकार दोनों स्थलोंके वर्णनकी एकता है । प्राणका सहयोग सभी जगह है; क्योंकि गति प्राणके अधीन है, प्राणको जलमय बताया ही गया है । इस प्रकार श्रुतिके समस्त वर्णनकी सङ्गति बैठ जाती है ।

सम्बन्ध—अब दूसरे प्रकारके विरोधका उल्लेख करके उसका निराकरण करते हैं—

अग्न्यादिगतिश्रुतेरिति चेन्न भाक्तत्वात् ॥ ३ । १ । ४ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **अग्न्यादिगतिश्रुतेः**=अग्नि आदिमें प्रवेश करनेकी बात दूसरी श्रुतिमें कही है, इसलिये (यह सिद्ध नहीं होता); **इति न**=तो यह ठीक नहीं है; **भाक्तत्वात्**=क्योंकि वह श्रुति अन्यविषयक होनेसे गौण है ।

व्याख्या—यदि कहो, "बृहदारण्यकके आर्तभाग और याज्ञवल्क्यके संवादमें यह वर्णन आया है कि 'मरणकालमें वाणी अग्निमें विलीन हो जाती है, प्राण वायुमें विलीन हो जाते हैं'—इत्यादि (बृह० उ० ३ । २ । १३) इससे यह कहना सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा दूसरे तत्त्वोंके सहित जाता है, क्योंकि वे सब तो अपने-अपने कारणमें यहीं विलीन हो जाते हैं।" तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि यह बात आर्तभागने प्रश्नमें तो कही है, पर याज्ञवल्क्यने उत्तरमें इसे स्वीकार नहीं किया, बल्कि सभासे अलग ले जाकर उसे गुप्तरूपसे वही पाँच आहुतियोंवाली बात समझाकर अन्तमें कहा कि 'मनुष्य पुण्यकर्मोंसे पुण्यशील होता है और पापकर्मोंसे पापी होता है।' छान्दोग्यके प्रकरणमें भी बादमें यही बात कही गयी है, इसलिये वर्णनमें कोई भेद नहीं है। वह श्रुति प्रश्नविषयक होनेसे गौण है, उत्तरकी बात ही ठीक है। उत्तर इसलिये गुप्त रक्खा गया कि सभाके बीचमें गर्भाधानका वर्णन करना कुछ सङ्कोचकी बात है; सभामें तो स्त्री-बालक सभी सुनते हैं।

सम्बन्ध—पुनः विरोध उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं—

प्रथमेऽश्रवणादिति चेन्न ता एव ह्युपपत्तेः ॥ ३ । १ । ५ ॥

चेत्=यदि कहा जाय कि; **प्रथमे**=प्रथम आहुतिके वर्णनमें; **अश्रवणात्**=(जलका नाम) नहीं सुना गया है, इसलिये (अन्तमें यह कहना कि पाँचवीं आहुतिमें जल पुरुष नामवाला हो जाता है, विरुद्ध है); **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **हि**=क्योंकि; **उपपत्तेः**=पूर्वापरकी सङ्गतिसे (यही सिद्ध होता है कि); **ताः एव**=(वहाँ) श्रद्धाके नामसे उस जलका ही कथन है।

व्याख्या—यदि कहो कि पहले-पहल श्रद्धाको हवनीय द्रव्यका रूप दिया गया है, अतः उसीके परिणाम सब हैं; इस स्थितिमें यह कहना कि पाँचवीं आहुतिमें जल ही पुरुष नामवाला हो जाता है, विरुद्ध प्रतीत होता है तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि वहाँ श्रद्धाके नामसे सङ्कल्पमें स्थित जल आदि समस्त सूक्ष्म-तत्त्वोंका ग्रहण है और अन्तमें भी उसीको जल नामसे कहा गया है, इसलिये कोई विरोध नहीं है। भाव यह कि जीवात्माकी गति उसके अन्तिम सङ्कल्पानुसार होती है और वह प्राणके द्वारा ही होती है तथा श्रुतिमें प्राणको जलमय बताया है, अतः सङ्कल्पके अनुसार जो सूक्ष्म तत्त्वोंका समुदाय प्राणमें स्थित होता

है, उसीको वहाँ श्रद्धाके नामसे कहा गया है। वह कथन गतिमें सङ्कल्पकी प्रधानता दिखानेके लिये है। इस प्रकार पहले-पहल जो बात श्रद्धाके नामसे कही गयी है, उसीका अन्तिम वाक्यमें जलके नामसे वर्णन किया है; अतः पूर्वापरमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—पहलेकी भाँति दूसरे विरोधकी उत्थापना करके उसका निराकरण करते हैं—

अश्रुतत्वादिति चेन्नेष्टादिकारिणां प्रतीतेः ॥ ३ । १ । ६ ॥

चेत्=यदि ऐसा कहा जाय कि; **अश्रुतत्वात्**=श्रुतिमें तत्त्वोंके साथ जीवात्माके गमनका वर्णन नहीं है, इसलिये (उनके सहित जीवात्मा जाता है, यह कहना युक्तिसंगत नहीं है); **इति न**=तो ऐसा कहना ठीक नहीं है; **इष्टादिकारिणाम्**=(क्योंकि) उसी प्रसंगमें अच्छे-बुरे कर्म करनेवालोंका वर्णन है; **प्रतीतेः**=अतः इस श्रुतिमें उन शुभाशुभकारी जीवात्माओंके वर्णनकी प्रतीति स्पष्ट है, इसलिये (उक्त विरोध यहाँ नहीं है)।

व्याख्या—यदि कहो कि उस प्रकरणमें जीवात्मा उन तत्त्वोंको लेकर जाता है, ऐसी बात नहीं कही गयी है, केवल जलके नामसे तत्त्वोंका ही पुरुष-रूपमें हो जाना बताया गया है, इसलिये यह कहना विरुद्ध है कि तत्त्वोंसे युक्त जीवात्मा एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाता है; तो यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उसी प्रकरणमें आगे चलकर कहा है कि 'जो अच्छे आचरणोंवाले होते हैं, वे उत्तम योनिको प्राप्त होते हैं और जो नीच कर्म करनेवाले होते हैं, वे नीच योनियोंको प्राप्त होते हैं।' * (छा० उ० ५ । १० । ७)। इस वर्णनसे अच्छे-बुरे कर्म करनेवाले जीवात्माका उन तत्त्वोंके साथ एक शरीरसे दूसरे शरीरको प्राप्त होना सिद्ध होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—इसी प्रकरणमें जहाँ सकामभावसे शुभ कर्म करनेवालोंके लिये धूममार्गसे स्वर्गमें जानेकी बात कही गयी है, वहाँ ऐसा वर्णन आता है कि 'वह स्वर्गमें जानेवाला पुरुष देवताओंका अन्न है, देवतालोग उसका भक्षण करते हैं' (बृह० उ० ६ । २ । १६)। अतः यह कहना कैसे संगत होगा कि

---

* 'तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरन्।'

पुण्यात्मालोग अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये स्वर्गमें जाते हैं। जब वे स्वयं ही देवताओंके भोग्य बन जाते हैं, तब उनके द्वारा स्वर्गका भोग भोगना कैसे सिद्ध होगा? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

भाक्तं वानात्मवित्त्वात्तथा हि दर्शयति ॥ ३ । १ । ७ ॥

अनात्मवित्त्वात्=वे लोग आत्मज्ञानी नहीं हैं, इस कारण (आत्मज्ञानीकी अपेक्षा उनकी हीनता दिखानेके लिये); **वा**=ही; **भाक्तम्**=उनको देवताओं-का अन्न बतानेवाली श्रुति गौण है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=उस प्रकारसे (उनका हीनत्व और स्वर्गलोकमें नाना प्रकारके भोगोंको भोगना) भी; **दर्शयति**=श्रुति दिखलाती है।

व्याख्या—वे सकामभावसे शुभ कर्म करनेवाले लोग आत्मज्ञानी नहीं हैं, अतः आत्मज्ञानकी स्तुति करनेके लिये गौणरूपसे उनको देवताओंका अन्न और देवताओंद्वारा उनका भक्षण किया जाना कहा गया है, वास्तवमें तो, श्रुति यह कहती है कि 'देवतालोग न खाते हैं और न पीते हैं, इस अमृतको देखकर ही तृप्त हो जाते हैं।' (छा० उ० ३ । ६ । १)* अतः इस कथनका यह भाव है कि राजाके नौकरोंकी भाँति वह देवताओंके भोग्य यानी सेवक होते हैं। इस भावके वचन श्रुतिमें दूसरी जगह भी पाये जाते हैं—'जो उस परमेश्वरको न जानकर दूसरे देवताओंकी उपासना करता है, वह जैसे यहाँ लोगोंके घरोंमें पशु होते हैं, वैसे ही देवताओंका पशु होता है।' (बृह० उ० १ । ४ । १०)† आत्म-ज्ञानकी स्तुतिके लिये इस प्रकार कहना उचित ही है।

इसके सिवा, वे शुभ कर्मवाले लोग देवताओंके साथ आनन्दका उपभोग करते हैं, इसका श्रुतिमें इस तरह वर्णन किया गया है—'पितृलोकपर विजय पानेवालोंकी अपेक्षा सौगुना आनन्द कर्मोंसे देवभावको प्राप्त होनेवालोंको होता है‡।' तथा गीतामें भी इस प्रकार कहा गया है—

'ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति ।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥

* 'न ह वै देवा अश्नन्ति न पिबन्त्येतदेवामृतं दृष्ट्वा तृप्यन्ति ।'

† 'अथ योऽन्यां देवतामुपास्ते ...... यथा पशुरेवꣳ स देवानाम् ।'

‡ अथ ये शतं पितॄणां जितलोकानामानन्दाः ... स एकः कर्मदेवानामानन्दो ये कर्मणा देवत्वमभिसंपद्यन्ते । (बृह० उ० ४ । ३ । ३३)

'वे वहाँ विशाल स्वर्गलोकके भोगोंको भोगकर पुण्य क्षीण होनेपर पुनः मृत्युलोकमें लौट आते हैं। इस प्रकार वेदोक्त धर्मका आचरण करनेवाले वे भोगकामी मनुष्य आवागमनको प्राप्त होते रहते हैं' (गीता ९ । २१) । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि उनको देवताओंका अन्न कहना वहाँ गौणरूपसे है, वास्तवमें वहाँ जाकर वे अपने कर्मोंका ही फल भोगते हैं और फिर वहाँसे वापस लौट आते हैं । अतः जीवात्मा-का एक शरीरसे दूसरे शरीरमें सूक्ष्म तत्त्वोंके सहित जाना सर्वथा सुसङ्गत है; इसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—"उक्त प्रकरणमें कहा गया है कि 'जबतक उसके कर्मोंका क्षय नहीं हो जाता, तबतक वह वहीं रहता है, फिर वहाँसे इस लोकमें लौट आता है ।' अतः प्रश्न होता है कि उसके सभी पुण्यकर्म पूर्णतया समाप्त हो जाते हैं या कुछ कर्म शेष रहता है, जिसे साथ लेकर वह लौटता है ?" इसका *निर्णय करनेके लिये कहते हैं—*

कृतात्ययेऽनुशयवान्दृष्टस्मृतिभ्यां यथेत-मनेवं च ॥ ३ । १ । ८ ॥

कृतात्यये=किये हुए पुण्य कर्मोंका क्षय होनेपर; **अनुशयवान्**=शेष कर्म-संस्कारोंसे युक्त (जीवात्मा); **यथेतम्**=जैसे गया था उसी मार्गसे; **च**= अथवा; **अनेवम्**=इससे भिन्न किसी दूसरे प्रकारसे लौट आता है; **दृष्टस्मृतिभ्याम्**= श्रुति और स्मृतियोंसे (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—उस जीवके द्वारा किये हुए कर्मोंमेंसे जिनका फल भोगनेके लिये उसे स्वर्गलोकमें भेजा गया है, उन पुण्यकर्मोंका पूर्णतया क्षय हो जानेपर वह स्वर्गस्थ जीवात्मा अनुशयसे अर्थात् शेष कर्मसंस्कारोंसे युक्त होकर जिस मार्गसे गया था, उसीसे अथवा किसी दूसरे प्रकारसे लौट आता है। इस प्रकरणमें जो यह बात कही गयी है कि 'तद् य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरन्"""अथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनि-मापद्येरन् ।' अर्थात् 'अच्छे आचरणोंवाले अच्छी योनिको प्राप्त होते हैं और बुरे आचरणोंवाले बुरी योनियोंको प्राप्त होते हैं' (छा० उ० ५ । १० । ७) इस वर्णनसे यही सिद्ध होता है तथा स्मृतिमें जो यह कहा गया है कि 'जो वर्णाश्रमी मनुष्य अपने कर्मोंमें स्थित रहनेवाले हैं, वे यहाँसे स्वर्गलोकमें जाकर वहाँ कर्मोंका फल भोगकर बचे हुए कर्मोंके अनुसार अच्छे जन्म, कुल, रूप आदिको प्राप्त होते हैं' (गौतमस्मृति ११ । १) इस स्मृतिवाक्यसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे विरोधकी उत्थापना करके उसका निराकरण करते हैं—

चरणादिति चेन्नोपलक्षणार्थेति कार्ष्णाजिनिः ॥ ३ । १ । ९ ॥

चेत्=यदि ऐसा कहो कि; **चरणात्**=चरण शब्दका प्रयोग है, इसलिये (यह कहना उचित नहीं है कि वह शेष कर्मसंस्कारोंको साथ लेकर आता है); **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **उपलक्षणार्था**=क्योंकि वह श्रुति अनुशय (शेष कर्म-संस्कारों)का उपलक्षण करानेके लिये है; **इति**=यह बात; **कार्ष्णाजिनिः**='कार्ष्णाजिनि'नामक आचार्य कहते हैं (इसलिये कोई विरोध नहीं है)।

व्याख्या—उपर्युक्त शङ्काका उत्तर अपनी ओरसे न देकर आचार्य कार्ष्णाजिनिका मत उपस्थित करते हुए सूत्रकार कहते हैं—यदि पूर्व-पक्षीद्वारा यह कहा जाय कि "यहाँ 'रमणीयचरणाः' इत्यादि श्रुतिमें तो चरण शब्दका प्रयोग है, जो कर्मसंस्कारका वाचक नहीं है; इसलिये यह सिद्ध नहीं होता कि जीवात्मा स्वर्गलोकसे लौटते समय बचे हुए कर्मसंस्कारोंको साथ लिये हुए लौटता है" तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि वहाँ जो 'चरण' शब्द है, वह अनुशयका उपलक्षण करानेके लिये है अर्थात् यह सूचित करनेके लिये है कि जीवात्मा भुक्तशेष कर्मसंस्कारको साथ लेकर लौटता है, अतः कोई दोष नहीं है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथनमें पुनः शङ्का उपस्थित करके उसका निराकरण करते हैं—

आनर्थक्यमिति चेन्न तदपेक्षत्वात् ॥ ३ । १ । १० ॥

चेत्=यदि कहो; **आनर्थक्यम्**=(बिना किसी कारणके उपलक्षणके रूपमें 'चरण' शब्दका प्रयोग करना) निरर्थक है; **इति न**=तो यह ठीक नहीं, क्योंकि; **तदपेक्षत्वात्**=कर्माशयमें आचरण आवश्यक है ।

व्याख्या—यदि यह कहा जाय कि यहाँ 'चरण' शब्दको बिना किसी कारणके कर्मसंस्कारका उपलक्षण मानना निरर्थक है, इसलिये उपर्युक्त उत्तर ठीक नहीं है, तो ऐसी बात नहीं है, उपर्युक्त उत्तर सर्वथा उचित है; क्योंकि कर्म-संस्काररूप अनुशय पूर्वकृत शुभाशुभ आचरणोंसे ही बनता है, अतः कर्माशयके लिये आचरण अपेक्षित है, इसलिये 'चरण' शब्दका प्रयोग निरर्थक नहीं है।

सम्बन्ध—अब पूर्वोक्त शङ्काके उत्तरमें महर्षि बादरिका मत प्रस्तुत करते हैं—

सुकृतदुष्कृते एवेति तु बादरिः ॥ ३ । १ । ११ ॥

बादरिः तु=बादरि आचार्य तो; **इति**=ऐसा (मानते हैं कि); **सुकृत-दुष्कृते**=इस प्रकरणमें 'चरण'नामसे शुभाशुभ कर्म; **एव**=ही कहे गये हैं।

व्याख्या—आचार्य श्रीबादरिका कहना है कि यहाँ उपलक्षण माननेकी कोई आवश्यकता नहीं है; यहाँ 'रमणीयचरण' शब्द पुण्यकर्मोंका और 'कपूयचरण' शब्द पापकर्मका ही वाचक है। अतः यह समझना चाहिये कि जो रमणीयचरण हैं, वे शुभ कर्माशयवाले हैं और जो कपूयचरण हैं वे पाप कर्माशयवाले हैं। इसलिये यही सिद्ध होता है कि जीवात्मा बचे हुए कर्मसंस्कारोंको साथ लिये हुए ही लौटता है।

सम्बन्ध—अब पूर्वपक्षी पुनः शङ्का उपस्थित करता है—

अनिष्टादिकारिणामपि च श्रुतम् ॥ ३ । १ । १२ ॥

च=किन्तु; **अनिष्टादिकारिणाम्**=अशुभ आदि कर्म करनेवालोंका; **अपि**=भी (चन्द्रलोकमें जाना); **श्रुतम्**=वेदमें सुना गया है।

व्याख्या—कौषीतकि ब्राह्मणोपनिषद्में कहा है कि 'ये वैके चास्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति।' (१ । २) अर्थात् 'जो कोई भी इस लोकसे जाते हैं, वे सब चन्द्रमाको ही प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार यहाँ कोई विशेषण न देकर सभीका चन्द्रलोकमें जाना कहा गया है। इससे तो बुरे कर्म करनेवालोंका भी स्वर्गलोकमें जाना सिद्ध होता है, अतः श्रुतिमें जो यह कहा गया है कि इष्टापूर्त और दानादि शुभ कर्म करनेवाले धूममार्गसे चन्द्रलोकको जाते हैं, उसके साथ उपर्युक्त श्रुतिका विरोध प्रतीत होता है; उसका निराकरण कैसे होगा ?

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें उपस्थित की हुई शङ्काका सूत्रकार उत्तर देते हैं—

संयमने त्वनुभूयेतरेषामारोहावरोहौ तद्गति-दर्शनात् ॥ ३ । १ । १३ ॥

तु=किन्तु; **इतरेषाम्**=दूसरोंका अर्थात् पापकर्म करनेवालोंका; **संयमने**=यमलोकमें; **अनुभूय**=पापकर्मोंका फल भोगनेके बाद; **आरोहावरोहौ**=चढ़ना-उतरना होता है; **तद्गतिदर्शनात्**=क्योंकि उनकी गति श्रुतिमें इसी प्रकार देखी जाती है।

व्याख्या—वहाँ पापीलोगोंका चन्द्रलोकमें जाना नहीं कहा गया है, क्योंकि पुण्यकर्मोंका फल भोगनेके लिये ही स्वर्गलोकमें जाना होता है; चन्द्रलोकमें बुरे कर्मोंका फल भोगनेकी व्यवस्था नहीं है; इसलिये यही समझना चाहिये कि अच्छे कर्म करनेवाले ही चन्द्रलोकमें जाते हैं। उनसे भिन्न जो पापीलोग हैं, वे अपने पापकर्मका फल भोगनेके लिये यमलोकमें जाते हैं, वहाँ पापकर्मोंका फल भोग लेनेके बाद उनका पुनः कर्मानुसार गमनागमन यानी नरकसे मृत्युलोकमें आना और पुनः नये कर्मानुसार स्वर्गमें जाना या नरक आदि अधोगतिको पाना होता रहता है। उन लोगोंकी गतिका ऐसा ही वर्णन श्रुतिमें देखा जाता है। कठोपनिषद्में यमराजने स्वयं कहा है कि—

न साम्परायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥

'सम्पत्तिके अभिमानसे मोहित हुए, निरन्तर प्रमाद करनेवाले अज्ञानीको परलोक नहीं दीखता। वह समझता है कि यह प्रत्यक्ष दीखनेवाला लोक ही सत्य है, दूसरा कोई लोक नहीं, इस प्रकार माननेवाला मनुष्य बार-बार मेरे वशमें पड़ता है।' (कठ० १ । २ । ६) इससे यही सिद्ध होता है कि शुभ कर्म करनेवाला ही पितृयानमार्गसे या अन्य मार्गसे स्वर्गलोकमें जाता है, पापीलोग यमलोकमें जाते हैं। कौषीतकि-ब्राह्मणमें जिनके चन्द्रलोकमें जानेकी बात कही गयी है, वे सब पुण्यकर्म करनेवाले ही हैं; क्योंकि उसी श्रुतिमें चन्द्रलोकसे लौटनेवालोंकी कर्मानुसार गति बतायी गयी है। इसलिये दोनों श्रुतियोंमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—इसी बातको दृढ़ करनेके लिये स्मृतिका प्रमाण देते हैं—

स्मरन्ति च ॥ ३ । १ । १४ ॥

च=तथा; **स्मरन्ति**=स्मृतिमें भी इसी बातका समर्थन किया गया है।

व्याख्या—गीतामें सोलहवें अध्यायके ७ वें श्लोकसे १५ वें श्लोकतक आसुरी प्रकृतिवाले पापी पुरुषोंके लक्षणका विस्तारपूर्वक वर्णन करके अन्तमें कहा है कि 'वे अनेक प्रकारके विचारोंसे भ्रान्त हुए, मोहजालमें फँसे हुए और भोगोंके उपभोगमें रचे-पचे हुए मूढलोग कुम्भीपाक आदि अपवित्र नरकोंमें गिरते हैं' (गीता १६ । १६)। इस प्रकार स्मृतिके वर्णनसे भी उसी बातका समर्थन होता है। अतः पापकर्मियोंका नरकमें गमन होता है; यही मानना ठीक है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उसी बातको कहते हैं—

अपि च सप्त ॥ ३ । १ । १५ ॥

अपि च=इसके सिवा; **सप्त**=पापकर्मका फल भोगनेके लिये प्रधानतः सात नरकोंका भी वर्णन आया है ।

व्याख्या—इसके सिवा, पापकर्मोंका फल भोगनेके लिये पुराणोंमें प्रधानतासे रौरव आदि सात नरकोंका भी वर्णन किया गया है, इससे उन पापकर्मियोंके स्वर्गगमनकी तो सम्भावना ही नहीं की जा सकती ।

सम्बन्ध—नरकोंमें तो चित्रगुप्त आदि दूसरे अधिकारी बताये गये हैं, फिर यह कैसे कहा कि पापीलोग यमराजके अधिकारमें दण्ड भोगते हैं ? इसपर कहते हैं—

तत्रापि च तद्व्यापारादविरोधः ॥ ३ । १ । १६ ॥

च=तथा; **तत्र**=उन यातनाके स्थानोंमें; **अपि**=भी; **तद्व्यापारात्**=उस यमराजके ही आज्ञानुसार कार्य होनेसे; **अविरोधः**=किसी प्रकारका विरोध नहीं है ।

व्याख्या—यातना भोगनेके लिये जो रौरव आदि सात नरक बताये गये हैं, और वहाँ जो चित्रगुप्त आदि दूसरे अधिकारी हैं, वे यमराजके आज्ञानुसार कार्य करते हैं, इसलिये उनका किया हुआ कार्य भी यमराजका ही कार्य है । अतः यमराजके अधिकारमें पापियोंके दण्ड भोगनेकी जो बात कही गयी है, उसमें कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—ऐसा मान लेनेपर भी पूर्वोक्त श्रुतिमें जो सबके चन्द्रलोकमें जानेकी बात कही गयी, उसकी संगति (कौ० १ । २) कैसे होगी ? इसपर कहते हैं—

विद्याकर्मणोरिति तु प्रकृतत्वात् ॥ ३ । १ । १७ ॥

विद्याकर्मणोः=ज्ञान और शुभ कर्म—इन दोनोंका; **तु**=ही; **प्रकृतत्वात्**=प्रकरण होनेके कारण; **इति**=ऐसा कथन उचित ही है ।

व्याख्या—जिस प्रकार छान्दोग्योपनिषद् (५ । १० । १)में विद्या और शुभ कर्मोंका फल बतानेका प्रसङ्ग आरम्भ करके देवयान और पितृयानमार्गकी बात कही गयी है, उसी प्रकार वहाँ कौषीतकि उपनिषद्में भी ज्ञान

और शुभ कर्मोंका फल बतानेके प्रकरणमें ही उक्त कथन है। इसलिये यह समझना चाहिये कि जो शुभ कर्म करनेवाले अधिकारी मनुष्य इस लोकसे जाते हैं, वे ही सब-के-सब चन्द्रलोकको जाते हैं; अनिष्ट कर्म करनेवाले नहीं; क्योंकि उनका प्रकरण नहीं है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'कठोपनिषद्में जो पापियोंके लिये यमलोकमें जानेकी बात कही गयी है, वह छान्दोग्य-श्रुतिमें बतायी हुई तीसरी गतिके अन्तर्गत है, या उससे भिन्न ?' इसके उत्तरमें कहते हैं—

न तृतीये तथोपलब्धेः ॥ ३ । १ । १८ ॥

तृतीये=वहाँ कही हुई तीसरी गतिमें; **न**=(यमलोकगमनरूप गतिका) अन्तर्भाव नहीं होता; **तथा उपलब्धेः**=क्योंकि उस वर्णनमें ऐसी ही बात मिलती है।

व्याख्या—वहाँ छान्दोग्योपनिषद् (५ । १० । ८) में यह बात कही गयी है कि 'अथैतयोः पथोर्न कतरेण च तानीमानि क्षुद्राण्यसकृदावर्तीनि भूतानि भवन्ति जायस्व म्रियस्वेत्येतत्तृतीयं स्थानम्।' अर्थात् 'देवयान और पितृयान—इन दोनों मार्गोंमेंसे किसी भी मार्गसे जो ऊपरके लोकोंमें नहीं जाते, वे क्षुद्र तथा बार-बार जन्मने-मरनेवाले प्राणी होते हैं; 'उत्पन्न होओ और मरो'—यह मृत्युलोक ही उनका तीसरा स्थान है।' इत्यादि। इस वर्णनमें यह पाया जाता है कि उनका किसी भी परलोकमें गमन नहीं होता, वे इस मृत्युलोकमें ही जन्मते-मरते रहते हैं। इसलिये इस तीसरी गतिमें यमयातनारूप नरकलोकवाली गतिका अन्तर्भाव नहीं है।

सम्बन्ध—इन तीन गतियोंके सिवा चौथी गति जिसमें नरकयातना आदिके भोग हैं तथा जो ऊपर कही हुई तीसरी गतिसे भी अधम गति है, उसका वर्णन कहाँ आता है, इसपर कहते हैं—

स्मर्यतेऽपि च लोके ॥ ३ । १ । १९ ॥

स्मर्यते=स्मृतियोंमें इसका समर्थन किया गया है; **च**=तथा; **लोके**=लोकोंमें; **अपि**=भी (यह बात प्रसिद्ध है)।

व्याख्या—श्रीमद्भगवद्गीता (१४ । १८) में कहा है कि—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥

'सत्त्वगुणमें स्थित रहकर मरनेवाले लोग ऊपरके लोकोंमें जाते हैं (देवयान और पितृयान—दोनों मार्ग इसके अन्तर्गत हैं), राजसी लोग बीचमें अर्थात् इस मनुष्यलोकमें ही जन्मते-मरते रहते हैं (यह छान्दोग्यमें बतायी हुई तीसरी गतिके अन्तर्गत है)। निन्दनीय तमोगुणकी वृत्तिमें स्थित तामसी जीव नीचेके लोकोंमें जाते हैं' (यह इसीके अन्तर्गत उक्त तीसरी गतिसे अधम यम-यातनारूप गति भी है) इसका स्पष्टीकरण गीता अध्याय १६ श्लोक २० में किया गया है। इस प्रकार इस यमयातनारूप अधोगतिका वर्णन स्मृतियोंमें पाया जाता है तथा लोकमें भी यह प्रसिद्ध है। पुराणोंमें तो इसका वर्णन बड़े विस्तार-से आता है। इसको अधोगति कहते हैं, इसलिये वहाँसे जो नारकी जीवोंका पुनः मृत्युलोकमें आना है, वह उनका पूर्व कथनके अनुसार ऊपर उठना है और पुनः नरकमें जाना ही नीचे गिरना है।

सम्बन्ध—अब दूसरा प्रमाण देकर उसी बातको सिद्ध करते हैं—

दर्शनाच्च ॥ ३ । १ । २० ॥

दर्शनात्=श्रुतिमें भी ऐसा वर्णन देखा जाता है, इसलिये; **च**=भी (यह मानना ठीक है कि इस प्रकरणमें बतायी हुई तीसरी गतिमें यमयातनाका अन्तर्भाव नहीं है)।

व्याख्या—ईशावास्योपनिषद्में कहा है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ (ईशा० ३)

'जो असुरोंके प्रसिद्ध लोक हैं, वे सब-के-सब अज्ञान तथा दुःख-क्लेशरूप महान् अन्धकारसे आच्छादित हैं, जो कोई भी आत्माकी हत्या करनेवाले मनुष्य हैं, वे मरनेके बाद उन्हीं भयङ्कर लोकोंको बार-बार प्राप्त होते हैं।' इस प्रकार उपनिषदोंमें भी उस नरकादि लोकोंकी प्राप्तिरूप गतिका वर्णन देखा जाता है। इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि इस प्रसङ्गमें कही हुई तीसरी गतिमें यम-यातनावाली गतिका अन्तर्भाव नहीं है।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि छान्दोग्योपनिषद्में जीवोंकी तीन श्रेणियाँ बतायी गयी हैं—अण्डज—अण्डेसे उत्पन्न होनेवाले, जीवज—जेरसे उत्पन्न होनेवाले और उद्भिज्ज—पृथ्वी फोड़कर उत्पन्न होनेवाले (छा० उ० ६ । ३ । १); किन्तु दूसरी जगह जीवोंके चार भेद सुने जाते हैं।

यहाँ चौथी स्वेदज अर्थात् पसीनेसे उत्पन्न होनेवाली श्रेणीको क्यों छोड़ा गया ? इसपर कहते हैं—

तृतीयशब्दावरोधः संशोकजस्य ॥ ३ । १ । २१ ॥

संशोकजस्य=पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले जीवसमुदायका; **तृतीयशब्दावरोधः**=तीसरे नामवाली उद्भिज्ज-जातिमें संग्रह (समझना चाहिये) ।

*व्याख्या—*इस प्रकरणमें जो पसीनेसे उत्पन्न होनेवाले स्वेदज जीवोंका वर्णन नहीं हुआ, उसका श्रुतिमें तीसरे नामसे कही हुई उद्भिज्ज-जातिमें अन्तर्भाव समझना चाहिये; क्योंकि दोनों ही पृथिवी और जलके संयोगसे उत्पन्न होते हैं ।

सम्बन्ध—अब स्वर्गलोकसे लौटनेकी गतिपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है । छान्दोग्योपनिषद् (५ । १० । ५,६) में कहा गया है कि स्वर्गसे लौटनेवाले जीव पहले आकाशको प्राप्त होते हैं, आकाशसे वायु, धूम, मेघ आदिके क्रमसे उत्पन्न होते हैं । यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जीव उन-उन आकाश आदिके रूपमें स्वयं परिणत होते हैं या उनके समान हो जाते हैं ? इसपर कहते हैं—

तत्साभाव्यापत्तिरुपपत्तेः ॥ ३ । १ । २२ ॥

तत्साभाव्यापत्तिः=उनके सदृश भावकी प्राप्ति होती है; **उपपत्तेः**=क्योंकि यही बात युक्तिसे सिद्ध होती है ।

*व्याख्या—*यहाँ जो आकाश, वायु आदि बनकर लौटनेकी बात कही गयी है, इस कथनसे जीवात्माका उन-उन तत्त्वोंके रूपमें परिणत होना युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि आकाश आदि पहलेसे विद्यमान हैं और जीवात्मा जब एकके बाद दूसरे भावको प्राप्त हो जाते हैं, उसके बाद भी वे आकाशादि पदार्थ रहते ही हैं । इसलिये यही मानना युक्तिसंगत है कि वे उन आकाश आदिके सदृश आकारवाले बनकर लौटते हैं । उनका आकाशके सदृश सूक्ष्म हो जाना ही आकाशको प्राप्त होना है । इसी प्रकार वायु आदिके विषयमें भी समझ लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—अब यह जिज्ञासा होती है कि वे जीव उन-उन तत्त्वोंके आकारमें बहुत दिनोंतक टिके रहते हैं या तत्काल ही क्रमसे नीचे उतरते जाते हैं, इसपर कहते हैं—

नातिचिरेण विशेषात् ॥ ३ । १ । २३ ॥

विशेषात्=ऊपर गमनकी अपेक्षा नीचे उतरनेकी परिस्थितिमें भेद होनेके

कारण; **नातिचिरेण**=जीव उन आकाश, वायु आदिके रूपमें अधिक कालतक न रहकर क्रमशः नीचे उतर आते हैं।

व्याख्या—ऊपरके लोकमें जानेका जो वर्णन है, वह कर्मोंके फलभोगसे सम्बन्ध रखता है, इसलिये बीचमें आये हुए पितृलोक आदिमें विलम्ब होना भी सम्भव है, परन्तु लौटते समय कर्मभोग तो समाप्त हो जाते हैं, इसलिये बीचमें कहीं विलम्ब होनेका कोई कारण नहीं रहता। इस प्रकार ऊपरके लोकोंमें जाने और वहाँसे लौटनेकी गतिमें विशेषता होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि लौटते समय रास्तेमें विलम्ब नहीं होता।

सम्बन्ध—अब यह जिज्ञासा होती है कि परलोकसे लौटनेवाले उस जीवात्माका जो धान, जौ, तिल और उड़द आदिके रूपमें होना कहा गया है, उसका क्या भाव है? क्या वह स्वयं वैसा बन जाता है या उस योनिको भोगनेवाला जीवात्मा कोई दूसरा होता है, जिसके साथमें यह भी रहता है, इसपर कहते हैं—

अन्याधिष्ठितेषु पूर्ववदभिलापात् ॥ ३ । १ । २४ ॥

पूर्ववत्=पहलेकी भाँति ही; **अभिलापात्**=यह कथन है, इसलिये; **अन्याधिष्ठितेषु**=दूसरे जीवात्मा अपने कर्मफलभोगके लिये जिनमें स्थित हो रहे हैं, ऐसे धान, जौ आदिमें केवल सन्निधिमात्रसे इसका निवास है।

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्वसूत्रमें यह बात कही गयी है कि वह लौटनेवाला जीवात्मा आकाश आदि नहीं बनता, उनके सदृश होकर ही उनसे संयुक्त होता है, उसी प्रकार यहाँ धान आदिके विषयमें भी समझना चाहिये; क्योंकि यह कथन भी पहलेके सदृश ही है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि उन धान, जौ आदिमें अपने कर्मोंका फल भोगनेके लिये जो दूसरे जीव पहलेसे ही स्थित हैं, उनसे संयुक्त होकर ही यह चन्द्रलोकसे लौटनेवाला जीवात्मा उनके साथ-साथ पुरुषके उदरमें चला जाता है; धान, जौ आदि स्थावर-योनियोंको प्राप्त नहीं होता।

सम्बन्ध—इसपर शङ्का उपस्थित करके ग्रन्थकार उसका निराकरण करते हैं—

अशुद्धमिति चेन्न शब्दात् ॥ ३ । १ । २५ ॥

चेत्=यदि कहा जाय कि; **अशुद्धम्**=यह तो अशुद्ध (पाप) कर्म होगा; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **शब्दात्**=श्रुतिके वचनसे इसकी निर्दोषता सिद्ध होती है।

व्याख्या—यदि यह शङ्का की जाय कि अनाजके प्रत्येक दानेमें जीव रहता

है, इस मान्यताके अनुसार अन्नको पीसना, पकाना और खाना तो बड़ा अशुद्ध (पाप) कर्म होगा, क्योंकि उसमें तो अनेक जीवोंकी हिंसा करनेपर एक जीवकी उदरपूर्ति होगी' तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि इस प्रकरणमें पुरुषको 'अग्नि' बताकर उसमें अन्नका हवन करना बताया है तथा श्रुतिमें जगह-जगह अन्नके खाये जानेका वर्णन है (छा० उ० ६ । ६ । २)। अतः श्रुतिका विधान होनेके कारण उसमें हिंसा नहीं होती तथा उन जीवोंकी उस कालमें सुषुप्ति-अवस्था रहती है, जब वे पृथिवी और जलके सम्बन्धसे अङ्कुरित होते हैं, तब उनमें चेतना आती है और सुख-दुःखका ज्ञान होता है, पहले नहीं। अतः अन्नभक्षणमें हिंसा नहीं है।

सम्बन्ध—अन्नसे संयुक्त होनेके बाद वह किस प्रकार कर्मफल-भोगके लिये शरीर धारण करता है, उसका क्रम बतलाते हैं--

रेतःसिग्योगोऽथ ॥ ३ । १ । २६ ॥

अथ=उसके बाद; **रेतःसिग्योगः**=वीर्यका सेचन करनेवाले पुरुषके साथ उसका सम्बन्ध होता है ।

व्याख्या—उसके अनन्तर वह जीवात्मा अन्नके साथ पुरुषके पेटमें जाकर उसके वीर्यमें प्रविष्ट हो उस पुरुषसे संयुक्त होता है, इस कथनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि आकाश आदिसे लेकर अन्नतक सभी जगह केवल संयोगसे ही उसका तदाकार होना कहा गया है; स्वरूपसे नहीं ।

सम्बन्ध—उसके बाद—

योनेः शरीरम् ॥ ३ । १ । २७ ॥

योनेः=स्त्रीकी योनिमें प्रविष्ट होनेके अनन्तर; **शरीरम्**=वह जीवात्मा कर्मफलभोगके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है ।

व्याख्या—इस प्रकार वह स्वर्गसे आनेवाला जीवात्मा पहले पुरुषके वीर्यके आश्रित होता है । फिर उस पुरुषद्वारा गर्भाधानके समय स्त्रीकी योनिमें वीर्यके साथ प्रविष्ट करा दिया जाता है । वहाँ गर्भाशयसे सम्बद्ध होकर उक्त जीव अपने कर्मफलोंके अनुरूप शरीरको प्राप्त होता है । यहींसे उसके कर्मोंके फलका भोग आरम्भ होता है । इसके पहले स्वर्गसे उतरकर वीर्यमें प्रविष्ट होनेतक उसका कोई जन्म या शरीर धारण करना नहीं है, केवल उन-उन आकाश आदिके आश्रित रहनामात्र कहा गया है; उन धान आदि शरीरोंके अधिष्ठाता जीव दूसरे ही हैं ।

पहला पाद सम्पूर्ण ।

दूसरा पाद

पहले पादमें देहान्तरप्राप्तिके प्रसङ्गमें पञ्चाग्निविद्याके प्रकरणपर विचार करते हुए जीवको बारंबार प्राप्त होनेवाले जन्म-मृत्युरूप दुःखका वर्णन किया गया। इस वर्णनका गूढ़ अभिप्राय यही है कि जीवके मनमें सांसारिक पदार्थों तथा अपने नश्वर शरीरके प्रति आसक्ति कम हो और निरन्तर वैराग्यकी भावना बढ़े। अब, दूसरे पादमें वर्तमान शरीरकी भिन्न-भिन्न अवस्थाओंपर विचार करके इस जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे छूटनेके लिये परमेश्वरका ध्यानरूप उपाय बताना है; अतएव पहले स्वप्नावस्थापर विचार आरम्भ करते हुए दो सूत्रोंमें पूर्वपक्षकी उत्थापना की जाती है—

सन्ध्ये सृष्टिराह हि ॥ ३ । २ । १ ॥

सन्ध्ये=स्वप्नमें भी जाग्रत्की भाँति; **सृष्टिः**=सांसारिक पदार्थोंकी रचना होती है; **हि**=क्योंकि; **आह**=श्रुति ऐसा वर्णन करती है।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्‌में यह वर्णन आया है कि 'स्वप्नावस्थामें यह जीवात्मा इस लोक और परलोक दोनोंको देखता है, वहाँ दुःख और आनन्द दोनोंका उपभोग करता है, इस स्थूल शरीरको स्वयं अचेत करके वासनामय नये शरीरकी रचना करके, (बृह० उ० ४ । ३ । ९) जगत्‌को देखता है। 'उस अवस्थामें सचमुच न होते हुए भी रथ, रथको ले जानेवाले वाहन और उसके मार्गकी तथा आनन्द, मोद, प्रमोदकी एवं कुण्ड, सरोवर और नदियोंकी रचना कर लेता है।' (बृह० उ० ४ । ३ । १०)* इत्यादि।

इसी प्रकार दूसरी श्रुतियोंमें भी स्वप्नमें सृष्टिका होना कहा है (प्र० उ० ४ । ५; बृह० उ० २ । १ । १८)। इसलिये यह सिद्ध होता है कि स्वप्नमें भी सांसारिक पदार्थोंकी रचना होती है और वह अत्यन्त विचित्र तथा जीवकृत है।

निर्मातारं चैके पुत्रादयश्च ॥ ३ । २ । २ ॥

च=तथा; **एके**=एक शाखावाले; **निर्मातारम्**=पुरुषको कामनाओंका

---

* 'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते न तत्रानन्दा मुदः प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान् मुदः प्रमुदः सृजते ...... वेशान्तान् पुष्करिणीः स्रवन्तीः सृजते।'

निर्माता भी मानते हैं; **च**=और (उनके मतमें); **पुत्रादयः**=पुत्र आदि ही 'काम' अथवा कामनाके विषय हैं ।

व्याख्या—कठोपनिषद्‌में वर्णन आया है कि 'य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः ।' (२ । २ । ८) 'यह नाना प्रकारके भोगोंकी रचना करनेवाला पुरुष अन्य सबके सो जानेपर स्वयं जागता रहता है ।' इसमें पुरुषको कामनाओंका निर्माता कहा है। क० उ० (१ । १ । २३-२४)के अनुसार पुत्र-पौत्र आदि ही 'काम' अथवा कामनाके विषय हैं । इससे भी यही सिद्ध होता है कि स्वप्नमें सृष्टि है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वपक्षीके द्वारा स्वप्नकी सृष्टिको सत्य सिद्ध करनेकी चेष्टा की गयी तथा उसे जीवकर्तृक बताया गया । अब सिद्धान्तीकी ओरसे उसका उत्तर दिया जाता है—

मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् ॥ ३ । २ । ३ ॥

तु=किन्तु; **कार्त्स्न्येन**=पूर्णरूपसे; **अनभिव्यक्तस्वरूपत्वात्**=उसके स्वरूपकी अभिव्यक्ति (उपलब्धि) न होनेके कारण; **मायामात्रम्**=वह मायामात्र है ।

व्याख्या—स्वप्नकी सृष्टिका वर्णन करते हुए श्रुतिने यह बात तो पहले ही स्पष्ट कर दी है कि जीवात्मा वहाँ जिन-जिन वस्तुओंकी रचना करता है, वे वास्तवमें नहीं हैं । इसके सिवा, यह देखा भी जाता है कि स्वप्नमें सब वस्तुएँ पूर्णरूपसे देखनेमें नहीं आतीं; जो कुछ देखा जाता है, वह अनियमित और अधूरा ही देखा जाता है। प्रश्नोपनिषद्‌में तो स्पष्ट ही कहा है कि 'जाग्रत्-अवस्थामें सुनी हुई, देखी हुई और अनुभव की हुई वस्तुओंको स्वप्नमें देखता है, किन्तु विचित्र ढंगसे देखता है । देखी-सुनी हुईको और न देखी-सुनी हुईको भी देखता है तथा अनुभव की हुईको और न अनुभव की हुईको भी देखता है । इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि स्वप्नकी सृष्टि वास्तविक नहीं, जीवको कर्मफलका भोग करानेके लिये भगवान् अपनी योगमायासे उसके कर्म-संस्कारोंकी वासनाके अनुसार वैसे दृश्य देखनेमें उसे लगा देते हैं, अतः वह स्वप्न-सृष्टि तो मायामात्र है, जाग्रत्‌की भाँति सच्ची नहीं है । यही कारण है कि उस अवस्थामें किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका फल जीवात्माको नहीं

भोगना पड़ता । तथा पूर्वपक्षीने जो यह बात कही थी कि किसी-किसी शाखा-वाले लोग पुरुषको पुत्र-पौत्रादि काम्य-विषयोंकी रचना करनेवाला बताते हैं, वह ठीक नहीं है; क्योंकि वहाँ स्वप्नावस्थाका प्रकरण नहीं है और उस मन्त्रमें जीवात्माको काम्य-विषयोंका निर्माता नहीं कहा गया है, वहाँ यह विशेषण परमात्माके लिये आया है ।

सम्बन्ध—इससे तो यह सिद्ध होता है कि स्वप्न सर्वथा व्यर्थ है, उसकी कोई सार्थकता नहीं है, इसपर कहते हैं—

सूचकश्च हि श्रुतेराचक्षते च तद्विदः ॥ ३ । २ । ४ ॥

सूचकः=स्वप्न भविष्यमें होनेवाले शुभाशुभ परिणामका सूचक; **च**=भी होता है; **हि**=क्योंकि; **श्रुतेः**=श्रुतिसे यह सिद्ध होता है; **च**=और; **तद्विदः**=स्वप्नविषयक शास्त्रको जाननेवाले भी; **आचक्षते**=ऐसी बात कहते हैं ।

व्याख्या—श्रुति (छा० उ० ५ । २ । ९) में कहा है—

यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति ।
समृद्धिं तत्र जानीयात्तस्मिन् स्वप्ननिदर्शने ॥

'जब काम्य कर्मोंके प्रसङ्गमें स्वप्नोंके दृश्योंमें स्त्रीको देखे तो ऐसे स्वप्न देखनेका परिणाम यह समझना चाहिये कि उस किये जानेवाले काम्यकर्ममें भलीभाँति अभ्युदय होनेवाला है ।' तथा यह भी कहा है कि 'यदि स्वप्नमें काले दाँतवाले काले पुरुषको देखे तो वह मृत्युका सूचक है ।' (ऐतरेय आरण्यक ३ । २ । ४ । १७) इत्यादि, श्रुतिके प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि स्वप्न सर्वथा व्यर्थ नहीं है, वह वर्तमानके आगामी परिणामका सूचक भी होता है । इसके सिवा, जो स्वप्नविज्ञानको जाननेवाले विद्वान् हैं, वे भी इसी प्रकार स्वप्नमें देखे हुए दृश्योंको भविष्यमें होनेवाली शुभाशुभ घटनाओंके सूचक बताते हैं । इससे यह भी सिद्ध होता है कि स्वप्नकी घटना जीवात्माकी स्वतन्त्र रचना नहीं है, वह तो निमित्तमात्र है; वास्तवमें सब कुछ जीवके कर्मानुसार उस परमेश्वरकी शक्तिसे ही होता है ।

सम्बन्ध—जीवात्मा भी तो ईश्वरका ही अंश है, अतः इसमें ईश्वरके ज्ञान और ऐश्वर्य आदि गुण भी आंशिक रूपसे होंगे ही । फिर यदि ऐसा मान लें कि स्वप्नकी सृष्टि जीवात्मा स्वयं करता है तो क्या हानि है ? इसपर कहते हैं—

पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ॥ ३ । २ । ५ ॥

(जीवात्मामें भी ईश्वरके समान गुण हैं) **तु**=किन्तु; **तिरोहितम्**=छिपे हुए (आवृत) हैं; **पराभिध्यानात्**=(अतः) परब्रह्म परमात्माका निरन्तर ध्यान करनेसे (वे प्रकट हो जाते हैं); **हि**=क्योंकि; **ततः**=उस परमात्माके सकाशसे ही; **अस्य**=इसके; **बन्धविपर्ययौ**=बन्धन और उसके विपरीत अर्थात् मोक्ष है ।

व्याख्या—जीवात्मा ईश्वरका अंश है, इसलिये यह भी ईश्वरके सदृश गुणोंवाला है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है; परन्तु इसके वे सब गुण तिरोहित हैं—छिपे हुए हैं; इस कारण उनका उपयोग नहीं देखा जाता । उस परब्रह्म परमेश्वरका निरन्तर ध्यान करनेसे जीवके वे छिपे हुए गुण पुनः प्रकट हो सकते हैं (श्वे० उ० १ । ११) । परमेश्वरकी आराधनाके बिना अपने-आप उनका प्रकट होना सम्भव नहीं है, क्योंकि इस जीवका अनादिसिद्ध बन्धन और उससे मुक्त होना उस जगत्कर्ता परमेश्वरके ही अधीन है (श्वे० उ० ६ । १६) । इसलिये वह स्वयं स्वप्नकी सृष्टि आदि कुछ नहीं कर सकता ।*

सम्बन्ध—इस जीवात्माके जो वास्तविक ईश्वरसम्बन्धी गुण हैं, वे क्यों छिपे हुए हैं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

देहयोगाद्वा सोऽपि ॥ ३ । २ । ६ ॥

सः=वह तिराभाव; **अपि**=भी; **देहयोगात्**=शरीरके सम्बन्धसे; **वा**=ही है ।

व्याख्या—इस जीवात्मामें उस परब्रह्म परमात्माके स्वाभाविक गुण विद्यमान रहते हुए भी जो उन गुणोंका तिरोभाव हो रहा है, वे गुण प्रकट नहीं हो रहे हैं तथा यह जीवात्मा जो उन सब गुणोंसे सर्वथा अनभिज्ञ है, इसका मुख्य कारण जीवात्माका शरीरोंके साथ एकताको प्राप्त हो जाना ही है । यही इसका बन्धन है और यह अनादिकालसे है । इसीके कारण जन्म-जन्मान्तरोंके कर्म-

---

* साधकको चाहिये कि इस रहस्यको समझकर उस परमदयालु, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म परमेश्वरके आश्रित होकर निरन्तर उसका भजन-ध्यान करे और इस बन्धनसे छुटकारा पानेके लिये भगवान्से प्रार्थना करे । इस जगत्रूप नाटकका सूत्रधार परमेश्वर जिसको उस प्रपञ्चसे अलग करना चाहे, वही इससे अलग हो सकता है ।

संस्कारोंसे परवश हुआ यह जीव नाना योनियोंमें जन्म लेता और मरता है तथा भाँति-भाँतिके दु:खोंका उपभोग कर रहा है ।

सम्बन्ध—यहाँतक स्वप्नावस्थापर विचार किया गया, उसमें प्रसङ्गवश जीवात्माके बन्धन और उससे छूटनेके उपायका भी संक्षेपमें वर्णन हुआ । अब जीवात्माकी सुषुप्ति-अवस्थापर विचार करनेके लिये अगला प्रसङ्ग आरम्भ किया जाता है । प्रायः यह कहा जाता है कि सुषुप्ति-अवस्थामें जीवात्माका ब्रह्मसे संयोग होता है, इससे यह भ्रान्त धारणा हो सकती है कि सुषुप्ति भी समाधिके सदृश कोई सुखप्रद अवस्था है । अतः इस भ्रमका निवारण करनेके लिये कहते हैं—

तदभावो नाडीषु तच्छ्रुतेरात्मनि च ॥ ३ । २ । ७ ॥

तदभावः=(सुषुप्ति-अवस्थामें) उस स्वप्नदृश्यका अभाव हो जाता है (उस समय जीवात्मा); **नाडीषु**=नाडियोंमें (स्थित हो जाता है); **तच्छ्रुतेः**=क्योंकि वैसा ही श्रुतिका कथन है; **च**=तथा; **आत्मनि**=आत्मामें भी (उसकी स्थिति बतायी गयी है) ।

*व्याख्या—*पूर्व सूत्रोंमें जो स्वप्नावस्थाका वर्णन किया गया है, उसका उपभोग करते समय यह जीवात्मा कभी तो स्वप्नसे जग जाता है और कभी फिर स्वप्नमें स्थित हो जाता है, पुनः जगता और फिर स्वप्नावस्थामें चला जाता है (बृह० उ० ४ । ३ । १० से १८ तक) । इस प्रकार स्वप्नगत मानसिक सुख-दु:खोंका उपभोग करते-करते कभी सुषुप्ति-अवस्था हो जानेपर स्वप्नके दृश्योंका अभाव हो जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि वे मायामात्र हैं; क्योंकि बाह्यजगत्का अभाव नहीं होता, उसका कार्य ज्यों-का-त्यों चलता रहता है तथा जीवात्मा-का शरीर भी सुरक्षित रहता है, इसलिये उसका सत् होना सिद्ध होता है । उस समय जीवात्माको इस प्रपञ्चके उपभोगसे विश्राम मिलता है तथा शरीर और इन्द्रियोंकी थकावट दूर होती है । वह अवस्था आनेपर जीवात्माकी स्थिति कैसी और कहाँ रहती है, इस विषयमें श्रुति कहती है—'जब यह सुषुप्ति-अवस्थाको प्राप्त होता है, तब कुछ भी नहीं जानता; इसके शरीरमें जो बहत्तर हजार हिता नामकी नाडियाँ हृदयसे निकलकर समस्त शरीरमें व्याप्त हो रही हैं, उनमें फैलकर यह समस्त शरीरमें व्याप्त हुआ शयन करता है।' (बृह० उ० २ । १ । १९) दूसरी श्रुतिमें

ऐसा भी कहा गया है कि 'जब यह शयन करता हुआ किसी तरहका स्वप्न नहीं देखता, सब प्रकारसे सुखी होकर नाडियोंमें व्याप्त हो जाता है, उस समय इसे कोई पाप स्पर्श नहीं कर सकते।' (छा० उ० ८ । ६ । ३)। भाव यह है कि उस समय अज्ञातमें इसके शरीरकी क्रियाद्वारा किसी जीवकी हिंसादि पापकर्म हो जाय तो वह नहीं लगता। तथा कहीं ऐसा भी कहा है कि 'हे सौम्य! उस सुषुप्तिके समय यह पुरुष सत्से सम्पन्न होता है' (छा० उ० ६ । ८ । १) एक स्थान-पर ऐसा वर्णन आता है कि 'उस समय परमात्माके स्पर्शको प्राप्त हुआ यह जीवात्मा न तो बाहरकी किसी वस्तुको जानता है और न शरीरके भीतरकी ही किसी वस्तुको जान पाता है' (बृह० उ० ४ । ३ । २१)।

इन सब वर्णनोंसे यही मालूम होता है कि नाडियोंका मूल और इस जीवात्मा तथा परब्रह्म परमात्माका निवासस्थान हृदय है, उसी जगह सुषुप्तिमें जीवात्मा शयन करता है; इसलिये उसकी स्थिति हृदयस्थ नाडियोंमें और परमात्मामें भी बतायी जा सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है। स्थानकी एकताके कारण ही कहीं उसको ब्रह्मकी प्राप्ति, कहीं प्रलयकी भाँति परमात्माके साथ संयुक्त होना आदि कहा गया है; परन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि यह भी समाधिकी भाँति मुक्तिमें सहायक है। यह तो महान् तामसी सुखका उपभोग करानेवाली अज्ञानमयी स्थिति है (गीता १८ । ३९)। अतः शरीररक्षाके लिये कम-से-कम आवश्यक समयतक ही शयन करना चाहिये, श्रेष्ठ सुखकी बुद्धिसे नहीं।

प्रश्नोपनिषद्में स्पष्ट ही यह वर्णन है कि 'वह मन जब तेजसे अर्थात् उदानवायुसे दब जाता है—उदान-वायु इन्द्रियोंसहित मनको हृदयमें ले जाकर मोहित कर देता है, तब इसकी सुषुप्ति-अवस्था होती है, उस समय यह स्वप्नको नहीं देखता। इस शरीरमें जीवात्माको यह सुषुप्तिजनित सुख होता है' (प्र० उ० ४ । ६)। इस विषयमें दूसरी श्रुतिमें जो यह बात कही है कि 'उस समय तेजसे सम्पन्न होता है।' (छा० उ० ८ । ६ । ३) वहाँ भी तेजका अर्थ उदान-वायु ही समझना चाहिये, ब्रह्म नहीं; क्योंकि प्रश्नोपनिषद्में तीसरे प्रश्नका उत्तर देते हुए नवें और दसवें मन्त्रमें स्पष्ट ही उदानवायुकी और तेजकी एकता की गयी है। अतः ऐसा माननेसे ही वहाँ किये हुए वर्णनके साथ छान्दोग्यश्रुतिकी एकवाक्यता सिद्ध होगी।

सम्बन्ध—सुषुप्तिकालमें जो परमात्माके साथ हृदयदेशमें जीवात्माकी स्थिति बतायी गयी है, उसीकी पुष्टि करते हैं—

अतः प्रबोधोऽस्मात् ॥ ३ । २ । ८ ॥

अतः=इसीलिये; **अस्मात्**=यहाँसे; **प्रबोधः**=जीवात्माका जगना (श्रुतिमें कहा गया है)।

व्याख्या—जो वस्तु जिसमें विलीन होती है, वह वहींसे प्रकट भी होती है। इस न्यायसे जीवात्मा सुषुप्तिका अन्त होनेपर जब जगता है, तब यहाँसे अर्थात् परमात्माके निवास-स्थान हृदयसे ही जाग्रत् होता है, इसलिये उसके लय होनेका स्थान भी वही है, यह अपने-आप सिद्ध हो जाता है। यह जगना उस परमात्माकी ही व्यवस्थासे होता है। जितने समयतक उसके प्रारब्धानुसार सुषुप्तिका सुखभोग होना चाहिये, उतना समय पूरा हो जानेपर उस परमेश्वरकी व्यवस्थासे जीवात्मा जाग्रत् हो जाता है; यह भाव भी यहाँ समझ लेना चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जो जीवात्मा सुषुप्ति-अवस्थामें विलीन होता है, वही जगकर वापस आता है या शरीरके किसी अङ्गमें पड़ा हुआ दूसरा ही कोई जीव जगता है? इसपर कहते हैं—

स एव तु कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः ॥ ३ । २ । ९ ॥

तु=निस्संदेह; **स एव**=वही जगता है; **कर्मानुस्मृतिशब्दविधिभ्यः**=क्योंकि कर्म, अनुस्मृति, वेदप्रमाण और कर्म करनेकी आज्ञा इन सबकी सिद्धि तभी होगी, इसलिये यही मानना ठीक है।

व्याख्या—जो जीवात्मा सोता है, वही जागता है। सोता दूसरा है और जगता दूसरा है, ऐसा माननेमें बहुत दोष आते हैं। अतः वैसा नहीं माना जा सकता; क्योंकि यह देखा जाता है कि मनुष्य पहले दिन जिस कर्मको आरम्भ करता है, उसके शेष भागकी पूर्ति दूसरे-तीसरे दिनोंतक करता रहता है। आधा काम दूसरेने किया हो और शेष आधे कामको अपना ही छोड़ा हुआ समझकर उसकी पूर्ति दूसरा करे यह सम्भव नहीं है। तथा जगनेके बाद पहलेकी सब बातोंकी स्मृतिके साथ-साथ यह भी स्मरण अपने-आप होता ही है कि जो अबतक सोता था, वही मैं अब जगा हूँ। दूसरे जीवात्माकी कल्पना करनेसे किसी प्रकार भी इसकी सङ्गति नहीं हो

सकती; एवं श्रुतिमें भी जगह-जगह जो सोता है, उसीके जगनेकी बात कही गयी है (बृह० उ० ४ । ३ । १६) । और कर्म करनेकी जो वेदोंमें आज्ञा दी गयी है, उसकी सफलता भी जो सोता है, उसीके जगनेसे होगी; क्योंकि एककी दी हुई आज्ञाका दूसरा कैसे पालन कर सकेगा । इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि जो जीवात्मा सुषुप्तिकालमें विलीन होता है, वही जगता है ।

सम्बन्ध—जब मनुष्य किसी औषध आदिसे मूर्च्छित कर दिया जाता है अथवा अन्य किन्हीं बीमारी आदि कारणोंसे अचेत हो जाता है, उस समय भी न तो बाहरी जगत्‌का ज्ञान रहता है, न स्वप्न देखता है और न सुखका ही अनुभव करता है, वह कौन-सी अवस्था है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

मुग्धेऽर्द्धसम्पत्तिः परिशेषात्‌ ॥ ३ । २ । १० ॥

मुग्धे=मूर्च्छाकालमें; **अर्द्धसम्पत्तिः**=अधूरी सुषुप्ति-अवस्था माननी चाहिये; **परिशेषात्‌**=क्योंकि अन्य कोई अवस्था शेष नहीं है ।

व्याख्या—जन्मके बाद मरनेसे पहले जीवकी पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ ही प्रसिद्ध हैं । किसी विशेष कारणसे कभी-कभी हो जानेवाली यह मुग्धावस्था सबकी और सदैव नहीं होती, अतः इसके लक्षण कुछ-कुछ सुषुप्तिमें ही सङ्गत हो सकते हैं । इसलिये इसे अधूरी सुषुप्ति मानना ही उचित है; क्योंकि उस अवस्थामें सुषुप्तिका सुखलाभ नहीं होता, केवल अज्ञानमात्रमें ही सुषुप्तिसे इसकी समता है; अतः इसे पूर्णतया सुषुप्ति भी नहीं कहा जा सकता ।

सम्बन्ध—पूर्वप्रकरणमें जीवात्माकी जाग्रत्‌ आदि अवस्थाओंका निरूपण किया गया । उसमें प्रसङ्गवश यह बात भी कही गयी कि उस परब्रह्म परमेश्वरका निरन्तर चिन्तन करनेपर यह जीव कर्मबन्धनसे मुक्त हो सकता है । जिसके ध्यानका यह महान्‌ फल बताया गया है, उस परब्रह्म परमात्माका क्या स्वरूप है ? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण प्रारम्भ किया जाता है ।

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि श्रुतियोंमें कहीं तो उस परमेश्वरको सर्वथा निर्विशेष निर्गुण बताया गया है (क० उ० १ । ३ । १५, मा० उ० ७)। कहीं उसको सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान्‌, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, सर्वसाक्षी तथा समस्त प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका कारण कहा गया है (मा० उ० ६)। कहीं उसे सर्वव्यापी और कहीं अङ्गुष्ठमात्र बताया गया है । कहीं क्रियाशील और

कहीं अक्रिय कहा गया है; अतः उसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? तथा हृदय आदि जिन-जिन स्थानोंमें परमात्माकी स्थिति बतायी गयी है। उनके दोषोंसे वह लिप्त होता है या नहीं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि॥ ३ । २ । ११ ॥

स्थानतः=स्थानके सम्बन्धसे; **अपि**=भी; **परस्य**=परब्रह्म परमात्माका; **न**=किसी प्रकारके दोषसे संसर्ग नहीं होता; **हि**=क्योंकि; **सर्वत्र**=सभी वेदवाक्योंमें उस ब्रह्मको; **उभयलिङ्गम्**=दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त अर्थात् सब प्रकारके दोषोंसे रहित निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न बताया गया है।

व्याख्या—कठोपनिषद्में कहा है कि 'अणोरणीयान् महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्' (क० उ० १ । २ । २०) इस जीवात्माके हृदयरूप गुहामें रहनेवाला परमात्मा छोटे-से-छोटा तथा बड़े-से-बड़ा है। 'वह ब्रह्म बैठा हुआ ही दूर चला जाता है, सोता हुआ ही सब ओर चला जाता है।' (क० उ० १ । २ । २१) 'वह जीवात्माके साथ उसकी हृदयगुहामें स्थित है' (क० उ० १ । ३ । १), 'वह सब धर्मोंसे रहित है।' (क० उ० १ । ३ । १५) 'भूत और भविष्यका शासक है।' (क० उ० २ । १ । १२-१३) 'उस परब्रह्ममें नाना भेद नहीं है।' (क० उ० २ । १ । ११) 'उसके भयसे अग्नि आदि देवता अपने-अपने कार्योंमें संलग्न रहते हैं।' (क० उ० २ । ३ । ३) इसी प्रकार अन्य श्रुतियोंमें भी जहाँ इसको निर्विशेष कहा है, उसी प्रकरणमें नाना प्रकारके दिव्य गुणोंसे युक्त भी बताया है (श्वे० उ० ३ । १९) तथा जो इसके दिव्य गुण बताये गये हैं, वे जीव और प्रकृति—इन दोनोंसे विलक्षण हैं। अतः यह भी नहीं कहा जा सकता कि ये दिव्य गुण जीवात्माके या जड प्रकृतिके हैं अथवा उपाधिके कारण उस परब्रह्ममें इनका आरोप किया गया है, क्योंकि परब्रह्म परमात्मा उपाधिसे रहित है। अतः यही सिद्ध होता है कि वह परमात्मा स्वभावसे ही दोनों प्रकारके लक्षणवाला है अर्थात् वह सब प्रकारके दोषोंसे रहित निर्विशेष तथा समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न है, इसलिये सर्वत्र व्याप्त और समस्त प्राणियोंके हृदयमें स्थित रहकर भी वह परमात्मा उन-उन वस्तुओं और स्थानोंके दोषोंसे लिप्त नहीं होता। उसमें परस्परविरोधी लक्षण एक साथ रह सकते हैं; क्योंकि वह सर्वशक्तिमान् और सांसारिक पदार्थोंसे सर्वथा विलक्षण है। लौकिक वस्तुओंके साथ तुलना करके उसका स्वरूप

समझाया नहीं जा सकता; क्योंकि वह मन, वाणीका विषय नहीं है। अतः वेदने उसको दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त बताकर उसकी अपार महिमाको लक्ष्य कराया है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे शङ्का उपस्थित करके उसका निराकरण करते हुए पूर्वोक्त बातको दृढ़ करते हैं—

न भेदादिति चेन्न प्रत्येकमतद्वचनात् ॥ ३ । २ । १२ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **भेदात्**=सगुण (अपरब्रह्म या कार्यब्रह्म) और निर्गुण (परब्रह्म) ये ब्रह्मके पृथक्-पृथक् दो स्वरूप माने गये हैं, इसलिये; (वह एक ही परमात्मा दोनों लक्षणोंवाला) **न**=नहीं हो सकता; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **प्रत्येकम् अतद्वचनात्**=क्योंकि प्रत्येक श्रुतिमें इसके विपरीत एक परब्रह्म परमेश्वरको ही दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला बताया गया है।

व्याख्या—यदि कहा जाय कि 'जहाँ परमात्माको सब श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न बताया गया है, वहाँ मायाविशिष्ट कार्यब्रह्म या अपरब्रह्मका वर्णन है तथा जहाँ उसके निर्विशेष स्वरूपका प्रतिपादन हुआ है, वही परब्रह्मका वर्णन है, इस प्रकार दोनोंका पृथक्-पृथक् वर्णन होनेके कारण दोनों एक नहीं हैं तथा उस परब्रह्म परमात्माको उभयलिङ्गवाला मानना ठीक नहीं है।' तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि अन्तर्यामि-ब्राह्मणमें पृथिवीसे लेकर जीवात्मापर्यन्त सबका अन्तर्यामी और अमृत एक ही परब्रह्म परमात्माको बताया गया है (बृह० उ० ३ । ७ । ३ से २२ तक) तथा माण्डूक्योपनिषद्में भी एक ही परब्रह्म परमात्माका वर्णन करते हुए उसे समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न (मा० उ० ६) और सर्वथा निर्विशेष (मा० उ० ७) कहा गया है।* श्वेताश्वतरोपनिषद् (३ । १, २) में उस एक ही ब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसे सूर्यके समान स्वयंप्रकाश और मायासे सर्वथा अतीत बताया गया है, फिर 'उससे श्रेष्ठ, महान् तथा सूक्ष्म दूसरा कोई नहीं है' ऐसा कहकर उसे सर्वत्र परिपूर्ण बताया है (श्वे० उ० ३ । ८, ९)। आगे चलकर उसीको आकार और दोषोंसे रहित कहा है (श्वे० उ० ३ । १०)। फिर उसके सभी जगह मुख, सिर आदि अङ्ग बताये गये हैं (श्वे० उ० ३ । ११) तथा उसे सबपर शासन करनेवाला, महान्, सबका प्रेरक, ज्ञानस्वरूप और निर्मल बताया है (श्वे० उ० ३ । १२)। तदनन्तर उस परमेश्वरको जगत्स्वरूप, सब जगह हाथ, पैर आदि अङ्गोंवाला, सब इन्द्रियोंसे युक्त

* ये दोनों मन्त्र पृष्ठ २ और ३ की टिप्पणीमें आ गये हैं।

और समस्त इन्द्रियोंसे रहित, सबका स्वामी, शासक और आश्रय बताया है।' (३ । १५-१७) । इस प्रकार वहाँ प्रत्येक श्रुति-वाक्यमें एक परब्रह्म परमेश्वरको दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त कहा गया है। उससे भिन्न अपर (कार्य) ब्रह्मका वहाँ वर्णन नहीं है; इसलिये पर और अपर ब्रह्म भिन्न-भिन्न हैं—यह कहना ठीक नहीं है। अतएव यही सिद्ध हुआ कि वह परब्रह्म परमात्मा ही निर्गुण-निराकार है और वही सगुण-साकार भी है। इन दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त होना उसका स्वभाव ही है; किसी उपाधिके कारण या कार्य-कारण-भेदसे नहीं।

सम्बन्ध—दूसरी श्रुतिके प्रमाणसे पुनः उसके एकत्वको दृढ़ करते हैं—

अपि चैवमेके ॥ ३ । २ । १३ ॥

अपि च=इसके सिवा; **एके**=किसी एकशाखावाले (विशेषरूपसे); **एवम्**= इस बातका प्रतिपादन करते हैं।

व्याख्या—तैत्तिरीयोपनिषद्‌में उस परब्रह्म परमेश्वरको सत्य, ज्ञान और अनन्त बतलाकर उसीसे समस्त जगत्‌की उत्पत्ति बतायी है (तै० उ० २ । १) तथा यह भी कहा है कि 'उसने स्वयं अपने-आपको ही इस रूपमें बनाया है' तथा उसको रसस्वरूप और सबको आनन्दयुक्त करनेवाला कहा है। फिर उसके निर्विशेष लक्षणोंका वर्णन करके उस परमात्मामें स्थिति लाभ करनेवाले साधकका निर्भय पदमें स्थित होना कहा है (तै० उ० २ । ७) । उसके बाद उसकी स्तुति करते हुए कहा है कि 'इसीके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है, इसीके भयसे अग्नि और इन्द्र तथा पाँचवाँ मृत्यु अपने-अपने कार्यमें प्रवृत्त होते हैं।' (तै० उ० २ । ८) इस प्रकार तैत्तिरीय शाखाके मन्त्रोंद्वारा भी उस एक ही परमात्माके दोनों प्रकारके लक्षणोंका कथन होनेसे भी एक ही परमेश्वरका निर्गुण और सगुण रूप होना सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—पुनः उसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा कारण प्रस्तुत करते हैं—

अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात् ॥ ३ । २ । १४ ॥

हि=क्योंकि; **अरूपवत्**=रूपरहित निर्विशेष लक्षणोंकी भाँति; **एव**=ही; **तत्प्रधानत्वात्**=उन सगुण स्वरूपके लक्षणोंकी भी प्रधानता है, इसलिये (यही सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म दोनों लक्षणोंवाला है) ।

व्याख्या—जिस प्रकार उस परब्रह्म परमात्माको निर्गुण-निराकार बतानेवाले वेदवाक्य मुख्य हैं, ठीक उसी प्रकार उसे सगुण साकार, सर्वदिव्यगुणसम्पन्न बतानेवाले वेदवाक्य भी प्रधान हैं; उनमेंसे किसी एकको मुख्य और दूसरेको गौण नहीं कहा जा सकता; क्योंकि एक ही प्रकरणमें और एक ही मन्त्रमें एक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका वर्णन करते हुए उसे दोनों लक्षणोंवाला बताया गया है (श्वे० उ० ६ । ११) अतएव रूपरहित निर्विशेष लक्षणोंकी भाँति ही सगुण साकाररूपकी भी प्रधानता ज्ञात होती है यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर दोनों लक्षणोंवाला है ।

सम्बन्ध—अब दूसरे दृष्टान्तसे उसी बातको सिद्ध करते हैं—

प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ॥ ३ । २ । १५ ॥

च=तथा; **प्रकाशवत्**=प्रकाशकी भाँति; **अवैयर्थ्यात्**=दोनोंमेंसे कोई भी लक्षण या उसके प्रतिपादक वेदवाक्य व्यर्थ नहीं हैं, इसलिये (यही सिद्ध होता है कि परमात्मा दोनों लक्षणोंवाला है) ।

व्याख्या—जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदिके दो रूप होते हैं—एक प्रकट और दूसरा अप्रकट—उन दोनोंमेंसे कोई भी व्यर्थ नहीं है, दोनों ही सार्थक हैं, उसी प्रकार उस ब्रह्मके भी दोनों रूप सार्थक हैं, व्यर्थ नहीं हैं; क्योंकि ऐसा माननेसे ही उसकी उपासना आदिकी सार्थकता होगी, दोनोंमेंसे किसी एकको प्रधान और दूसरेको गौण या अनावश्यक मान लेंगे तो उसकी सार्थकता नहीं होगी । श्रुतिमें उसके दोनों लक्षणोंका वर्णन है; श्रुतिके वचन कभी व्यर्थ नहीं हो सकते; क्योंकि वे स्वतःप्रमाण हैं, अतः उन वेदवाक्योंको सार्थकताके लिये भी ब्रह्मको सविशेष और निर्विशेष दोनों प्रकारके लक्षणोंसे युक्त मानना ही उचित है ।

सम्बन्ध—अब श्रुतिमें प्रतीत होनेवाले विरोधका दो सूत्रोंद्वारा समाधान किया जाता है—

आह च तन्मात्रम् ॥ ३ । २ । १६ ॥

तन्मात्रम्=(श्रुति उस परमात्माको) केवल सत्य, ज्ञान और अनन्तमात्र; **च**=ही; **आह**=बताती है, वहाँ सगुणवाचक शब्दोंका प्रयोग नहीं है ।

व्याख्या—ऐसी शङ्का भी नहीं करनी चाहिये कि तैत्तिरीय-श्रुतिमें 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' (तै० उ० २ । १) अर्थात् 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है'—

इस प्रकार ब्रह्मको केवल ज्ञानस्वरूप ही बताया है, सत्यसङ्कल्पत्व आदि गुणोंवाला नहीं बताया, अतः उसको दोनों लक्षणोंवाला नहीं माना जा सकता ।

सम्बन्ध—क्योंकि—

दर्शयति चाथो अपि स्मर्यते ॥ ३ । २ । १७ ॥

अथो=उक्त कथनके अनन्तर; **दर्शयति**=श्रुति उसीको अनेक रूपवाला भी दिखाती है; **च**=इसके सिवा; **स्मर्यते अपि**=स्मृतिमें भी उसके सगुण स्वरूपका वर्णन आया है ।

व्याख्या—पूर्वोक्त 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' इस मन्त्रमें आगे चलकर उस परमात्माको सबके हृदयमें निहित बताया है और उसीसे समस्त जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया है (तै० उ० २ । १); फिर उसे रस-स्वरूप, सबको आनन्द देनेवाला (२ । ७) और सबका संचालक (२ । ८) कहा है । इसलिये उस श्रुतिको केवल निर्गुणपरक मानना उचित नहीं है । इसी प्रकार स्मृतिमें भी जगह-जगह उस परब्रह्मके स्वरूपका वर्णन दोनों प्रकारसे उपलब्ध होता है । जैसे—'जो मुझे अजन्मा, अनादि और लोकमहेश्वर जानता है, वह मनुष्योंमें ज्ञानी है और सब पापोंसे मुक्त हो जाता है ।'* (गीता १० । ३) 'मुझे सब यज्ञ और तपोंका भोक्ता, सम्पूर्ण लोकोंका महान् ईश्वर, समस्त प्राणियोंका सुहृद् जानकर मनुष्य शान्तिको प्राप्त होता है ।'† (गीता ५ । २९) 'ऐसे सगुण रूपवाला मैं केवल अनन्य भक्तिके द्वारा देखा जा सकता हूँ, तत्त्वसे जाननेमें आ सकता हूँ और मुझमें प्रवेश भी किया जा सकता है ।'‡ (गीता ११ । ५४) । श्रीमद्भगवद्गीताके पंद्रहवें अध्यायमें क्षर और अक्षरका लक्षण बताकर यह स्पष्ट रूपसे कहा गया है कि 'उत्तम पुरुष इन दोनोंसे भिन्न है, जो कि परमात्मा नामसे कहा जाता है, जो तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर सबको धारण करता है

---

* यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥

† भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥

‡ भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ॥

तथा जो सबका ईश्वर एवं अविनाशी है ।'* (१५ । १७) इस प्रकार परमब्रह्म पुरुषोत्तमके सगुण स्वरूपका वर्णन करके अन्तमें यह भी कहा है कि 'जो मुझे इस प्रकार पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जाननेवाला है ।'† (१५ । १९) । इस प्रकारके बहुत-से वचन स्मृतियोंमें पाये जाते हैं, जिनमें भगवान्‌के सगुण रूपका वर्णन है और उसे वास्तविक बताया गया है । इसी तरह श्रुतियों और स्मृतियोंमें परमेश्वरके निर्गुण-निर्विशेष रूपका भी वर्णन पाया जाता है ‡ और वह भी सत्य है; इसलिये यही सिद्ध होता है कि ब्रह्म दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है ।

सम्बन्ध—उस परब्रह्म परमेश्वरका सगुणरूप उपाधि-भेदसे नहीं, किन्तु स्वाभाविक है, इसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा प्रमाण देते हैं—

अत एव चोपमा सूर्यकादिवत् ॥ ३ । २ । १८ ॥

च=और; **अत एव**=इसीलिये अर्थात् उस परमेश्वरका उभय रूप स्वाभाविक है, यह सिद्ध करनेके लिये ही; **सूर्यकादिवत्**=सूर्य आदिके प्रतिबिम्बकी भाँति; **उपमा**=उपमा दी गयी है ।

व्याख्या—'सब भूतोंका आत्मा परब्रह्म परमेश्वर एक है, तथापि वह भिन्न-भिन्न प्राणियोंमें स्थित है, अतः जलमें प्रतिबिम्बित चन्द्रमाकी भाँति एक और अनेक रूपसे भी दीखता है ।'§ (ब्रह्मबिन्दु उ० १२) इस दृष्टान्तसे यह बात दिखायी गयी है कि वह सर्वान्तर्यामी परमेश्वर सगुण और निर्गुण-भेदसे अलग-अलग नहीं, किन्तु एक ही है; तथापि प्रत्येक जीवात्मामें अलग-अलग दिखायी दे रहा है । यहाँ चन्द्रमाके प्रतिबिम्बका दृष्टान्त देकर यह भाव दिखाया गया है कि जैसे सूर्य और चन्द्रमा आदिमें जो प्रकाश गुण है, वह स्वाभाविक है, उपाधिसे नहीं है; उसी प्रकार परमात्मामें भी सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व

---

* उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥

† यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।
स सर्वविद् ············ ॥

‡ देखिये कठोपनिषद् १ । ३ । १५, मुण्डक० १ । १ । ६ तथा माण्डूक्य० ७ ।

§ एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः ।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥

और सर्वव्यापित्वादि गुण स्वाभाविक हैं, उपाधिसे नहीं हैं। दूसरा यह भाव दिखाया है कि जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलमें अलग-अलग दीखता हुआ भी एक है, उसी प्रकार परमात्मा सब प्राणियोंमें अन्तर्यामीरूपसे अलग-अलगकी भाँति स्थित हुआ भी एक ही है, तथा वह सबमें रहता हुआ भी उन-उनके गुण-दोषोंसे अलिप्त है। गीताके निम्नाङ्कित वचनसे भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि होती है 'अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।' 'वह परमात्मा विभागरहित है तो भी विभक्तकी भाँति सब प्राणियोंमें स्थित है' इत्यादि (गी० १३ । १६) यही उसकी विचित्र महिमा है।

सम्बन्ध—यहाँ प्रतिबिम्बका दृष्टान्त दिया जानेके कारण यह भ्रम हो सकता है कि परमात्माका सब प्राणियोंमें रहना प्रतिबिम्बकी भाँति मिथ्या ही है, वास्तवमें नहीं है; अतः इस भ्रमकी निवृत्तिके लिये अगला सूत्र कहते हैं—

अम्बुवदग्रहणात्तु न तथात्वम् ॥ ३ । २ । १९ ॥

तु=किन्तु; **अम्बुवत्**=जलमें स्थित चन्द्रमाकी भाँति; **अग्रहणात्**=परमात्माका ग्रहण न होनेके कारण (उस परमेश्वरको); **तथात्वम्**=सर्वथा वैसा; **न**=नहीं समझना चाहिये।

व्याख्या—पूर्व सूत्रमें परमेश्वरको समस्त प्राणियोंमें स्थित बताते हुए जलमें दीखनेवाले चन्द्रमाका दृष्टान्त दिया; किन्तु पूर्णतया वह दृष्टान्त परमात्मामें नहीं घटता; क्योंकि चन्द्रमा वस्तुतः जलमें नहीं है, केवल उसका प्रतिबिम्ब दीखता है। किन्तु परमात्मा तो स्वयं सबके हृदयमें सचमुच ही स्थित है और उन-उन जीवोंके कर्मानुसार उनको अपनी शक्तिके द्वारा संसारचक्रमें भ्रमण कराता है (गीता १८ । ६१)। अतः चन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति परमेश्वरकी स्थिति नहीं है। यहाँ दृष्टान्तका केवल एक अंश लेकर ऐसा समझना चाहिये कि परमेश्वर एक होकर भी नाना-सा दीखता है, वास्तवमें वह नाना नहीं है, तथापि सर्वशक्तिमान् होनेके कारण अलग-अलग प्राणियोंमें एक रूपसे स्थित है।

सम्बन्ध—यदि ऐसी बात है तो प्रतिबिम्बका दृष्टान्त क्यों दिया गया? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

वृद्धिह्रासभाक्त्वमन्तर्भावादुभयसामञ्जस्यादेवम् ॥ ३ । २ । २० ॥

अन्तर्भावात्=शरीरके भीतर स्थित होनेके कारण; **वृद्धिह्रासभाक्त्वम्**=शरीरकी भाँति परमात्माके बढ़ने-घटनेवाला होनेकी सम्भावना होती है, अतः (उसके निषेधमें); **उभयसामञ्जस्यात्**=परमात्मा और चन्द्रप्रतिबिम्ब—इन दोनोंकी समानता है, इसलिये; **एवम्**=इस प्रकारका दृष्टान्त दिया गया है ।

व्याख्या—उपमा उपमेय वस्तुके किसी एक अंशकी समानताको लेकर दी जाती है । पूर्णतया दोनोंकी एकता हो जाय तब तो वह उपमा ही नहीं कही जायगी; अपितु वास्तविक वर्णन हो जायगा । अतः यहाँ जिस प्रकार चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब जलमें रहता हुआ भी जलके घटने-बढ़ने आदि विकारोंसे सम्बद्ध नहीं होता, वैसे ही परब्रह्म परमेश्वर सबमें रहता हुआ भी निर्विकार रहता है, उनके घटने-बढ़ने आदि किसी भी विकारसे वह लिप्त नहीं होता । इतना ही आशय इस दृष्टान्तका है, इसलिये इस दृष्टान्तसे यह शङ्का नहीं करनी चाहिये कि परमात्माकी सब प्राणियोंमें जो स्थिति बतायी गयी है, वह भी चन्द्रमाके प्रतिबिम्बकी भाँति अवास्तविक (झूठी) होगी ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे पुनः उस भ्रमकी निवृत्ति की जाती है—

दर्शनाच्च ॥ ३ । २ । २१ ॥

दर्शनात्=श्रुतिमें दूसरे दृष्टान्त देखे जाते हैं, इसलिये; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि परमात्माकी स्थिति प्रतिबिम्बकी भाँति अवास्तविक नहीं है) ।

व्याख्या—कठोपनिषद् (२ । २ । ९)में कहा है कि—

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥

'जिस प्रकार समस्त ब्रह्माण्डमें प्रविष्ट हुआ एक ही अग्नि नाना रूपोंमें उनके सदृश रूपवाला हो रहा है, उसी प्रकार सब प्राणियोंका अन्तरात्मा परमेश्वर एक होता हुआ ही नाना रूपोंमें प्रत्येकके रूपवाला-सा हो रहा है तथा उनके बाहर भी है ।' अग्निकी ही भाँति वहाँ वायु और सूर्यके दृष्टान्तसे भी परमेश्वरकी वस्तुगत गुण-दोषसे निर्लेपता सिद्ध की गयी है । (क० उ० २ । २ । १०-११) इस प्रकार प्रतिबिम्बके अतिरिक्त दूसरे दृष्टान्त, जो उस ब्रह्मकी स्थितिके सत्यत्वका प्रतिपादन करनेवाले हैं, वेदमें देखे जाते हैं; इसलिये भी प्राणियोंमें और प्रत्येक वस्तुमें उस परब्रह्म परमेश्वरकी स्थिति प्रतिबिम्बकी भाँति आभासमात्र नहीं; किन्तु

सत्य है । अतएव वह सगुण और निर्गुण दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है, यही मानना युक्तिसङ्गत है ।

सम्बन्ध—यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि परब्रह्म परमेश्वर दोनों प्रकारके लक्षणोंवाला है । अब यह जिज्ञासा होती है कि वेदमें ब्रह्मको दोनों प्रकारवाला बताकर अन्तमें जो ऐसा कहा गया है 'नेति नेति' अर्थात् ऐसा नहीं है, ऐसा नहीं है, इन निषेधपरक श्रुतियोंका क्या अभिप्राय है ? अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः ॥ ३ । २ । २२ ॥

प्रकृतैतावत्त्वम्=प्रकरणमें जो ब्रह्मके लक्षण बताये गये हैं, उनकी इयत्ताका; **प्रतिषेधति**='नेति नेति' श्रुति निषेध करती है; **हि**=क्योंकि; **ततः**=उसके बाद; **भूयः**=दुबारा; **ब्रवीति च**=कहती भी है ।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्में ब्रह्मके मूर्त्त और अमूर्त्त दो रूप बताकर प्रकरण आरम्भ किया गया है । वहाँ भौतिक जगत्में तो पृथिवी, जल और तेज—इन तीनोंको उनके कार्यसहित, मूर्त्त बताया है तथा वायु और आकाशको अमूर्त्त कहा है । उसी प्रकार आध्यात्मिक जगत्में प्राण और हृदयाकाशको अमूर्त्त तथा उससे भिन्न शरीर और इन्द्रियगोलकादिको मूर्त्त बताया है । उनमेंसे जिनको मूर्त्त बताया, उनको नाशवान् अर्थात् उस रूपमें न रहनेवाले, किन्तु प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेके कारण 'सत्' कहा, उसी प्रकार अमूर्तको अमृत अर्थात् नष्ट न होनेवाला बतलाया । इस प्रकार उन जड तत्त्वोंका विवेचन करते समय ही आधिभौतिक जगत्में सूर्यमण्डलको और आध्यात्मिक जगत्में नेत्रको मूर्त्तका सार बताया है । इसी प्रकार आधिदैविक जगत्में सूर्यमण्डलस्थ पुरुषको और आध्यात्मिक जगत्में नेत्रस्थ पुरुषको अमूर्त्तका सार कहा है । इस तरह सगुण परमेश्वरके साकार और निराकार—इन दो रूपोंका वर्णन करके फिर कहा गया है कि 'नेति नेति' अर्थात् इतना ही नहीं, इतना ही नहीं । इससे बढ़कर कोई उपदेश नहीं है । तदनन्तर यह बताया गया है 'उस परम तत्त्वका नाम सत्यका सत्य है, यह प्राण अर्थात् जीवात्मा सत्य है और उसका भी सत्य वह परब्रह्म परमेश्वर है ।' (बृह० उ० २ । ३ । १—६) । इस प्रकार उस परमेश्वरके साकार रूपका

वर्णन करके यह भाव दिखाया गया कि इनमें जो जड अंश है, वह तो उसकी अपरा प्रकृतिका विस्तार है और जो चेतन है, वह जीवात्मारूप उसकी परा प्रकृति है और इन दोनों सत्योंका आश्रयभूत वह परब्रह्म परमेश्वर इनसे भी पर अर्थात् श्रेष्ठ है। अतः यहाँ 'नेति नेति' श्रुति सगुण परमात्माका प्रतिषेध करनेके लिये नहीं है; किन्तु इसकी इयत्ता अर्थात् वह इतना ही है, इस परिमित भावका निषेध करके उस परमेश्वरकी असीमता—अनन्तता सिद्ध करनेके लिये है। इसीलिये 'नेति नेति' कहकर सत्यके सत्य परमेश्वरका होना सिद्ध किया गया है। अतः यह परब्रह्म परमेश्वर केवल निर्गुण निर्विशेष ही है, सगुण नहीं; ऐसी बात नहीं समझनी चाहिये।

सम्बन्ध—उस परब्रह्म परमात्माके सगुण और निर्गुण दोनों ही स्वरूप वास्तवमें प्राकृत मन-बुद्धि और इन्द्रियोंसे अतीत हैं, इस भावको स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

तदव्यक्तमाह हि ॥ ३ । २ । २३ ॥

हि=क्योंकि (श्रुति); **तत्**=उस सगुण रूपको; **अव्यक्तम्**=इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आनेवाला; **आह**=कहती है।

व्याख्या—केवल निर्गुण-निराकाररूपसे ही वह परब्रह्म परमेश्वर अव्यक्त अर्थात् मन-इन्द्रियोंद्वारा जाननेमें न आनेवाला है, इतना ही नहीं, इसीकी भाँति उसका सगुण स्वरूप भी इन प्राकृत मन और इन्द्रिय आदिका विषय नहीं है; क्योंकि श्रुति और स्मृतियोंमें उसको भी अव्यक्त कहा गया है। मुण्डकोपनिषद्में पहले परमेश्वरके सगुण स्वरूपका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥

'जब यह द्रष्टा (जीवात्मा) सबके शासक, ब्रह्माके भी आदिकारण, समस्त जगत्के रचयिता, दिव्यप्रकाशस्वरूप परम पुरुष परमात्माको प्रत्यक्ष कर लेता है, उस समय पुण्य-पाप दोनोंको भलीभाँति धो-बहाकर निर्मल हुआ ज्ञानी सर्वोत्तम समताको प्राप्त कर लेता है।' (मु० उ० ३ । १ । ३) इसके बाद चौथेसे सातवें मन्त्रतक सत्य, तप और ज्ञान आदिको उसकी प्राप्तिका उपाय बताया गया। फिर अनेक विशेषणोंद्वारा उसके स्वरूपका वर्णन करके अन्तमें कहा है—

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा।

'यह परमात्मा न तो नेत्रोंसे, न वाणीसे, न दूसरी इन्द्रिय या मनसे और न कर्मोंसे ही देखा जा सकता है।' इसी प्रकारका वर्णन अन्यान्य श्रुतियोंमें भी है, विस्तारभयसे यहाँ अधिक प्रमाण नहीं दिये गये हैं।

सम्बन्ध—इससे यह नहीं समझना चाहिये कि परब्रह्म परमेश्वरका किसी भी अवस्थामें प्रत्यक्ष दर्शन नहीं होता; क्योंकि—

अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ॥ ३ । २ । २४ ॥

अपि च=इस प्रकार अव्यक्त होनेपर भी; **संराधने**=आराधना करनेपर (उपासक परमेश्वरका प्रत्यक्ष दर्शन पाते हैं); **प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्**=यह बात वेद और स्मृति—दोनोंके ही कथनसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतियों और स्मृतियोंमें जहाँ सगुण और निर्गुण परमेश्वरको इन्द्रियादिके द्वारा देखनेमें न आनेवाला बताया है, वहीं यह भी कहा है कि वह परमात्मा नामजप, स्मरण, ध्यान आदि आराधनाओंद्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला भी है। (मु० उ० ३ । १ । ८ श्वेता० १ । ३, १०; २ । १५ तथा श्रीमद्भगवद्गीता ११ । ५४)। इस तरहके अनेक प्रमाण हैं। वेद और स्मृतियों-के इन वचनोंमें उस सगुण-निर्गुणस्वरूप परब्रह्म परमात्माको आराधनाके द्वारा प्रत्यक्ष होनेवाला बताया गया है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि उसके प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—'हे अर्जुन! अनन्य भक्तिके द्वारा ही मुझे तत्त्वसे जाना जा सकता है। मेरा दर्शन हो सकता और मुझमें प्रवेश किया जा सकता है।' (११ । ५४) इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर अवश्य है और वह सगुण तथा निर्गुण — दोनों ही लक्षणोंवाला है।

सम्बन्ध—उस परमेश्वरका स्वरूप आराधनासे जाननेमें आता है, अन्यथा नहीं, इस कथनसे तो यह सिद्ध होता है कि वास्तवमें परमात्मा निर्विशेष ही है, केवल भक्तके लिये आराधनाकालमें सगुण होता है; ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—

प्रकाशादिवच्चावैशेष्यं प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात् ॥ ३ । २ । २५ ॥

प्रकाशादिवत्=अग्नि आदिके प्रकाशादि गुणोंकी भाँति; **च**=ही; **अवैशेष्यम्**=(परमात्मामें भी) भेद नहीं है; **प्रकाशः**=प्रकाश; **च**=भी; **कर्मणि**=कर्ममें; **अभ्यासात्**=अभ्यास करनेसे ही (प्रकट होता है)।

व्याख्या—जिस प्रकार अग्नि और बिजली आदि तत्त्व प्रकाश और उष्णता आदि गुणोंसे युक्त हैं, उनका वह रूप जब प्रकट हो, उस अवस्थामें भी वे उन-उन स्वाभाविक गुणोंसे युक्त हैं और प्रकट न हो—छिपा हो, उस समय भी वे उन गुणोंसे युक्त हैं। व्यक्त और अव्यक्त स्थितिमें उन स्वाभाविक गुणोंसे युक्त होनेमें कोई अन्तर नहीं आता। उसी प्रकार वह परमेश्वर उपासनाद्वारा प्रत्यक्ष होनेके समय जिस प्रकार समस्त कल्याणमय विशुद्ध दिव्य-गुणोंसे सम्पन्न है, वैसे ही अप्रकट अवस्थामें भी है; ऐसा समझना चाहिये। अग्नि आदि तत्त्वोंको प्रकट करनेके लिये जो साधन बताये गये हैं, उनका अभ्यास करनेपर ही वे अपने गुणोंसहित प्रकट होते हैं। उसी प्रकार आराधना करनेपर अप्रकट परमेश्वरका प्रकट हो जाना उचित ही है।

सम्बन्ध—उभयलिङ्गवाले प्रकरणको समाप्त करते हुए अन्तमें कहते हैं—

अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ॥ ३ । २ । २६ ॥

अतः=इन ऊपर बताये हुए कारणोंसे यह सिद्ध हुआ कि; **अनन्तेन**=(वह ब्रह्म) अनन्त दिव्य कल्याणमय गुण-समुदायसे सम्पन्न है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=वैसे ही; **लिङ्गम्**=लक्षण उपलब्ध होते हैं।

व्याख्या—पूर्वोक्त कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि वह परब्रह्म परमेश्वर सत्यसङ्कल्पता, सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, सौहार्द, पतितपावनता, आनन्द, विज्ञान, असङ्गता और निर्विकारता आदि असंख्य कल्याणमय गुण-समुदायसे सम्पन्न और निर्विशेष—समस्त गुणोंसे रहित भी है, क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही लक्षण मिलता है (श्वे० उ० ३ । ८—२१)।

सम्बन्ध—अब परम पुरुष और उसकी प्रकृति भिन्न है या अभिन्न? इस विषयपर विचार करनेके लिये प्रकरण आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले यह बात बतायी जाती है कि शक्ति और शक्तिमान्में किस प्रकार अभेद है—

उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत् ॥ ३ । २ । २७ ॥

उभयव्यपदेशात्=दोनों प्रकारका कथन होनेसे; **अहिकुण्डलवत्**=सर्पके कुण्डलाकारत्वकी भाँति; **तु**=ही (उसका भाव समझना चाहिये)।

व्याख्या—जिस प्रकार सर्प कभी सङ्कुचित हो कुण्डलाकार हो जाता है और कभी अपनी साधारण अवस्थामें रहता है; किन्तु दोनों अवस्थाओंमें वह सर्प एक ही है। साधारण अवस्थामें रहना उसका कारणभाव है, उस समय उसकी कुण्डलादिभावमें प्रकट होनेकी शक्ति अप्रकट है, तथापि वह उसमें विद्यमान है और उससे अभिन्न है। एवं कुण्डलादि आकारमें स्थित होना उसका कार्यभाव है, यही उसकी पूर्वोक्त अप्रकट शक्तिका प्रकट होना है। उसी प्रकार वह परब्रह्म जब कारण-अवस्थामें रहता है, उस समय उसकी अपरा तथा परा प्रकृति-रूप दोनों शक्तियाँ सृष्टिके पूर्व उसमें अभिन्नरूपसे विद्यमान रहती हुई भी अप्रकट रहती हैं और वही जब कार्यरूपमें स्थित होता है, तब उसकी उक्त दोनों शक्तियाँ ही भिन्न-भिन्न नाम-रूपोंमें प्रकट हो जाती हैं। अतः श्रुतिमें जो ब्रह्मको निर्विशेष बताया गया है, वह उसकी कारणावस्थाको लेकर है और जो उसे अपनी शक्तियोंसे युक्त एवं सविशेष बताया है, वह उसकी कार्यावस्थाको लेकर है। इस प्रकार श्रुतिमें उसके कारण और कार्य दोनों स्वरूपोंका वर्णन हुआ है, इसलिये यह सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमात्मामें उसकी शक्ति सदा ही अभिन्न रूपसे विद्यमान रहती है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उसी बातको सिद्ध करते हैं—

प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात् ॥ ३ । २ । २८ ॥

वा=अथवा; **प्रकाशाश्रयवत्**=प्रकाश और उसके आश्रयकी भाँति उनका अभेद है; **तेजस्त्वात्**=क्योंकि तेजकी दृष्टिसे दोनों एक ही हैं।

व्याख्या—जिस प्रकार प्रकाश और उसका आश्रय सूर्य वास्तवमें तेजकी दृष्टिसे अभिन्न हैं तो भी दोनोंको पृथक्-पृथक् कहा जाता है, उसी प्रकार परमेश्वर और उसकी शक्ति-विशेष वास्तवमें अभिन्न होनेपर भी उनका अलग-अलग वर्णन किया जाता है। भाव यह कि प्रकाश और सूर्यकी भाँति परमात्मा और उसकी प्रकृतिमें परस्पर भेद नहीं है तो भी इनमें भेद माना जा सकता है।

सम्बन्ध—पुनः उसी बातको समझानेके लिये कहते हैं—

पूर्ववद्वा ॥ ३ । २ । २९ ॥

वा=अथवा; **पूर्ववत्**=जिस प्रकार पहले सिद्ध किया जा चुका है, वैसे ही (दोनोंका अभेद समझ लेना चाहिये)।

व्याख्या—अथवा पहले (सूत्र २ । ३ । ४३ में) जिस प्रकार परमात्माका अपने अंशभूत जीवसमुदायसे अभेद सिद्ध किया गया है, उसी प्रकार यहाँ शक्ति और शक्तिमान्‌का अभेद समझ लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—शक्ति और शक्तिमान्‌के अभेदका मुख्य कारण बताते हैं—

प्रतिषेधाच्च ॥ ३ । २ । ३० ॥

च=तथा; **प्रतिषेधात्**=दूसरेका प्रतिषेध होनेसे (भी अभेद ही सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि 'यह जगत् प्रकट होनेसे पहले एकमात्र परमात्मा ही था, दूसरा कोई भी चेष्टा करनेवाला नहीं था (ऐ० उ० १ । १ । १) । इस कथनमें अन्यका प्रतिषेध होनेके कारण भी यही समझा जाता है कि जगत्‌की उत्पत्तिके पहले प्रलयकालमें उस परब्रह्म परमेश्वरकी दोनों प्रकृतियाँ उसमें विलीन रहती हैं; अतः उनमें किसी प्रकारके भेदकी प्रतीति नहीं होती है; इसीलिये उनका अभेद बताया गया है ।

सम्बन्ध—यहाँतक उस परब्रह्म परमात्माका अपनी दोनों प्रकृतियोंसे अभेद किस प्रकार है ? इसका स्पष्टीकरण किया गया । अब उन दोनोंसे उसकी विलक्षणता और श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—

परमतः सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः ॥ ३ । २ । ३१ ॥

अतः=इस जड-चेतनरूप दोनों प्रकृतियोंके समुदायसे; **परम्**=(वह ब्रह्म) अत्यन्त श्रेष्ठ है; **सेतून्मानसंबन्धभेदव्यपदेशेभ्यः**=क्योंकि श्रुतिमें सेतु, उन्मान, सम्बन्ध तथा भेदका वर्णन (करके यही सिद्ध) किया गया है ।

व्याख्या—इस जड-चेतनात्मक समस्त जगत्‌की कारणभूता जो भगवान्‌की अपरा एवं परा नामवाली दो प्रकृतियाँ हैं (गीता ७ । ४, ५), श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । १०) में जिनका 'क्षर' और 'अक्षर' के नामसे वर्णन हुआ है, श्रीमद्भगवद्गीतामें कहीं क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके नामसे (१३ । १) तथा कहीं प्रकृति और पुरुषके नामसे (१३ । १९) जिनका उल्लेख किया गया है, उन दोनों प्रकृतियोंसे तथा उन्हींके विस्ताररूप इस दृश्य जगत्‌से वह परब्रह्म पुरुषोत्तम सर्वथा विलक्षण एवं परम श्रेष्ठ है (गीता १५ । ७) । क्योंकि वेदमें उसकी श्रेष्ठताको सिद्ध करनेवाले चार हेतु उपलब्ध होते हैं—१ सेतु, २ उन्मान, ३ सम्बन्ध

और ४ भेदका वर्णन । सेतुका वर्णन श्रुतिमें इस प्रकार आया है—'अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिः ।' (छा० उ० ८ । ४ । १)—'यह जो परमात्मा है, यही सबको धारण करनेवाला सेतु है ।' 'एष सेतुर्विधरणः' (बृह० उ० ४ । ४ । २२)—'यह सबको धारण करनेवाला सेतु है ।' इत्यादि । दूसरा हेतु है उन्मानका वर्णन । उन्मानका अर्थ है सबसे बड़ा माप—महत् परिमाण । श्रुतिमें उस परमेश्वरको सबसे बड़ा बताया गया है—'तावानस्य महिमा ततो ज्यायाꣳश्च पूरुषः । पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि ।' (छा० उ० ३ । १२ । ६)—'उतनी उसकी महिमा है, वह परम पुरुष परमात्मा इससे भी श्रेष्ठ है । सम्पूर्ण भूत-प्राणी इसका एक पाद हैं और शेष तीन अमृतस्वरूप पाद अप्राकृत परमधाममें हैं ।' तीसरा हेतु है सम्बन्धका प्रतिपादन । परब्रह्म परमेश्वरको पूर्वोक्त प्रकृतियोंका स्वामी, शासक एवं सञ्चालक बताकर श्रुतिने इनमें स्वामि-सेवकभाव, शास्य-शासकभाव तथा नियन्तृ-नियन्तव्य-भावरूप सम्बन्धका उपपादन किया है । जैसे—'ईश्वरोंके भी परम महेश्वर, देवताओंके भी परम देवता, पतियोंके भी परम पति, समस्त ब्रह्माण्डके स्वामी एवं स्तुति करनेयोग्य उस प्रकाशस्वरूप परमात्माको हम जानते हैं ।'* (श्वेता० उ० ६।७) 'वह ज्ञानस्वरूप परमात्मा सबका स्रष्टा, सर्वज्ञ, स्वयं ही अपने प्राकट्यका हेतु, कालका भी महाकाल, समस्त कल्याणमय गुणोंसे सम्पन्न और सबको जाननेवाला है । वह प्रकृति और जीवात्माका स्वामी, समस्त गुणोंका शासक तथा जन्म-मृत्यु-रूप संसारमें बाँधने, स्थित रखने और उससे मुक्त करनेवाला है ।'† चौथा हेतु है भेदका प्रतिपादन । उस परब्रह्म परमात्माको इन दोनों प्रकृतियोंका अन्तर्यामी एवं धारण-पोषण करनेवाला बताकर तथा अन्य प्रकारसे भी श्रुतिने इनसे उसकी भिन्नताका निरूपण किया है ।‡

---

* यह मन्त्र पृष्ठ ७७ में आ चुका है ।

† स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकारो गुणी सर्वविद् यः ।
प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संꣳसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ॥(श्वेता० ६।१६)

‡ देखिये (श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४ के ६, ७, ८–१४-१५ आदि मन्त्र), (मु० उ० ३ । १ । १, २), (श्वेता० उ० १ । ९), (बृह० उ० ३ । ४ । १-२ तथा ३ । ७ । १ से २३ तक) ।

इन सब कारणोंसे यही सिद्ध होता है कि वह सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सर्वाधार, सबका स्वामी परमात्मा अपनी दोनों प्रकृतियोंसे अत्यन्त विलक्षण और परम श्रेष्ठ है; क्योंकि इन श्रुतियोंमें कहा हुआ उन परमात्माका स्वरूप दिव्य, अलौकिक और उपाधिरहित है तथा उस परब्रह्मको जाननेका फल परम शान्तिकी प्राप्ति,* सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होना† तथा अमृतको प्राप्त होना बताया गया है ।‡

सम्बन्ध—यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि उस परब्रह्म परमात्माका अपनी अपरा और परा नामक प्रकृतियोंके साथ अभेद भी है और भेद भी। अब यह जिज्ञासा होती है कि इन दोनोंमेंसे अभेदपक्ष उत्तम है या भेदपक्ष? अतः इसका निर्णय करनेके लिये सूत्रकार कहते हैं—

सामान्यात्तु ॥ ३ । २ । ३२ ॥

सामान्यात्=श्रुतिमें भेद-वर्णन और अभेद-वर्णन दोनों समानभावसे हैं इससे; **तु**=तो (यही निश्चय होता है कि भेद और अभेद दोनों ही पक्ष मान्य हैं)।

*व्याख्या—*परब्रह्म परमात्माको सबका ईश्वर§, अधिपति×, प्रेरक+, शासक÷ और अन्तर्यामी= बतानेवाली भेदप्रतिपादक श्रुतियाँ जिस प्रकार प्रमाणभूत हैं, उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६ । ८ वेंसे १६ वें खण्डतक)—'वह ब्रह्म तू है', 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० उ० २ । ५ । १९)—'यह आत्मा

---

* तमीशानं वरदं देवमीड्यं निचाय्येमां शान्तिमत्यन्तमेति। (श्वेता० उ० ४ । ११)
'ज्ञात्वा शिवं शान्तिमत्यन्तमेति ।' (श्वेता० उ० ४ । १४)
'तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥'
(क० उ० २ । २ । १३)

† ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः । (श्वेता० उ० १ । ११)

‡ तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय । (श्वेता० उ० ३ । ८)

§ 'एष सर्वेश्वरः' (मा० उ० ६)

× 'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिः ।' (बृह० उ० ४ । ४ । २२)

\+ 'भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा' (श्वेता० उ० १ । १२)

÷ 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः'
(बृह० उ० ३ । ८ । ९)

= 'एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः ।' (बृह० उ० ३ । ७ । ३)

ब्रह्म है ।' इत्यादि अभेदप्रतिपादक श्रुतियाँ भी प्रमाण हैं । दोनोंकी प्रामाणिकता-में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर नहीं है । इसलिये किसी एक पक्षको श्रेष्ठ और दूसरेको इसके विपरीत बताना कदापि सम्भव नहीं है । अतः भेद और अभेद दोनों ही पक्ष मान्य हैं ।

सम्बन्ध—श्रुतिमें कहीं तो उस ब्रह्मको अपनेसे भिन्न मानकर उसकी उपासना करनेके लिये कहा है; यथा—'तꣳह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये' (श्वेता० उ० ६ । १८)—'परमात्मज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले उन प्रसिद्ध देव परमेश्वरकी मैं संसारबन्धनसे छूटनेकी इच्छावाला उपासक शरण लेता हूँ ।' इस मन्त्रके अनुसार उपासक अपनेसे भिन्न उपास्य-देवकी शरण ग्रहण करता है । इससे भेदोपासना सिद्ध होती है और कहीं 'तत्त्वमसि' (छा० उ० ६ । ८ । ७)—'वह ब्रह्म तू है ।' 'अयमात्मा ब्रह्म' (बृह० उ० २ । ५ । १९)—'यह आत्मा ब्रह्म है ।' तथा 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत' (छा० उ० ३ । १४ । १)—'यह सब जगत् ब्रह्म है; क्योंकि उसीसे उत्पन्न होता, उसीमें रहकर जीवन धारण करता और उसीमें लीन हो जाता है; इस प्रकार शान्तचित्त होकर उपासना करे ।' इत्यादि वचनोंद्वारा केवल अभेदभावसे उपासनाका उपदेश मिलता है । इस प्रकार कहीं भेदभावसे और कहीं अभेदभावसे उपासनाके लिये आदेश देनेका क्या अभिप्राय है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

बुद्ध्यर्थः पादवत् ॥ ३ । २ । ३३ ॥

पादवत्=अवयवरहित परमात्माके चार पाद बताये जानेकी भाँति; **बुद्ध्यर्थः**=मनन-निदिध्यासन आदि उपासनाके लिये वैसा उपदेश है ।

व्याख्या—जिस प्रकार अवयवरहित एकरस परब्रह्म पुरुषोत्तमका तत्त्व समझानेके लिये उसके चार पादोंकी कल्पना करके श्रुतिमें उसके स्वरूपका वर्णन किया गया है, (मा० उ० २) उसी प्रकार पूर्वोक्त रीतिसे भेद या अभेदभावसे उपासनाका उपदेश उस परमात्माके तत्त्वका बोध करानेके लिये ही किया गया है; क्योंकि साधककी प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है । कोई भेदोपासनाको ग्रहण करते हैं, कोई अभेदोपासनाको । किसी भी भावसे उपासना करनेवाला साधक एक ही लक्ष्यपर पहुँचता है । दोनों प्रकारकी उपासनाओंसे होनेवाला तत्त्वज्ञान और भगवत्प्राप्तिरूप फल एक ही है । अतः परमात्माके तत्त्वका

बोध करानेके लिये साधककी प्रकृतिके अनुसार श्रुतिमें भेद या अभेद उपासनाका वर्णन सर्वथा उचित ही है।

सम्बन्ध—*यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि ब्रह्म और उसकी दोनों प्रकृतियोंमें भेद नहीं है तो ब्रह्मकी परा प्रकृतिरूप जो जीव-समुदाय हैं, उनमें भी परस्पर भेद सिद्ध नहीं होगा। ऐसा सिद्ध होनेसे श्रुतियोंमें जो उसके नानात्व-का वर्णन है, उसकी संगति कैसे होगी? इसपर कहते हैं*—

स्थानविशेषात् प्रकाशादिवत् ॥ ३ । २ । ३४ ॥

प्रकाशादिवत्=प्रकाश आदिकी भाँति; **स्थानविशेषात्**=शरीररूप स्थानकी विशेषताके कारण (उनमें नानात्व आदि भेदका होना विरुद्ध नहीं है)।

व्याख्या—जिस प्रकार सभी प्रकाशमान पदार्थ प्रकाश-जातिकी दृष्टिसे एक हैं, किन्तु दीपक, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अग्नि, सूर्य, चन्द्र आदिमें स्थान और शक्तिका भेद होनेके कारण इन सबमें परस्पर भेद एवं नानात्व है ही; उसी प्रकार चैतन्य-धर्मको लेकर सब जीव-समुदाय अभिन्न हैं, तथापि जीवोंके अनादि कर्म-संस्कारोंका जो समूह है, उसके अनुसार फलरूपमें प्राप्त हुए शरीर, बुद्धि एवं शक्ति आदिके तारतम्यसे उनमें परस्पर भेद होना असङ्गत नहीं है।

सम्बन्ध—*उसी बातको दृढ करनेके लिये कहते हैं*—

उपपत्तेश्च ॥ ३ । २ । ३५ ॥

उपपत्तेः=श्रुतिकी संगतिसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जगत्‌की उत्पत्तिसे पहले एकमात्र अद्वितीय परमात्माकी ही सत्ता बतायी गयी है। फिर उसीसे सबकी उत्पत्तिका वर्णन करके उसे सबका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण सिद्ध किया गया है। उसके बाद 'तत्त्वमसि' (वह ब्रह्म तू है) इत्यादि वचनोंद्वारा उस परमात्माको अपनेसे अभिन्न मानकर उसकी उपासना करनेके लिये उपदेश दिया गया है। फिर उसीको भोक्ता, भोग्य आदिसे युक्त इस विचित्र जड-चेतनात्मक जगत्‌का स्रष्टा, सञ्चालक तथा जीवोंके कर्मफल-भोग एवं बन्ध-मोक्षकी व्यवस्था करनेवाला कहा गया है। जीवसमुदाय तथा उनके कर्मसंस्कारोंको अनादि बताकर उनकी उत्पत्तिका निषेध किया गया है। इन सब प्रसङ्गोंपर विचार करनेसे यही सिद्ध होता है कि जीव-समुदाय चैतन्य-जातिके कारण तो परस्पर एक या अभिन्न हैं; परन्तु विभिन्न कर्म-संस्कारजनित

सीमित व्यक्तित्वके कारण भिन्न-भिन्न हैं। प्रयलकालमें सब जीव ब्रह्ममें विलीन होते हैं, सृष्टिके समय पुनः उसीसे प्रकट होते हैं तथा ब्रह्मकी ही परा प्रकृतिके अन्तर्गत होनेसे उसीके अंश हैं; इसलिये तो वे परमात्मासे अभिन्न कहलाते हैं और परमात्मा उनका नियामक है तथा समस्त जीव उसके नियम्य हैं, इस कारण वे उस ब्रह्मसे भी भिन्न हैं और परस्पर भी। यही मानना युक्तिसङ्गत है।

सम्बन्ध—इसी बातको पुनः दृढ करते हैं—

तथान्यप्रतिषेधात् ॥ ३ । २ । ३६ ॥

तथा=उसी प्रकार; **अन्यप्रतिषेधात्**=दूसरेका निषेध किया गया है इसलिये भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जगह-जगह परब्रह्म परमात्मासे भिन्न दूसरी किसी वस्तुकी सत्ताका निषेध किया गया है। (क० उ० २ । १ । ११) इससे भी यही सिद्ध होता है कि अपनी अपरा और परा दोनों शक्तियोंसे सम्पन्न वह परब्रह्म परमात्मा ही नाना रूपोंमें प्रकट हो रहा है। उसकी दोनों प्रकृतियोंमें नानात्व होनेपर भी उसमें कोई भेद नहीं है। वह सर्वथा निर्विकार, असंग, भेदरहित और अखण्ड है।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त बातको ही सिद्ध करनेके लिये दूसरी युक्ति प्रस्तुत करते हैं—

अनेन सर्वगतत्वमायामशब्दादिभ्यः ॥ ३ । २ । ३७ ॥

अनेन=इस प्रकार भेद और अभेदके विवेचनसे; **आयामशब्दादिभ्यः**=तथा श्रुतिमें जो ब्रह्मकी व्यापकताको सूचित करनेवाले शब्द आदि हेतु हैं, उनसे भी; **सर्वगतत्वम्**=उस ब्रह्मका सर्वगत (सर्वत्र व्यापक) होना सिद्ध होता है।

व्याख्या—'उस सर्वश्रेष्ठ पुरुषोत्तमसे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण हो रहा है।' (श्वेता० उ० ३ । ९ तथा ईशा० १) 'परम पुरुष वह है जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है (गीता ८ । २२) इत्यादि श्रुति और स्मृतिके वचनोंमें जो परमात्माकी सर्वव्यापकताको सूचित करनेवाले 'सर्वगत' आदि शब्द प्रयुक्त हुए हैं, उनसे तथा उपर्युक्त विवेचनसे भी यही सिद्ध होता है कि वह परमात्मा सर्वत्र व्यापक है। सर्वथा अभेद मान लेनेसे इस व्याप्य-व्यापक भावकी सिद्धि नहीं होगी। अतः यही निश्चय हुआ कि परब्रह्म पुरुषोत्तम अपनी दोनों प्रकृतियोंसे भिन्न भी है और अभिन्न भी; क्योंकि वे उनकी शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में भेद नहीं होता इसलिये तथा उन प्रकृतियोंके अभिन्ननिमित्तोपादान कारण होनेसे भी वे उनसे अभिन्न

हैं और इस प्रकार अभिन्न होते हुए भी उनके नियन्ता होनेके कारण वे उनसे सर्वथा विलक्षण एवं उत्तम भी हैं।

सम्बन्ध—इस तरह उस ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करके अब इस बातका निर्णय करनेके लिये कि जीवोंके कर्मोंका यथायोग्य फल देनेवाला कौन है, अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

फलमत उपपत्तेः ॥ ३ । २ । ३८ ॥

फलम्=जीवोंके कर्मोंका फल; **अतः**=इस परब्रह्मसे ही होता है; **उपपत्तेः**=क्योंकि ऐसा मानना ही युक्तिसङ्गत है।

व्याख्या—जो सर्वशक्तिमान् और सबके कर्मोंको जाननेवाला हो, वही जीवों-द्वारा किये हुए कर्मोंका यथायोग्य फल प्रदान कर सकता है। उसके सिवा, न तो जड प्रकृति ही कर्मोंको जानने और उनके फलकी व्यवस्था करनेमें समर्थ है और न स्वयं जीवात्मा ही; क्योंकि वह अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला है। कहीं-कहीं जो देवता आदिको कर्मोंका फल देनेवाला कहा गया है, वह भी भगवान्‌के विधानको लेकर कहा गया है, भगवान् ही उनको निमित्त बनाकर वह फल देते हैं (गीता ७ । २२)। इस न्यायसे यही सिद्ध हुआ कि जीवोंके कर्मफल-भोगकी व्यवस्था करनेवाला वह परमात्मा ही है, दूसरा कोई नहीं।

सम्बन्ध—केवल युक्तिसे ही यह बात सिद्ध होती है, ऐसा नहीं; किन्तु—

श्रुतत्वाच्च ॥ ३ । २ । ३९ ॥

श्रुतत्वात्=श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है, इसलिये; **च**=भी (यही मानना ठीक है कि कर्मोंका फल परमात्मासे ही प्राप्त होता है)।

व्याख्या—वह परमेश्वर ही कर्मफलको देनेवाला है, इसका वर्णन वेदमें इस प्रकार आता है—य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः। तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ (क० उ० २ । २ । ८) 'जो यह जीवोंके कर्मानुसार नाना प्रकारके भोगोंका निर्माण करनेवाला परम पुरुष परमेश्वर प्रलयकालमें सबके सो जानेपर भी जागता रहता है, वही परम विशुद्ध है, वही ब्रह्म है और उसीको अमृत कहते हैं।' तथा श्वेताश्वतरमें भी इस प्रकार वर्णन आया है—'नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्' (श्वे० उ० ६ । १३)—'जो एक नित्य चेतन परमात्मा बहुतसे नित्य चेतन आत्माओंके कर्मफल-

भोगोंका विधान करता है ।' इन वेदवाक्योंसे भी यही सिद्ध होता है कि जीवोंके कर्मफलकी व्यवस्था करनेवाला परमेश्वर ही है ।

सम्बन्ध—इस विषयमें आचार्य जैमिनिका मत उपस्थित किया जाता है—

धर्मं जैमिनिरत एव ॥ ३ । २ । ४० ॥

अत एव=पूर्वोक्त कारणोंसे ही; **जैमिनिः**=जैमिनि; **धर्मम्**=धर्म (कर्म) को (फलदाता) कहते हैं ।

व्याख्या—जैमिनि आचार्य मानते हैं कि उक्ति और वैदिक प्रमाण—इन दोनों कारणोंसे यह सिद्ध होता है कि धर्म अर्थात् कर्म स्वयं ही फलका दाता है; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि खेती आदि कर्म करनेसे अन्नकी उत्पत्तिरूप फल होता है । इसी प्रकार वेदमें भी 'अमुक फलकी इच्छा हो तो अमुक कर्म करना चाहिये,' ऐसा विधि-वाक्य होनेसे यही सिद्ध होता है कि कर्म स्वयं ही फल देनेवाला है, उससे भिन्न किसी कर्मफलदाताकी कल्पना आवश्यक नहीं है ।

सम्बन्ध—आचार्य जैमिनिके इस कथनको अयुक्त सिद्ध करते हुए सूत्रकार अपने मतको ही उपादेय बताते हैं—

पूर्वं तु बादरायणो हेतुव्यपदेशात् ॥ ३ । २ । ४१ ॥

तु=परन्तु; **बादरायणः**=वेदव्यास; **पूर्वम्**=पूर्वकथनानुसार परमेश्वरको ही कर्मफलदाता मानते हैं; **हेतुव्यपदेशात्**=क्योंकि वेदमें उसीको सबका कारण बताया गया है (इसलिये जैमिनिका कथन ठीक नहीं है)।

व्याख्या—सूत्रकार व्यासजी कहते हैं कि जैमिनि जो कर्मको ही फल देनेवाला कहते हैं, वह ठीक नहीं; कर्म तो निमित्तमात्र होता है, वह जड, परिवर्तनशील और क्षणिक होनेके कारण फलकी व्यवस्था नहीं कर सकता; अतः जैसा कि पहले कहा गया है, वह परमेश्वर ही जीवोंके कर्मानुसार फल देनेवाला है; क्योंकि श्रुतिमें ईश्वरको ही सबका हेतु बताया गया है ।

दूसरा पाद सम्पूर्ण ।

तीसरा पाद

दूसरे पादमें जीवकी स्वप्नावस्था एवं समाधि-अवस्थाका वर्णन करके परब्रह्म परमेश्वरके स्वरूपके विषयमें यह निर्णय किया गया कि वह निर्गुण-सगुण दोनों लक्षणोंवाला है। तत्पश्चात् उस परब्रह्म परमेश्वरका अपनी शक्तिस्वरूप परा और अपरा प्रकृतियोंसे किस प्रकार अभेद है और किस प्रकार भेद है, इसका निरूपण किया गया। फिर अन्तमें यह निश्चित किया गया कि जीवोंके कर्मफल-की व्यवस्था करनेवाला एकमात्र वह परब्रह्म परमेश्वर ही है। अब वेदान्तवाक्योंमें जो एक ही आत्मविद्याका अनेक प्रकारसे वर्णन किया गया है, उसकी एकता बताने तथा नाना स्थलोंमें आये हुए भगवत्प्राप्तिविषयक भिन्न-भिन्न वाक्योंके विरोधको दूर करके उनकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये यह तीसरा पाद आरम्भ किया जाता है—

सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात् ॥ ३ । ३ । १ ॥

सर्ववेदान्तप्रत्ययम्=समस्त उपनिषदोंमें जो अध्यात्मविद्याका वर्णन है, वह अभिन्न है; **चोदनाद्यविशेषात्**=क्योंकि आज्ञा आदिमें अभेद है।

व्याख्या—उपनिषदोंमें जो नाना प्रकारकी अध्यात्मविद्याओंका वर्णन है, उन सबमें विधि-वाक्योंकी एकता है अर्थात् सभी विद्याओंद्वारा एकमात्र उस परब्रह्म परमात्माको ही जाननेके लिये कहा गया है तथा सबका फल उसीकी प्राप्ति बताया गया है, इसलिये उन सबकी एकता है। कहीं तो 'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।' (छा० उ० १। ४। १) 'ॐ यह अक्षर उद्गीथ है, इस प्रकार इसकी उपासना करे' इत्यादि वाक्योंमें प्रतीकोपासना-का वर्णन करके उसके द्वारा उस परब्रह्मको लक्ष्य कराया गया है और कहीं 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'—'ब्रह्म सत्य, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है', (तै० २। १) 'यही सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, सर्वान्तर्यामी, सबका परम कारण, सब प्राणियोंकी उत्पत्ति और प्रलयका स्थान है' (मा० उ० ६)। इस प्रकार विधिमुखसे उसके कल्याणमय दिव्य लक्षणोंद्वारा उसको लक्ष्य कराया गया है तथा कहीं 'शब्दरहित, स्पर्शरहित, रूपरहित, रसरहित और गन्धरहित तथा अविनाशी, नित्य, अनादि, अनन्त (सीमारहित), सर्वश्रेष्ठ' (क० उ० १। ३। १५) इस प्रकार समस्त

प्राकृत जड और चेतन पदार्थोंसे भिन्न बताकर उसका लक्ष्य कराया गया है और अन्तमें कहा गया है कि इसे पाकर उपासक जन्म-मरणसे छूट जाता है।

इन सभी वर्णनोंका उद्देश्य एकमात्र उस परब्रह्म परमेश्वरको लक्ष्य कराकर उसे प्राप्त करा देना है। सभी जगह प्रकारभेदसे उस परमात्माका ही चिन्तन करनेके लिये कहा गया है, अतः विधि और साध्यकी एकताके कारण साधनरूप विद्याओंमें वास्तविक भेद नहीं है, अधिकारीके भेदसे प्रकारभेद है।

इसके सिवा, जो भिन्न शाखावालोंके द्वारा वर्णित एक ही प्रकारकी वैश्वानर आदि विद्याओंमें आंशिक भेद दिखलायी देता है, उससे भी विद्याओंमें भेद नहीं समझना चाहिये; क्योंकि उनमें सर्वत्र विधिवाक्य और फलकी एकता है, इसलिये उनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है।

सम्बन्ध—वर्णन-शैलीमें कुछ भेद होनेपर भी विद्यामें भेद नहीं मानना चाहिये, इसका प्रतिपादन करते हैं—

भेदान्नेति चेन्नैकस्यामपि ॥ ३ । ३ । २ ॥

चेत्=यदि ऐसा कहो कि; **भेदात्**=उन स्थलोंमें वर्णनका भेद है, इसलिये; **न**=एकता सिद्ध नहीं होती; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं है, क्योंकि; **एकस्याम्**=एक विद्यामें; **अपि**=भी (इस प्रकार वर्णनका भेद होना अनुचित नहीं है)।

व्याख्या—जगत्‌के कारणको ब्रह्म कहा गया है और वही उपास्य होना चाहिये; किन्तु कहीं तो 'जगत्‌की उत्पत्तिके पूर्व एक सत् ही था, उसने इच्छा की कि मैं बहुत होऊँ, उसने तेजको उत्पन्न किया।' (छा० उ० ६ । २ । १, ३) । इस प्रकार जगत्‌की उत्पत्ति सत्‌से बतायी है। कहीं 'पहले यह एक आत्मा ही था, दूसरा कोई भी चेष्टाशील नहीं था, उसने इच्छा की कि मैं लोकोंको रचूँ।' (ऐ० उ० १ । १) । इस प्रकार जगत्‌की उत्पत्ति आत्मासे बतायी है, कहीं 'आनन्दमय'का वर्णन करनेके अनन्तर उसीसे सब जगत्‌की उत्पत्ति बतायी है, वहाँ किसी प्रकारके क्रमका वर्णन नहीं किया है (तै० उ० २ । ६-७)। कहीं आत्मासे आकाशादिके क्रमसे जगत्‌की उत्पत्ति बतायी है (तै० उ० २।१), कहीं रयि और प्राण—इन दोनोंके द्वारा जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया है (प्र० उ० १ । ४) तथा कहीं 'यह उस समय अप्रकट था, फिर प्रकट हुआ।' (बृह० उ० १।४ । ७)ऐसा कहा है। इस प्रकार अव्यक्तसे जगत्‌की

उत्पत्ति बतायी है। इस तरह भिन्न-भिन्न कारणोंसे और भिन्न-भिन्न क्रमसे जगत्‌की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है। इन सब वेदवाक्योंकी एकता नहीं हो सकती। इसी प्रकार दूसरे विषयमें भी समझना चाहिये। ऐसा यदि कोई कहे तो यह ठीक नहीं है, क्योंकि यहाँ सभी श्रुतियोंका अभिप्राय जगत्‌की उत्पत्तिके पहले उसके कारणरूप एक परमेश्वरको बताना है, उसीको 'सत्' नामसे कहा गया है तथा उसीका 'आत्मा', 'आनन्दमय', 'प्रजापति' और 'अव्याकृत' नामसे भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार एक ही तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली एक विद्यामें वर्णनका भेद होना अनुचित नहीं है, उद्देश्य और फल एक होनेके कारण उन सबकी एकता ही है।

सम्बन्ध—"मुण्डकोपनिषद्‌में कहा है कि 'जिन्होंने शिरोव्रतका अर्थात् सिरपर जटा धारणपूर्वक ब्रह्मचर्यव्रतका विधिपूर्वक पालन किया हो, उन्हींको इस ब्रह्म-विद्याका उपदेश देना चाहिये।' (३ । २ । १०) किन्तु दूसरी शाखावालोंने ऐसा नहीं कहा है; अतः इस आथर्वणशाखामें बतायी हुई ब्रह्मविद्याका अन्य शाखामें कही हुई ब्रह्मविद्यासे अवश्य भेद होना चाहिये।" ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—

स्वाध्यायस्य तथात्वेन हि समाचारेऽधिकाराच्च
सववच्च तन्नियमः ॥ ३ । ३ । ३ ॥

स्वाध्यायस्य=यह शिरोव्रतका पालन अध्ययनका अङ्ग है; **हि**=क्योंकि; **समाचारे**=आथर्वणशाखावालोंके परम्परागत शिष्टाचारमें; **तथात्वेन**=अध्ययनके अङ्गरूपसे ही उसका विधान है; **च**=तथा; **अधिकारात्**=उस व्रतका पालन करनेवालेका ही ब्रह्मविद्या-अध्ययनमें अधिकार होनेके कारण; **च**=भी; **सववत्**='सव' होमकी भाँति; **तन्नियमः**=वह शिरोव्रतवाला नियम आथर्वणशाखावालोंके लिये ही है।

व्याख्या—आथर्वण-शाखाके उपनिषद् (मु० उ० ३ । २ । १०) में कहा गया है कि 'तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद् यैस्तु चीर्णम्।'—'उन्हीं-को इस ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये, जिन्होंने विधिपूर्वक शिरोव्रतका पालन किया है।' उक्त शाखावालोंके लिये जो शिरोव्रतके पालनका नियम किया गया है, वह विद्याके भेदके कारण नहीं; अपितु उन शाखावालोंके अध्ययन-विषयक परम्परागत आचारमें ही यह नियम चला आता है कि जो शिरोव्रतका

पालन करता हो, उसीको उक्त ब्रह्मविद्याका उपदेश करना चाहिये। उसीका उसमें अधिकार है। जिसने शिरोव्रतका पालन नहीं किया, उसका उस ब्रह्मविद्याके अध्ययनमें अधिकार नहीं है। जिस प्रकार 'सव' होमका नियम उन्हींकी शाखावालोंके लिये है, वैसे ही इस शिरोव्रतके पालनका नियम भी उन्हींके लिये है। इस प्रकार यह नियम केवल अध्ययनाध्यापनके विषयमें ही होनेके कारण इससे ब्रह्मविद्याकी एकतामें किसी प्रकारका विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—सब उपनिषदोंमें एक परमात्माके स्वरूपको बतानेके लिये ही प्रकार-भेदसे ब्रह्मविद्याका वर्णन है, यह बात वेदप्रमाणसे भी सिद्ध करते हैं—

दर्शयति च ॥ ३ । ३ । ४ ॥

दर्शयति च=श्रुति भी यही बात दिखाती है।

व्याख्या—कठोपनिषद्में कहा है कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति'—'समस्त वेद जिस परम प्राप्य परमेश्वरका प्रतिपादन करते हैं।' इत्यादि (क० उ० १ । २ । १५) इसी प्रकारका वर्णन अन्यान्य श्रुतियोंमें भी है। तथा श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्ने भी कहा है कि 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' (१५ । १५) 'सब वेदोंके द्वारा जाननेयोग्य मैं ही हूँ।' इस प्रकार श्रुति-स्मृतियोंके सभी वचनोंका एक ही उद्देश्य देखनेमें आता है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या भिन्न-भिन्न नहीं है।

सम्बन्ध—यदि यही बात है तो एक जगहके वर्णनमें दूसरी जगहकी अपेक्षा कुछ बातें अधिक बतायी गयी हैं और कहीं कुछ बातें कम हैं, ऐसी परिस्थितिमें विभिन्न प्रकरणोंके वर्णनकी एकता कैसे होगी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

उपसंहारोऽर्थभेदाद्विधिशेषवत्समाने च ॥ ३ । ३ । ५ ॥

समाने=एक प्रकारकी विद्यामें; **च**=ही; **अर्थाभेदात्**=प्रयोजनमें भेद न होनेके कारण; **उपसंहारः**=एक जगह कहे हुए गुणोंका दूसरी जगह उपसंहार कर लेना; **विधिशेषवत्**=विधिशेषकी भाँति (उचित है)।

व्याख्या—जिस प्रकार कर्मकाण्डमें प्रयोजनका भेद न होनेपर एक शाखामें बताये हुए यज्ञादिके विधिशेषरूप अग्निहोत्र आदि धर्मोंका दूसरी जगह भी उपसंहार(अध्याहार) कर लिया जाता है, उसी प्रकार विभिन्न प्रकरणोंमें आयी हुई ब्रह्मविद्याके वर्णनमें

भी प्रयोजन-भेद न होनेके कारण एक जगह कही हुई अधिक बातोंका दूसरी जगह उपसंहार (अध्याहार) कर लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—श्रुतिमें वर्णित जो ब्रह्मविद्याएँ हैं, उनमें कहीं शब्दभेदसे, कहीं नामभेदसे और कहीं प्रकरणके भेदसे भिन्नता प्रतीत होती है, अतः उनकी एकताका प्रतिपादन करनेके लिये सूत्रकार स्वयं शङ्का उठाकर उसका समाधान करते हैं—

अन्यथात्वं शब्दादिति चेन्नाविशेषात् ॥ ३ । ३ । ६ ॥

चेत्=यदि ऐसा कहो कि; **शब्दात्**=कहे हुए शब्दसे; **अन्यथात्वम्**=दोनोंकी भिन्नता प्रतीत होती है, अतः एकता सिद्ध नहीं होती; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **अविशेषात्**=विधि और फल आदिमें भेद न होनेके कारण (दोनों विद्याओंमें समानता है) ।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद्के आठवें अध्यायमें दहरविद्या और प्राजापत्य-विद्या—इस प्रकार दो ब्रह्मविद्याओंका वर्णन है । वे दोनों विद्याएँ परब्रह्म परमात्मा-की प्राप्तिका मार्ग बतानेवाली हैं, इसलिये उनकी समानता मानी जाती है । इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे शङ्का उठायी जाती है कि दोनों विद्याओंमें शब्दका अन्तर है अर्थात् दहरविद्याके प्रकरणमें तो यह कहा गया है कि 'मनुष्य-शरीररूप ब्रह्मपुरमें हृदयरूप घरके भीतर जो आन्तरिक आकाश है और उसके भीतर जो वस्तु है, उसका अनुसन्धान करना चाहिये ।' (छा० उ० ८ । १ । १) तथा प्राजापत्यविद्यामें 'अपहतपाप्मा' आदि विशेषणोंसे युक्त आत्माको जाननेके योग्य बताया गया है (८ । ७ । १) । इस प्रकार दोनों विद्याओंके वर्णनमें शब्दका भेद है, इसलिये वे दोनों एक नहीं हो सकतीं । इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि दहरविद्यामें उस अन्तराकाशको ब्रह्मलोक, आत्मा और सबको धारण करनेवाला कहा गया है तथा उसे सब पापों और सब विकारोंसे रहित तथा सत्यसङ्कल्प आदि समस्त दिव्य गुणोंसे सम्पन्न बताकर (छा० उ० ८ । १ । ५) उसी जाननेयोग्य तत्त्वको (छा० उ० ८ । १ । ६) परब्रह्म निश्चित किया गया है, उसी प्रकार प्राजापत्य-विद्यामें भी उस जाननेयोग्य तत्त्वको आत्मा नामसे कहकर उसे समस्त पापों औरविकारोंसे रहित तथा सत्यसङ्कल्पत्व, सत्यकामत्व आदि दिव्य गुणोंसे युक्त परब्रह्म निश्चित किया गया है । दहर-विद्यामें दहर

आकाशको ही उपास्य बताया गया है, न कि उसके अन्तर्वर्ती लोकोंको। वहाँ प्रकारान्तरसे उस ब्रह्मको सबका आधार बतानेके लिये पहले उसके भीतरकी वस्तुओंको खोजनेके लिये कहा गया है। इस प्रकार वास्तवमें कोई भेद न होनेके कारण दोनों विद्याओंकी एकता है। इसी प्रकार दूसरी विद्याओंमें भी समानता समझ लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—पूर्वोक्त विद्याओंकी एकता सिद्ध करनेके लिये दूसरी असमान विद्याओंसे उनकी विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—

न वा प्रकरणभेदात्परोवरीयस्त्वादिवत् ॥ ३ । ३ । ७ ॥

वा=अथवा; **परोवरीयस्त्वादिवत्**=परम उत्कृष्टता आदि गुणोंसे युक्त दूसरी विद्याओंकी भाँति; **प्रकरणभेदात्**=प्रकरणके भेदसे उक्त दोनों विद्याएँ भिन्न; **न**=सिद्ध नहीं हो सकतीं।

व्याख्या—छान्दोग्य और बृहदारण्यकोपनिषद्में उद्गीथ-विद्याका प्रकरण आता है, किन्तु छान्दोग्यमें जो उद्गीथ-विद्या है वह अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि वहाँ उद्गीथकी 'ॐ कार' अक्षरके साथ एकता करके उसका महत्त्व बढ़ाया गया है; (छा० उ० १ । १ पूरा खण्ड) इसलिये उसका फल भी अत्यन्त श्रेष्ठ बताया गया है (छा० उ० १ । ९ । १ से ४ तक); किन्तु बृहदारण्यककी उद्गीथविद्या केवल प्राणोंका श्रेष्ठत्व सम्पादन करनेके लिये तथा यज्ञादिमें उद्गीथगानके समय स्वरकी विशेषता दिखानेके लिये है (बृह० उ० १ । ३ । १ से २७ तक)। इसलिये उसका फल भी वैसा नहीं बताया गया है। दोनों प्रकरणोंमें केवल देवासुर-संवाद-विषयक समानता है, पर उसमें भी उपासनाके प्रकारका भेद है। अतः किञ्चिन्मात्र समानताके कारण दोनोंकी समानता नहीं हो सकती। समानताके लिये उद्देश्य, विधेय और फलकी एकता चाहिये, वह उन प्रकरणोंमें नहीं है। इसलिये उनमें भेद होना उचित है। किन्तु ऊपर कही हुई दहरविद्या और प्राजापत्य विद्यामें ऐसी बात नहीं है, केवल वर्णनका भेद है। अतः वर्णनमात्रका भेद होनेके कारण उत्तम और मध्यम फल आदिके भेदसे युक्त उद्गीथविद्याकी भाँति ऊपर कही हुई दहरविद्या और प्राजापत्यविद्यामें भेद सिद्ध नहीं हो सकता; क्योंकि दोनोंके उद्देश्य, विधेय और फलमें भेद नहीं है।

सम्बन्ध—अब दूसरे प्रकारकी शङ्काका उत्तर देकर दोनों विद्याओंकी एकता सिद्ध करते हैं—

संज्ञातश्चेत्तदुक्तमस्ति तु तदपि ॥ ३ । ३ । ८ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **संज्ञातः**=संज्ञासे परस्पर-भेद होनेके कारण (एकता सिद्ध नहीं हो सकती) तो; **तदुक्तम्**=उसका उत्तर (सूत्र ३ । ३ । १ में) दे चुके हैं; **तु**=तथा; **तदपि**=वह (संज्ञाभेदके कारण होनेवाली विद्याविषयक विषमता) भी; **अस्ति**=अन्यत्र है ।

व्याख्या—यदि कहो कि उसमें संज्ञाका अर्थात् नामका भेद है; उस विद्याका नाम दहरविद्या है और दूसरीका नाम प्राजापत्य-विद्या है; इसलिये दोनोंकी एकता नहीं हो सकती तो इसका उत्तर हम पहले (सूत्र ३ । ३ । १ में) ही दे चुके हैं। वहाँ बता आये हैं कि समस्त उपनिषदोंमें भिन्न-भिन्न नामोंसे जिन ब्रह्मविद्याओंका वर्णन है, उन सबमें विधिवाक्य, फल और उद्देश्य-विधेय आदिकी एकता होनेसे सब ब्रह्मविद्याओंकी एकता है । इसलिये यहाँ संज्ञा-भेदसे कोई विरोध नहीं है। इसके सिवा, जिनमें उद्देश्य, विधेय और फल आदिकी समानता नहीं है, उन विद्याओंमें संज्ञा आदिके कारण भेद होता है और वैसी विद्याओंका वर्णन भी उपनिषदोंमें है ही (छा० उ० ३ । १८ । १ तथा ३ । १९ । १) ।

सम्बन्ध—नामका भेद होनेपर भी विद्यामें एकता हो सकती है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरा कारण बतलाते हैं—

व्याप्तेश्च समञ्जसम् ॥ ३ । ३ । ९ ॥

व्याप्तेः=ब्रह्म सर्वत्र व्याप्त है, इस कारण; **च**=भी; **समञ्जसम्**=ब्रह्मविद्याओंमें समानता है ।

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है, इसलिये ब्रह्मविषयक विद्याके भिन्न-भिन्न नाम और प्रकरण होनेपर भी उनकी एकता होना उचित है, क्योंकि उन ब्रह्मविषयक सभी विद्याओंका उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म परमात्माके ही स्वरूपका नाना प्रकारसे प्रतिपादन करना है ।

सम्बन्ध—अब यह जिज्ञासा होती है कि विद्याओंकी एकता और भिन्नताका निर्णय करनेके लिये प्रकरण, संज्ञा और वर्णनकी एकता और भेदकी अपेक्षा है या नहीं ? इसपर कहते हैं—

सर्वाभेदादन्यत्रेमे ॥ ३ । ३ । १० ॥

सर्वाभेदात्=सर्वस्वरूप परब्रह्मसम्बन्धी विद्यासे; **अन्यत्र**=दूसरी विद्याके सम्बन्धमें; **इमे**=इन पूर्व सूत्रोंमें कहे हुए सभी हेतुओंका उपयोग है ।

व्याख्या—परब्रह्म परमात्मा सबसे अभिन्न सर्वस्वरूप हैं । अतः उनके तत्त्वका प्रतिपादन करनेवाली विद्याओंमें भी भेद नहीं है । अतः संज्ञा, प्रकरण और शब्दसे इनकी भिन्नता सिद्ध नहीं की जा सकती; क्योंकि ब्रह्मकी सभी संज्ञाएँ हो सकती हैं । प्रत्येक प्रकरणमें उसकी बात आ सकती है तथा उसका वर्णन भी भिन्न-भिन्न सभी शब्दोंद्वारा किया जा सकता है । किन्तु ब्रह्मविद्याके अतिरिक्त जो दूसरी विद्याएँ हैं, जिनका उद्देश्य ब्रह्मका प्रतिपादन करना नहीं है; उनकी एक-दूसरीसे भिन्नता या अभिन्नताको समझनेके लिये पहले कहे हुए प्रकरण, संज्ञा और शब्द—इन तीनों हेतुओंका उपयोग किया जा सकता है ।

सम्बन्ध—'श्रुतिमें एक जगह ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें ब्रह्मके जो आनन्द, सर्वज्ञता, सर्वकामता, सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वेश्वरत्व तथा सर्वशक्तिमत्ता आदि धर्म बताये गये हैं, उनका उपसंहार (संग्रह) दूसरी जगह ब्रह्मके वर्णनमें किया जा सकता है या नहीं ?' इस जिज्ञासापर कहते हैं—

आनन्दादयः प्रधानस्य ॥ ३ । ३ । ११ ॥

आनन्दादयः=आनन्द आदि; **प्रधानस्य**=सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माके धर्म हैं (उन सबका अन्यत्र भी ब्रह्मके वर्णनमें अध्याहार कर लेना चाहिये)।

व्याख्या—आनन्द, सर्वगतत्व, सर्वात्मत्व तथा सर्वज्ञता आदि जितने भी परब्रह्म परमात्माके धर्म हैं, वे यदि श्रुतिमें एक जगह ब्रह्मके वर्णनमें आये हैं तो दूसरी जगह भी ब्रह्मके वर्णनमें उनका उपसंहार कर लेना चाहिये अर्थात् एक जगहके वर्णनमें जो धर्म या दिव्य गुण-सूचक विशेषण छूट गये हैं, उनकी पूर्ति अन्यत्रके वर्णनसे कर लेनी चाहिये ।

सम्बन्ध—"यदि ऐसी बात है, तब तो तैत्तिरीयोपनिषद्में जो आनन्दमय आत्माका प्रकरण प्रारम्भ करके कहा गया है कि 'प्रिय ही उसका सिर है, मोद दाहिना पंख है, प्रमोद बायाँ पंख है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म ही पुच्छ एवं प्रतिष्ठा है ।' इसके अनुसार 'प्रियशिरस्त्व' आदि धर्मोंका भी सर्वत्र ब्रह्मविद्यामें संग्रह हो सकता है ?" ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिरुपचयापचयौ हि भेदे ॥ ३ । ३ । १२ ॥

प्रियशिरस्त्वाद्यप्राप्तिः='प्रियशिरस्त्व'—'प्रियरूप सिरका होना' आदि धर्मोंकी प्राप्ति अन्यत्र ब्रह्मविद्याके प्रकरणमें नहीं होती है; **हि**=क्योंकि; **भेदे**=इस प्रकार सिर आदि अङ्गोंका भेद मान लेनेपर; **उपचयापचयौ**=ब्रह्ममें बढ़ने-घटनेका दोष उपस्थित होगा।

व्याख्या—प्रिय उसका सिर है, मोद और प्रमोद पाँख है, इस प्रकार पक्षीका रूपक देकर जो अङ्गोंकी कल्पना की गयी है, यह ब्रह्मका स्वरूपगत धर्म नहीं है; अतः इसका संग्रह दूसरी जगह ब्रह्मविद्याके प्रसङ्गमें करना उचित नहीं है; क्योंकि इस प्रकार अङ्ग-प्रत्यङ्गके भेदसे ब्रह्ममें भेद मान लेनेपर उसमें बढ़ने-घटनेके दोषकी आशङ्का होगी; इसलिये जो ब्रह्मके स्वाभाविक लक्षण न हों, किसी रूपकके उद्देश्यसे कहे गये हों, उनको दूसरी जगह नहीं लेना चाहिये।

सम्बन्ध—उसमें जो आनन्द और ब्रह्म शब्द आये हैं, उनको दूसरी जगह लेना चाहिये या नहीं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इतरे त्वर्थसामान्यात् ॥ ३ । ३ । १३ ॥

तु=किन्तु; **इतरे**=दूसरे जो आनन्द आदि धर्म हैं वे (ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिये श्रुतिमें कहे गये हैं, इसलिये अन्यत्र ब्रह्मविद्याके प्रसङ्गमें उनका ग्रहण किया जा सकता है); **अर्थसामान्यात्**=क्योंकि उन सब स्थलोंमें अर्थकी समानता है।

व्याख्या—रूपकके लिये अवयवकी कल्पनासे युक्त जो प्रियशिरस्त्व आदि धर्म हैं, उनको छोड़कर दूसरे-दूसरे जो आनन्द आदि स्वरूपगत धर्म हैं, उनका संग्रह प्रत्येक ब्रह्मविद्याके प्रसङ्गमें किया जा सकता है; क्योंकि उनमें अर्थकी समानता है अर्थात् उन सबके द्वारा प्रतिपाद्य ब्रह्म एक ही है।

सम्बन्ध—कठोपनिषद्में जो रथके रूपककी कल्पना करके इन्द्रिय आदिका घोड़े आदिके रूपमें वर्णन किया है, वहाँ तो इन्द्रिय आदिके संयमकी बात समझानेके लिये वैसा कहना सार्थक मालूम होता है, परन्तु यहाँ तो पक्षीके रूपकका कोई विशेष प्रयोजन नहीं दीखता। अतः यहाँ इस रूपककी कल्पना किसलिये की गयी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

आध्यानाय प्रयोजनाभावात् ॥ ३ । ३ । १४॥

प्रयोजनाभावात्=अन्य किसी प्रकारका प्रयोजन न होनेके कारण (यही मालूम होता है कि); **आध्यानाय**=उस परमेश्वरका भलीभाँति चिन्तन करनेके लिये (उसका तत्त्व रूपकद्वारा समझाया गया है) ।

व्याख्या—इस रूपकका दूसरा कोई प्रयोजन दिखलायी नहीं देता, इसलिये यही समझना चाहिये कि पहले जिस परब्रह्म परमेश्वरका सत्य, ज्ञान और अनन्तके नामसे वर्णन करके उसको सबके हृदयमें स्थित बतलाया है और उसकी प्राप्तिके महत्त्वका वर्णन किया है (तै० उ० २ । १) । उसको प्राप्त करनेका एकमात्र उपाय बारम्बार चिन्तन करना है पर उसके स्वरूपकी कुछ जानकारी हुए बिना चिन्तन नहीं हो सकता; अतः वह किस प्रकार सबके हृदयमें व्याप्त है, यह बात समझानेके लिये यहाँ अन्नमय आदि कोशवाचक शब्दोंके द्वारा प्रकरण उठाया गया; क्योंकि किसी पेटीमें बंद करके गुप्त रक्खे हुए रत्नकी भाँति वह परमेश्वर भी सबके हृदयमें बुद्धिरूप गुफाके भीतर छिपा है; यह तत्त्व समझाना है । वहाँ सबसे पहले जो यह अन्नमय स्थूल शरीर है, इसको पुरुषके नामसे कहकर उसके अंगोंकी पक्षीके अंगोंसे तुलना करके आगेका प्रकरण चलाया गया, तथा क्रमशः एकका दूसरेको अन्तरात्मा बताते हुए प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय पुरुषका वर्णन किया गया । साथ ही प्रत्येकका आत्मा एक ही तत्त्वको निश्चित किया गया । इससे यह मालूम होता है कि उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्वके भीतर दृष्टि ले जाकर उस एक ही अन्तरात्माको लक्ष्य कराया गया है । वहाँ विज्ञानमय जीवात्माका वर्णन करके उसका भी अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाया । अन्तमें सबका अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाकर तथा उसका अन्तरात्मा भी उसीको बतलाकर इस रूपककी परम्पराको समाप्त कर दिया गया । इससे यही सिद्ध होता है कि परब्रह्म परमेश्वरका भलीभाँति चिन्तन करनेके लिये उसके सूक्ष्म तत्त्वको समझाना ही इस रूपकका प्रयोजन है ।

सम्बन्ध—यहाँ आनन्दमय नामसे परमात्माको ही लक्ष्य कराया गया है, अन्य किसी तत्त्वको नहीं, यह निश्चय कैसे हो सकता है ? इसपर कहते हैं—

आत्मशब्दाच्च ॥ ३ । ३ । १५ ॥

आत्मशब्दात्=आत्मशब्दका प्रयोग होनेके कारण; **च**=भी (यह सिद्ध हो जाता है) ।

व्याख्या—ऊपर कहे हुए कारणके सिवा, इस प्रकरणमें बारम्बार सबका अन्तरात्मा बताते हुए अन्तमें विज्ञानमयका अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाया है, उसके बाद उसका अन्तरात्मा दूसरे किसीको नहीं बतलाया । इससे यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ आनन्दमय शब्द ब्रह्मका ही वाचक है ।

सम्बन्ध—'आत्मा' शब्दका प्रयोग तो अधिकतर प्रत्यगात्मा (जीवात्मा) का ही वाचक होता है । फिर यह निश्चय कैसे हुआ कि यहाँ 'आत्मा' शब्द ब्रह्मका वाचक है ? इसपर कहते हैं—

आत्मगृहीतिरितरवदुत्तरात् ॥ ३ । ३ । १६ ॥

आत्मगृहीतिः=आत्मशब्दसे परमात्माका ग्रहण; **इतरवत्**=दूसरी जगहकी भाँति; **उत्तरात्**=उसके बादके वर्णनसे (सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—जिस प्रकार 'आत्मा वा इदमेकमेवाग्र आसीन्नान्यत् किञ्चन मिषत् स ईक्षत लोकान्नु सृजै', (ऐ० उ० १ । १) 'पहले यह एक आत्मा ही था, उसने इच्छा की कि मैं लोकोंकी रचना करूँ ।' (ऐ० उ० १ । १ । १) इस श्रुतिमें प्रजाकी सृष्टिके प्रकरणको लेकर 'आत्मा' शब्दका प्रयोग हुआ है, इसलिये यहाँ 'आत्मा' शब्दको ब्रह्मका वाचक माना गया । उसी प्रकार तैत्तिरीय-श्रुतिमें भी आनन्दमयका वर्णन करनेके बाद तत्काल ही 'सोऽकामयत बहु स्याम्'— 'उसने इच्छा की कि मैं बहुत हो जाऊँ ।' इत्यादि वाक्योंद्वारा उस आनन्दमय आत्मासे समस्त जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया गया है । अतः बादमें आये हुए इस वर्णनसे ही यह सिद्ध हो जाता है कि यहाँ 'आत्मा' शब्द परमात्माका ही वाचक है और 'आनन्दमय' नाम भी यहाँ उस परब्रह्मका ही है ।

सम्बन्ध—ऊपर कही हुई बातमें पुनः शङ्का उपस्थित करके उसका उत्तर देते हुए पूर्वोक्त सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—

अन्वयादिति चेत्स्यादवधारणात् ॥ ३ । ३ । १७ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **अन्वयात्**=प्रत्येक वाक्यमें आत्मशब्दका अन्वय होनेके कारण यह सिद्ध नहीं होता कि आनन्दमय ब्रह्म है; **इति**=तो इसका उत्तर यह है कि;

अवधारणात्=निर्धारित किये जानेके कारण; **स्यात्**=(आनन्दमय ही ब्रह्म है) यह बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—यदि कहो कि "तैत्तिरीयोपनिषद्की ब्रह्मवल्लीमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग तो सभी वाक्योंके अन्तमें आया है, फिर केवल 'आत्मा' शब्दके प्रयोगसे 'आनन्दमय' को ही ब्रह्म कैसे मान लिया जाय ?" तो इसके उत्तरमें कहते हैं कि जिस 'आत्मा' शब्दकी सभी वाक्योंमें व्याप्ति है, वह ब्रह्मका वाचक नहीं है; अपितु अन्तमें जिसको निर्धारित कर दिया गया है, वह ब्रह्मका वाचक है। अन्नमय, प्राणमय आदि आत्माओंको शरीर और ब्रह्मको उनका अन्तरात्मा बतलानेके उद्देश्यसे वहाँ सबके साथ 'आत्मा' शब्दका प्रयोग किया गया है। इसीलिये अन्नमयका अन्तरात्मा उससे भिन्न प्राणमयको बतलाया; फिर प्राणमयका अन्तरात्मा उससे भिन्न मनोमयको बतलाया और मनोमयका अन्तरात्मा विज्ञानमयको तथा विज्ञानमयका भी अन्तरात्मा आनन्दमयको बतलाया। उसके बाद आनन्दमयका अन्तरात्मा अन्य किसीको नहीं बतलाया और अन्तमें यह निर्धारित कर दिया कि इसका शरीरसम्बन्धी आत्मा यह स्वयं ही है, जो कि पहले कहे हुए अन्य सब पुरुषोंका भी आत्मा है। यह कहकर उसीसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया। इस प्रकार यहाँ आनन्दमयको पूर्णरूपसे परमात्मा निश्चित कर दिया गया है। इसीसे यह सिद्ध होता है कि आनन्दमय शब्द परमात्माका वाचक है।

सम्बन्ध—"इस प्रकरणमें आत्मासे आकाशादि भूतोंकी उत्पत्तिका वर्णन करनेके बाद पृथिवीसे ओषधि, ओषधिसे अन्न और अन्नसे पुरुषकी उत्पत्ति बतलायी, फिर कहा कि 'निश्चयपूर्वक वही यह पुरुष अन्नरसमय है।' इस वर्णनके अनुसार 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस वाक्यद्वारा बतलाया हुआ ब्रह्म ही यहाँ अन्नरसमय पुरुष है या उससे भिन्न ?" इस जिज्ञासापर कहते हैं—

कार्याख्यानादपूर्वम् ॥ ३ । ३ । १८ ॥

कार्याख्यानात्=ब्रह्मका कार्य बतलाया जानेके कारण यह पुरुष; **अपूर्वम्**=वह पूर्वोक्त ब्रह्म नहीं हो सकता।

व्याख्या—इस प्रकरणमें जिस अन्नरसमय पुरुषका वर्णन है, वह पूर्वोक्त परब्रह्म नहीं हो सकता, किन्तु अन्नका परिणामभूत यह सजीव मनुष्य-शरीर ही यहाँ

अन्नरसमय पुरुषके नामसे कहा गया है; क्योंकि इस पुरुषको उस पूर्वोक्त ब्रह्मका आकाशादिके क्रमसे कार्य बतलाया गया है और इसका अन्तरात्मा प्राण-मय आदिके क्रमसे विज्ञानमय जीवात्माको बतलाया है तथा विज्ञानमयका आत्मा ब्रह्मको बतलाकर अन्तमें आनन्दके साथ उसकी एकता की गयी है। इसलिये जिसके 'सत्य', 'ज्ञान' और 'अनन्त' ये लक्षण बताये गये हैं तथा जो 'आत्मा' और 'आनन्दमय' नामसे जगत्का कारण बतलाया गया है, वह ब्रह्म इस अन्नरसमय पुरुषसे भिन्न सबका अन्तरात्मा है।

सम्बन्ध—ग्यारहवें सूत्रसे 'आनन्द' के प्रकरणका विचार आरम्भ करके अठारहवें सूत्रतक उस प्रकरणको समाप्त कर दिया गया। अब पहले आरम्भ किये हुए प्रकरणपर दूसरी श्रुतियोंके विषयमें विचार आरम्भ किया जाता है—

समान एवं चाभेदात्॥ ३ । ३ । १९ ॥

समाने=एक शाखामें; **च**=भी; **एवम्**=इसी प्रकार विद्याकी एकता समझनी चाहिये; **अभेदात्**=क्योंकि दोनों जगह उपास्यमें कोई भेद नहीं है।

व्याख्या—वाजसनेयी शाखाके शतपथ-ब्राह्मणमें 'सत्य ही ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करनी चाहिये, निस्सन्देह यह पुरुष सङ्कल्पमय है। वह जितने सङ्कल्पों-से युक्त होकर इस लोकसे प्रयाण करता है, परलोकमें जानेपर वैसे ही सङ्कल्प-वाला होकर उत्पन्न होता है, वह मनोमय प्राण-शरीरवाले आकाशस्वरूप आत्माकी उपासना करे।' इस प्रकार शाण्डिल्य-विद्याका वर्णन किया गया है (श० ब्रा० १० । ६ । ३ । २)* । उसी शाखाके बृहदारण्यकमें भी कहा है कि 'प्रकाश ही जिसका सत्य स्वरूप है वह पुरुष मनोमय है, वह धान और जौ आदिके सदृश सूक्ष्म परिमाणवाला है, वह उस हृदयाकाशमें स्थित है, वह सबका स्वामी और सबका अधिपति है तथा यह जो कुछ है, सभीका उत्तम शासन करता है।' (बृह० उ० ५ । ६ । १)† इन दोनों ग्रन्थोंमें कही हुई इन विद्याओंमें

* 'सत्यं ब्रह्मेत्युपासीत । अथ खलु क्रतुमयोऽयं पुरुषः स यावत्क्रतुरयमस्माल्लोकात्प्रैति एवंक्रतुर्भूत्वामुं लोकं प्रेत्याभिसंभवति स आत्मानमुपासीत मनोमयं प्राणशरीरं भारूपं सत्यसंकल्पमाकाशात्मानम्।'

† 'मनोमयोऽयं पुरुषो भाः सत्यस्तस्मिन्नन्तर्हृदये यथा व्रीहिर्वा यवो वा स एष सर्वस्येशानः सर्वस्याधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं किञ्च।' (बृह० उ० ५ । ६ । १)

भेद है या अभेद ? यह संशय उपस्थित होनेपर सूत्रकार कहते हैं—जैसे भिन्न शाखाओंमें विद्याकी एकता और गुणोंका उपसंहार उचित माना गया है, उसी प्रकार एक शाखामें कही हुई विद्याओंमें भी एकता माननी चाहिये; क्योंकि वहाँ उपास्यमें भेद नहीं है। दोनों जगह एक ही ब्रह्म उपास्य बताया गया है।

सम्बन्ध—उपास्यके सम्बन्धको लेकर किस जगह विद्याकी एकता माननी चाहिये और किस जगह नहीं ? इसका निर्णय करनेके लिये पूर्वपक्ष उपस्थित किया जाता है—

सम्बन्धादेवमन्यत्रापि ॥ ३ । ३ । २० ॥

एवम्=इस प्रकार; **सम्बन्धात्**=उपास्यके सम्बन्धसे; **अन्यत्र**=दूसरी जगह; **अपि**=भी (क्या विद्याकी एकता मान लेनी चाहिये ?)।

व्याख्या—इसी प्रकार एक ही उपास्यका सम्बन्ध बृहदारण्यकमें देखा जाता है। वहाँ पहले कहा गया है कि सत्य ही ब्रह्म है, इत्यादि (बृह० उ० ५। ५। १), फिर इसी सत्यकी सूर्यमण्डलमें स्थित पुरुषके साथ और आँखमें स्थित पुरुषके साथ एकता की गयी है (बृह० उ० ५। ५। २)। उसके बाद दोनोंका रहस्यमय नाम क्रमशः 'अहर' और 'अहम्' बतलाया है। इस प्रकरणमें एक ही उपास्यका सम्बन्ध होनेपर भी स्थान-भेदसे पृथक्-पृथक् दो उपासनाएँ बतायी गयी हैं, अतः इनमें भेद मानना चाहिये या अभेद ?

सम्बन्ध—पूर्वसूत्रमें उठायी हुई शङ्काका उत्तर अगले सूत्रमें देते हैं—

न वा विशेषात् ॥ ३ । ३ । २१ ॥

न वा=इन दोनोंकी एकता नहीं माननी चाहिये; **विशेषात्**=क्योंकि इन दोनों पुरुषोंके रहस्यमय नाम और स्थानमें भेद किया गया है।

व्याख्या—इन दोनों उपासनाओंके वर्णनमें स्थान और नाम भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। सूर्यमण्डलमें स्थित सत्यपुरुषका तो रहस्यमय नाम 'अहर' कहा है और आँखमें स्थित पुरुषका रहस्यमय नाम 'अहम्' बतलाया है। इस प्रकार नाम और स्थानका भेद होनेके कारण इन उपासनाओंकी एकता नहीं मानी जा सकती; अतएव एकके नाम और गुणका उपसंहार दूसरे पुरुषमें नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—इस बातको श्रुतिप्रमाणसे स्पष्ट करते हैं—

दर्शयति च ॥ ३ । ३ । २२ ॥

दर्शयति च=श्रुति यही बात दिखलाती भी है।

व्याख्या—जहाँ इस प्रकार स्थान और नामका भेद हो, वहाँ एक जगह कहे हुए गुण दूसरी जगह नहीं लिये जाते; यह बात श्रुतिद्वारा इस प्रकार दिखलायी गयी है। छान्दोग्योपनिषद्में आधिदैविक सामके प्रसङ्गमें सूर्यस्थ पुरुषका वर्णन करके फिर आध्यात्मिक सामके प्रसङ्गमें आँखमें स्थित पुरुषका वर्णन किया गया है और वहाँ सूर्यस्थ पुरुषके नाम-रूप आदिका आँखमें स्थित पुरुषमें भी श्रुतिने स्वयं विधान करके दोनोंकी एकता की है (छा० उ० १।७।५) इससे यह सूचित होता है कि ऐसे स्थलोंमें विद्याकी एकता मानकर एकके गुणोंका अन्यत्र उपसंहार नहीं करना चाहिये; क्योंकि ऐसे स्थलोंपर यदि सामान्यतः विद्याकी एकता मानकर गुणोंका उपसंहार अभीष्ट होता तो उक्त प्रसङ्गमें श्रुति स्वयं सूर्यमें स्थित पुरुषके गुणोंका नेत्रवर्ती पुरुषमें विधान नहीं करती।

सम्बन्ध—नेत्रवर्ती तथा सूर्यमण्डलवर्ती आदि पुरुषोंमें ब्रह्मके किन-किन गुणोंका उपसंहार (अध्याहार) नहीं किया जा सकता ? इसका निर्णय ग्रन्थकार दो सूत्रोंद्वारा करते हैं—

संभृतिद्युव्याप्त्यपि चातः ॥ ३ । ३ । २३ ॥

च=तथा; **अतः**=इसीलिये अर्थात् विद्याकी एकता न होनेके कारण ही; **संभृतिद्युव्याप्ती**—समस्त लोकोंको धारण करना तथा द्युलोक आदि अखिल ब्रह्माण्डको व्याप्त करके स्थित होना—ये दोनों ब्रह्मसम्बन्धी गुण; **अपि**=भी अन्यत्र (नेत्रान्तर्वर्ती आदि पुरुषोंमें) नहीं लेने चाहिये।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद् (३ । ८ । ३) में गार्गी और याज्ञवल्क्यके संवादका वर्णन आता है। वहाँ गार्गीने याज्ञवल्क्यसे पूछा है—'जो द्युलोकसे ऊपर है, जो पृथिवीसे नीचे है और जो द्युलोक एवं पृथिवीके मध्यमें है तथा स्वयं भी जो ये द्युलोक और पृथिवी हैं; इनके सिवा जिसे भूत, वर्तमान और भविष्य कहते हैं; वह सब किसमें ओतप्रोत है ?' इसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने कहा—'द्युलोकसे ऊपर और पृथिवीसे नीचेतक यह सब कुछ आकाशमें ओतप्रोत है।' (३ । ८ । ४)। गार्गीने पूछा—'आकाश किसमें ओतप्रोत है ?' (३ । ८ । ७) याज्ञवल्क्य बोले—'गार्गि ! उस तत्त्वको तो ब्रह्मवेत्ता पुरुष

अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा है, न लाल है, न चिकना है, न छाया है, न तम है, न वायु है, न आकाश है, न सङ्ग है, न रस है, न गन्ध है, न नेत्र है, न कान है, न वाणी है, न मन है, न तेज है, न प्राण है, न मुख है, न माप है, न भीतर है, न बाहर है, वह कुछ भी नहीं खाता, उसे कोई भी नहीं खाता ।' (३ । ८ । ८) इस प्रकार अक्षरब्रह्मके स्वरूपका वर्णन करके याज्ञवल्क्यने यह भी बताया कि 'ये सूर्य, चन्द्रमा, द्युलोक और पृथिवी आदि इसीके शासनमें हैं, इसीने इन सबको धारण कर रक्खा है ।' (३ । ८ । ९) । इस प्रसङ्गमें अक्षरब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करते हुए दो बातें मुख्यरूपसे बतायी गयी हैं, एक तो वह द्युलोकसे ऊपर और पृथिवीके नीचेतक समस्त ब्रह्माण्डमें व्याप्त है और दूसरी बात यह है कि वही सबको धारण करनेवाला है । इन दोनों गुणोंका नेत्रान्तर्वर्ती और सूर्यमण्डलवर्ती पुरुषोंमें अध्याहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि प्रतीक उपासनाके लिये सीमित स्थानोंमें स्थित कहे हुए पुरुष न तो सर्वव्यापक हो सकते हैं और न सबको धारण ही कर सकते हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी, जहाँ पूर्ण ब्रह्मका वर्णन नहीं है, उन प्रतीकोंमें इन गुणोंका उपसंहार नहीं हो सकता; यह भलीभाँति समझ लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—'उक्त पुरुषोंमें ब्रह्मके गुणोंका उपसंहार न हो, यह तो ठीक है, परन्तु पुरुषविद्यामें जो पुरुषके गुण बताये गये हैं, उनका उपसंहार तो अन्यत्र जहाँ-जहाँ पुरुषोंका वर्णन हो, उन सबमें होना ही चाहिये ।' ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—

पुरुषविद्यायामिव चेतरेषामनाम्नानात् ॥ ३ । ३ । २४ ॥

पुरुषविद्यायाम्=पुरुषविद्यामें जो गुण बताये गये हैं; **इव**=वैसे गुण; **च**= भी; **इतरेषाम्**=अन्य पुरुषोंके नहीं हो सकते; **अनाम्नानात्**=क्योंकि श्रुतिमें उनके ऐसे गुण कहीं नहीं बताये गये हैं ।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्में (२ । १ । २ से १० तक) अक्षरब्रह्मका पुरुषके नामसे वर्णन किया गया है । वहाँ पहले अक्षरब्रह्मसे सबकी उत्पत्ति और उन्हींमें सबका लय (२ । १ । १) बताकर उसे दिव्य अमूर्त पुरुष कहा गया है (२ । १ । २) । फिर २ । १ । ३ से लेकर २ । १ । ९

तक उसीसे समस्त प्राण, इन्द्रिय, पञ्चभूत, सूर्य, चन्द्रमा, वेद, अग्नि, देवता, मनुष्य, अन्न, समुद्र तथा पर्वत आदिकी सृष्टि बतायी गयी है। तदनन्तर २।१।१० वें मन्त्रमें उस पुरुषकी महिमाका इस प्रकार वर्णन किया गया है—'पुरुष एवेदं विश्वं कर्म तपो ब्रह्म परामृतम्। एतद् यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य।' अर्थात् 'पुरुष ही यह सब कुछ है, वही तप, कर्म और परम अमृतस्वरूप ब्रह्म है। हे सोम्य! हृदयरूप गुफामें स्थित इस अन्तर्यामी परम पुरुषको जो जानता है, वह यहीं इस मनुष्य-शरीरमें ही अविद्याजनित गाँठको छिन्न-भिन्न कर देता है।' इस प्रकार इस पुरुषविद्याके प्रकरणमें जो पुरुषके सर्वोत्पादकत्व, परात्परत्व, सर्वव्यापकत्व तथा अविद्यानिवारकत्व आदि दिव्य गुण बताये गये हैं, उनका भी नेत्रान्तर्वर्ती और सूर्यमण्डलवर्ती आदि पुरुषोंमें तथा जहाँ-जहाँ स्थूल, सूक्ष्म या कारणशरीरका वर्णन पुरुषके नामसे किया गया है, उन पुरुषोंमें (छा० उ० ५।९।१) (तै० उ० २।१ से ७तक) अध्याहार नहीं किया जा सकता; क्योंकि श्रुतिमें कहीं भी उनके लिये वैसे गुणोंका प्रतिपादन नहीं किया गया है। उन प्रकरणोंमें उन पुरुषोंके अन्तरात्मा परमपुरुषको लक्ष्य करानेके लिये उनको पुरुष नाम दिया गया है।

सम्बन्ध—इसी प्रकार—

वेधाद्यर्थभेदात् ॥ ३ । ३ । २५ ॥

वेधादि=बींधने आदिका वर्णन करके जो ब्रह्मको वेधका लक्ष्य बताया गया है, इन सबका अध्याहार भी अन्य विद्याओंमें नहीं करना चाहिये; **अर्थभेदात्**= क्योंकि वहाँ प्रयोजनमें भेद है।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद् (२।२।३) में कहा है कि—

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासानिशितं सन्धयीत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि॥

'हे सोम्य! उपनिषद्में वर्णित प्रणवरूप महान् धनुषको लेकर उसपर उपासनाद्वारा तीक्ष्ण किया हुआ बाण चढ़ाना चाहिये। फिर भावपूर्ण चित्तके द्वारा उस बाणको खींचकर तुम परम अक्षर परमेश्वरको ही लक्ष्य बनाकर उसे बींधो।' इस वर्णनके पश्चात् दूसरे मन्त्रमें आत्माको ही बाणका रूप दिया गया है। इस

प्रकार यहाँ जो ब्रह्मको आत्मरूप बाणके द्वारा बींधनेयोग्य बताया गया है; उसके इस वेध्यत्व आदि गुणोंका तथा ॐकारके धनुर्भाव और आत्माके बाणत्वका भी जहाँ ओंकारके द्वारा परमात्माकी उपासना करनेका प्रकरण है, उन ब्रह्मविद्याओंमें उपसंहार नहीं करना चाहिये; क्योंकि यहाँ चिन्तनमें तन्मयताका स्वरूप बतानेके लिये वैसा रूपक लिया गया है। इस तरह रूपककी कल्पनाद्वारा जो विशेष बात कही जाय, वे अन्य प्रकरणमें अनुपयुक्त होनेके कारण लेने योग्य नहीं हैं।

सम्बन्ध—बीसवें सूत्रसे पचीसवें सूत्रतक भिन्न-भिन्न श्रुतियोंपर यह विचार किया गया कि उनमें कौन-कौन-सी बातें एक जगहसे दूसरी जगह अध्याहार करने योग्य नहीं हैं। अब परमगति अर्थात् परमधाम और परमात्माकी प्राप्तिविषयक श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। श्रुतियोंमें ब्रह्मविद्याका फल कहीं तो केवल दुःख, शोक, बन्धन और शुभाशुभ कर्मोंकी निवृत्तिमात्र बतलाया है; कहीं उसके पश्चात् परम समता, परमधाम और परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिका भी वर्णन है। अतः ब्रह्मविद्याके फलमें भेद है या नहीं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात्कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । २६ ॥

हानौ=जहाँ केवल दुःख, शोक, पुण्य, पाप आदिके नाशका ही वर्णन है ऐसी श्रुतिमें; **तु**=भी; **उपायनशब्दशेषत्वात्**=लाभरूप परमधामकी प्राप्ति आदि फलका भी अध्याहार कर लेना चाहिये, क्योंकि वह वाक्यका शेष भाग है; **कुशाच्छन्दस्तुत्युपगानवत्**=यह बात कुशा, छन्द, स्तुति और उपगानकी भाँति समझनी चाहिये; **तत् उक्तम्**=ऐसा पूर्वमीमांसामें कहा गया है।

व्याख्या—उद्दालक आदि छः ऋषियोंको वैश्वानरविद्याका उपदेश देकर राजा अश्वपति कहते हैं कि जो इस विद्याको जानकर हवन करता है, उसके समस्त पाप उसी तरह भस्म हो जाते हैं, जिस प्रकार सींकका अग्रभाग अग्निमें डालनेसे हो जाता है। (छा० उ० ५।२४।३) इसी प्रकार कठमें परमात्मज्ञानका फल कहीं केवल हर्ष-शोकका नाश (१।२।१२) और कहीं मृत्युमुखसे छूटना बताया गया है (१।३।१५)। मुण्डकमें कहीं अविद्याका नाश (२।१।१०) और कहीं हृदयकी ग्रन्थि, समस्त संशय तथा कर्मोंका नाश कहा गया है (२।२।८)।

श्वेताश्वतरमें समस्त पाशोंसे छूट जाना तथा (श्वे० उ० १ । ११; २ । १५; ४ । १५, १६; ५ । १३; ६ । १३) शोकका नाश होना (श्वे० उ० ४ । ७) आदि ब्रह्मज्ञानका फल बताया गया है। इस प्रकार उपनिषदोंमें जगह-जगह ब्रह्मविद्याका फल पुण्य, पाप और नाना प्रकारके विकारोंका नाश बतलाया गया है; उन मन्त्रोंमें परमात्माकी या परमपदकी अथवा परमधामकी प्राप्ति नहीं बतलायी गयी। अतः सूत्रकार कहते हैं कि 'ऐसे स्थलोंमें जहाँ केवल दुःख, बन्धन एवं कर्मोंके त्याग या नाश आदिकी बात बतायी गयी है, उसके वाक्य-शेषके रूपमें दूसरी जगह कहे हुए उपलब्धिरूप फलका भी अध्याहार कर लेना चाहिये। जैसे परमात्माका प्राप्त होना (मु० उ० ३ । २ । ८), ब्रह्मधामकी प्राप्ति (मु० उ० ३ । २ । ४), ब्रह्ममें लीन होना (मु० उ० ३ । २ । ५) ब्रह्मलोकमें परम अमृतस्वरूप हो जाना (मु० उ० ३ । २ । ६), अर्चि आदि मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर वहाँसे न लौटना (छा० उ० ४ । १५ । ५) आदि ही फलका वर्णन है; भाव यह कि जहाँ-जहाँ केवल हानि—पापनाश आदिका वर्णन है, वहाँ-वहाँ ब्रह्मलोक आदिकी प्राप्ति वाक्यशेष है और जहाँ केवल उपायन (ब्रह्मधामकी प्राप्ति आदि) का ही वर्णन है, वहाँ पूर्वोक्त हानि (दुःखनाश आदि) ही वाक्य-शेष है। इसलिये प्रत्येक समान-विद्यामें उसका अध्याहार कर लेना चाहिये; जिससे किसी प्रकारका विकल्प या फलभेद न रहे। इस प्रकार वाक्यशेष ग्रहण करनेका दृष्टान्त सूत्रकार देते हैं—जैसे कौषीतकि शाखावालोंने सामान्यतः वनस्पतिमात्रकी कुशा लेनेके लिये कहा है। परन्तु शाट्यायन शाखावाले उसके स्थानमें गूलरके काठकी बनी हुई कुशा लेनेके लिये कहते हैं; इसलिये उनका वह विशेष वचन कौषीतकिके सामान्य वचनका वाक्य-शेष माना जाता है और दोनों शाखावाले उसे स्वीकार करते हैं। इसी तरह एक शाखावाले 'छन्दोभिः स्तुवीत' (देव और असुरोंके) छन्दोंद्वारा स्तुति करे, इस प्रकार समान भावसे कहते हैं। किन्तु पैङ्गी शाखावाले 'देवोंके छन्द पहले बोलने चाहिये' इस प्रकार विशेषरूपसे क्रम नियत कर देते हैं, तो उस क्रमको पूर्व कथनका वाक्य-शेष मानकर सभी स्वीकार करते हैं। जैसे किसी शाखामें 'षोडशिनः स्तोत्रमुपाकरोति' (षोडशीका स्तवन करे) ऐसा सामान्य वचन मिलता है, परन्तु तैत्तिरीय शाखावाले इस कर्मको ऐसे समयमें कर्तव्य बतलाते हैं, जब ब्रह्मबेलामें तारे छिप गये हों और सूर्योदय अभी नहीं हुआ हो। अतः यह कालविशेषका

नियम पूर्वकथित वाक्यका शेष होकर सबको मान्य होता है । तथा एक शाखावाले स्तुतिगानके विषयमें समानभावसे कहते हैं कि 'ऋत्विज उपगायन्ति'—'ऋत्विज लोग स्तोत्रका गान करें' किन्तु दूसरी शाखावाले यह विधान करते हैं कि 'नाध्वर्युरुपगायति'—'अध्वर्युको स्तोत्र-गान नहीं करना चाहिये ।' अतः इसको भी वाक्य-शेष मानकर सब यह स्वीकार करते हैं कि 'अध्वर्युको छोड़कर अन्य ऋत्विजोंद्वारा स्तोत्रोंका गान होना चाहिये ।' उसी प्रकार जहाँ केवल पाप आदिके नाशकी ही बात कही है, ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति नहीं बतलायी गयी है, वहाँ प्राप्तिरूप फलको भी वाक्यशेषके रूपमें ग्रहण कर लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'देवयानमार्गसे ब्रह्मलोकमें जानेवाले महापुरुषके पापकर्म नष्ट हो जाते हैं, परन्तु पुण्य-कर्म तो शेष रहते ही होंगे; अन्यथा उसका ब्रह्मलोकमें गमन कैसे सम्भव होगा ? क्योंकि ऊपरके लोकोंमें जाना शुभ कर्मोंका ही फल है ।' इसपर कहते हैं—

साम्पराये तर्तव्याभावात्तथा ह्यन्ये ॥ ३ । ३ । २७ ॥

साम्पराये=ज्ञानीके लिये परलोकमें; **तर्तव्याभावात्**=भोगके द्वारा पार करने योग्य कोई कर्मफल शेष नहीं रहता, इस कारण (उसके पुण्यकर्म भी यहीं समाप्त हो जाते हैं); **हि**=क्योंकि; **तथा**=यही बात; **अन्ये**=अन्य शाखावाले कहते हैं ।

*व्याख्या—*बृहदारण्यकोपनिषद्में यह बात स्पष्ट शब्दोंमें बतायी गयी है कि 'उभे उ हैवैष एते तरति ।' (४ । ४ । २२) अर्थात् 'यह ज्ञानी निश्चय ही पुण्य और पाप दोनोंको यहीं पार कर जाता है ।' इससे यह सिद्ध होता है कि ज्ञानी पुरुषका शरीर त्याग देनेके बाद शुभाशुभ कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं रहता । उसे जो ब्रह्मलोक (नित्य धाम) प्राप्त होता है, वह किसी कर्मके फलरूपमें नहीं, अपितु ब्रह्मज्ञानके बलसे प्राप्त होता है । अतः उसके लिये परलोकमें जाकर भोगद्वारा पार करनेयोग्य कोई कर्मफल शेष नहीं रहता; इसलिये उसके पुण्यकर्म भी यहीं समाप्त हो जाते हैं । ज्ञानीके सञ्चित आदि समस्त कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाता है, इस बातका समर्थन मुण्डकोपनिषद्में भी इस प्रकार किया गया है—'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्य-

मुपैति ।' (मु० उ० ३ । १ । ३)—'उस समय ज्ञानी पुरुष पुण्य और पाप दोनोंको हटाकर निर्मल हो सर्वोत्तम साम्यरूप परब्रह्मको प्राप्त कर लेता है ।'

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'समस्त कर्मोंका नाश और ब्रह्मकी प्राप्तिरूप फल तो ब्रह्म-ज्ञानसे यहीं तत्काल प्राप्त हो जाता है। फिर देवयान-मार्गसे ब्रह्मलोकमें जाकर परमात्माको प्राप्त करनेकी बात क्यों कही गयी है?' इसपर कहते हैं—

छन्दत उभयथाविरोधात् ॥ ३ । ३ । २८ ॥

छन्दतः=ज्ञानी पुरुषके सङ्कल्पके अनुसार; **उभयथा**=दोनों प्रकारकी स्थिति होनेमें; **अविरोधात्**=कोई विरोध नहीं है (इसलिये ब्रह्मलोकमें जानेका विधान है)।

व्याख्या—छान्दोग्योपनिषद् (३ । १४ । १) में कहा है कि **'अथ खलु क्रतुमयः पुरुषो यथाक्रतुरस्मिँल्लोके पुरुषो भवति तथेतः प्रेत्य भवति ।'** अर्थात् 'यह पुरुष निश्चय ही सङ्कल्पमय है । इस लोकमें पुरुष जैसे सङ्कल्पवाला होता है, वैसा ही देहत्यागके पश्चात् यहाँसे परलोकमें जानेपर भी होता है ।' इससे यह सिद्ध होता है कि जो ज्ञानी पुरुष किसी लोकमें जानेकी इच्छा न करके यहीं मुक्त होनेका सङ्कल्प रखता है, ब्रह्मज्ञानके लिये साधनमें प्रवृत्त होते समय भी जिसकी ऐसी ही भावना रही है, वह तो तत्काल यहीं ब्रह्म-सायुज्यको प्राप्त हो जाता है; परन्तु जो ब्रह्मलोक-दर्शनकी इच्छा रखकर साधनमें प्रवृत्त हुआ था तथा जिसका वहाँ जानेका सङ्कल्प है, वह देवयानमार्गसे वहाँ जाकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है । इस प्रकार साधकके सङ्कल्पानुसार दोनों प्रकारकी गति मान लेनेमें कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—यदि इस प्रकार ब्रह्मलोकमें गये बिना यहाँ ही परमात्माको प्राप्त हो जाना मान लिया जाय तो क्या आपत्ति है? इसपर कहते हैं—

गतेरर्थवत्त्वमुभयथान्यथा हि विरोधः ॥ ३ । ३ । २९ ॥

गतेः=गतिबोधक श्रुतिकी; **अर्थवत्त्वम्**=सार्थकता; **उभयथा**=दोनों प्रकारसे ब्रह्मकी प्राप्ति माननेपर ही होगी; **हि**=क्योंकि; **अन्यथा**=यदि अन्य प्रकारसे माने तो; **विरोधः**=श्रुतिमें परस्पर विरोध आयेगा ।

व्याख्या—श्रुतियोंमें कहीं तो तत्काल ही ब्रह्मकी प्राप्ति बतलायी है

(क० उ० २ । ३ । १४, १५), कहीं ब्रह्मलोकमें जानेपर बतायी है (मु० उ० ३ । २ । ६) । अतः यदि उपर्युक्त दोनों प्रकारसे उसकी व्यवस्था नहीं मानी जायगी तो दोनों प्रकारका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंमें विरोध आयेगा । इसलिये यही मानना ठीक है कि साधकके संकल्पानुसार दोनों प्रकारसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है । ऐसा माननेपर ही देवयान-मार्गसे गतिका वर्णन करनेवाली श्रुतिकी सार्थकता होगी और श्रुतियोंका परस्पर विरोध भी दूर हो जायगा ।

सम्बन्ध—पुनः उसी बातको सिद्ध करते हैं—

उपपन्नस्तल्लक्षणार्थोपलब्धेर्लोकवत् ॥ ३ । ३ । ३० ॥

तल्लक्षणार्थोपलब्धेः=उस देवयानमार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जानेके उपयुक्त सूक्ष्म शरीरादि उपकरणोंकी प्राप्तिका कथन होनेसे; **उपपन्नः**=उनके लिये ब्रह्मलोकमें जानेका कथन युक्तिसङ्गत है; **लोकवत्**=लोकमें भी ऐसा देखा जाता है ।

व्याख्या—श्रुतिमें जहाँ साधकके लिये देवयानमार्गके द्वारा ब्रह्मलोकमें जानेकी बात कही है, उस प्रकरणमें उसके उपयोगी उपकरणोंका वर्णन भी पाया जाता है। श्रुतिमें कहा है कि यह जीवात्मा जिस सङ्कल्पवाला होता है, उस सङ्कल्पद्वारा मुख्य प्राणमें स्थित हो जाता है। मुख्य प्राण उदानवायुमें स्थित हो मन-इन्द्रियोंसे युक्त जीवात्माको उसके सङ्कल्पानुसार लोकमें जाता है। (प्र० उ० ३ । १०) इसी तरह दूसरी जगह अर्चि-अभिमानी देवतादिको प्राप्त होना कहा है। (छा० उ० ५ । १० । १, २) इस प्रकार समस्त कर्मोंका अत्यन्त अभाव हो जानेपर भी उसका दिव्य-शरीरसे सम्पन्न होना बतलाया गया है; किन्तु जिन साधकोंको शरीर रहते हुए परब्रह्म परमेश्वर प्रत्यक्ष हो जाते हैं, उनके लिये वैसा वर्णन नहीं आता (क० उ० २ । ३ । १४); अपितु उनके विषयमें श्रुतिने इस प्रकार कहा है कि—'योऽकामो निष्काम आप्तकाम आत्मकामो न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।' (बृह० उ० ४ । ४ । ६) अर्थात् 'जो कामनारहित, निष्काम, पूर्णकाम तथा केवल परमात्माको ही चाहनेवाला है, उसके प्राण ऊपरके लोकोंमें नहीं जाते । वह ब्रह्म होकर ही (यहीं) ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।' इसलिये यही मानना सुसंगत है कि साधकके सङ्कल्पानुसार दोनों प्रकारसे ही ब्रह्मकी प्राप्ति होती है । लोकमें भी देखा जाता है कि जिसको अपने स्थानसे कहीं अन्यत्र जाना होता है, उसके

साथ यात्रोपयोगी आवश्यक सामग्री रहती है; उसी प्रकार उपर्युक्त अधिकारी पुरुषके लिये दिव्य-शरीर आदि उपकरणोंका वर्णन किया गया है, इसलिये उसका इस लोकसे ब्रह्मलोकमें जानेका कथन उचित ही है।

सम्बन्ध—'ब्रह्मविद्याका फल बताते हुए श्रुतिने बहुत जगह ब्रह्मलोकमें जानेकी बात तो कही है, परन्तु देवयानमार्गसे जानेकी बात सर्वत्र नहीं कही है। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी ब्रह्मवेत्ता देवयानमार्गसे ही जाते हैं, या जिन-जिन विद्याओंके प्रकरणमें देवयानमार्गका वर्णन है, उन्हींके अनुसार उपासना करनेवाले पुरुष उस मार्गसे जाते हैं?' इसपर कहते हैं—

अनियमः सर्वेषामविरोधः शब्दानुमाना-भ्याम् ॥ ३ । ३ । ३१ ॥

अनियमः=ऐसा नियम नहीं है कि उन्हीं विद्याओंके अनुसार उपासना करनेवाले देवयानमार्गद्वारा जाते हैं; **सर्वेषाम्**=अपितु ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी साधकोंकी गति उसी मार्गसे होती है (यही बात); **शब्दानुमानाभ्याम्**= श्रुति और स्मृतियोंसे सिद्ध होती है (इसलिये); **अविरोधः**=कोई विरोध नहीं है।

व्याख्या—श्रुतिमें कई जगह साधकको ब्रह्मलोक और परमधामकी प्राप्ति बतलायी गयी है, परन्तु सब जगह देवयानमार्गका वर्णन नहीं है। उसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता आदि स्मृतियोंमें भी सब जगह मार्गका वर्णन नहीं है। अतः जहाँ ब्रह्मलोककी प्राप्ति बतलायी गयी है, वहाँ यदि मार्गका वर्णन न हो तो भी अन्य श्रुतियोंके वर्णनसे वह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि ब्रह्मलोकमें गमन होगा तो किसी-न-किसी मार्गसे ही होगा। अतः यह नियम नहीं है कि जिन प्रकरणोंमें देवयानमार्गका वर्णन है, उसके अनुसार उपासना करनेवाले ही उस मार्गसे जाते हैं, दूसरे नहीं। अपितु जिनका ब्रह्मलोकमें गमन कहा गया है, वे सभी देवयानमार्गसे जाते हैं, ऐसा माननेसे श्रुतिके कथनमें किसी प्रकारका विरोध नहीं आयेगा। यहाँ यह भी समझ लेना चाहिये कि जो यहीं परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, वे ब्रह्मलोकमें नहीं जाते।

सम्बन्ध—'वसिष्ठ और व्यास आदि जो अधिकारप्राप्त ऋषिगण हैं, उनकी अर्चिमार्गसे गति होती है या वे इसी शरीरसे ब्रह्मलोकतक जा सकते हैं?' इसपर कहते हैं—

यावदधिकारमवस्थितिराधिकारिकाणाम् ॥ ३ । ३ । ३२ ॥

आधिकारिकाणाम्=जो अधिकार-प्राप्त कारक पुरुष हैं, उनकी; **यावदधिकारम्**=जबतक अधिकारकी समाप्ति नहीं होती तबतक; **अवस्थितिः**= अपनी इच्छानुसार स्थिति रहती है ।

व्याख्या—जो वसिष्ठ तथा व्यास आदि महापुरुष अधिकार लेकर परमेश्वरकी आज्ञासे यहाँ जगत्‌का कल्याण करनेके लिये आते हैं, उन कारक पुरुषोंका न तो साधारण जीवोंकी भाँति जाना-आना होता है और न जन्मना-मरना ही होता है। उनकी सभी क्रियाएँ साधारण जीवोंसे विलक्षण एवं दिव्य होती हैं। वे अपने इच्छानुसार शरीर धारण करनेमें समर्थ होते हैं अतः उनके लिये अर्चि आदि देवताओंकी सहायता आवश्यक नहीं है। जबतक उनका अधिकार रहता है, तबतक वे इस जगत्‌में आवश्यकतानुसार सभी लोकोंमें स्वतन्त्रतापूर्वक जा सकते हैं, अन्तमें परमात्मामें विलीन हो जाते हैं। इसलिये अन्य साधक या मुक्त पुरुष उनके समान नहीं हो सकते ।

सम्बन्ध—बत्तीसवें सूत्रतक ब्रह्मलोक और परमात्माकी प्राप्तिके विषयमें आयी हुई श्रुतियोंपर विचार किया गया । अब ब्रह्म और जीवके स्वरूपका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अक्षरधियां त्ववरोधः सामान्यतद्भावाभ्यामौपसदव-त्तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । ३३ ॥

अक्षरधियाम्=अक्षर अर्थात् परमात्माके निर्गुण निराकार विषयक लक्षणोंका; **तु**=भी; **अवरोधः**=सब जगह अध्याहार करना (उचित है); **सामान्यतद्भावाभ्याम्**=क्योंकि ब्रह्मके सभी विशेषण समान हैं तथा उसीके स्वरूपको लक्ष्य करानेवाले भाव हैं; **औपसदवत्**=अतः 'उपसत्' कर्मसंबन्धी मन्त्रोंकी भाँति; **तदुक्तम्**=उनका अध्याहार कर लेना उचित है; यह बात कही गयी है ।

व्याख्या—बृहदारण्यकमें याज्ञवल्क्यने कहा है कि 'हे गार्गि ! जिसको तुम पूछ रही हो, उस तत्त्वको ब्रह्मवेत्तालोग अक्षर कहते हैं अर्थात् निर्गुण-निराकार, अविनाशी ब्रह्म बतलाते हैं । वह न मोटा है, न पतला है, न छोटा है, न बड़ा

है' इत्यादि (बृह० उ० ३ । ८ । ८) । इस प्रकार वहाँ ब्रह्मको इन सब पदार्थोंसे, इन्द्रियोंसे और शरीरधारी जीवोंसे अत्यन्त विलक्षण बतलाया गया है । तथा मुण्डकोपनिषद्‌में अंगिरा ऋषिने शौनकसे कहा है कि 'वह परा विद्या है, जिससे उस अक्षर (परब्रह्म परमात्मा) की प्राप्ति होती है, जो जानने और पकड़नेमें आनेवाला नहीं है, जो गोत्र, वर्ण, आँख, कान, हाथ, पैर आदिसे रहित है, किन्तु सर्वव्यापी, अतिसूक्ष्म, विनाशरहित और समस्त प्राणियोंका कारण है, उसको ज्ञानी पुरुष सब ओरसे देखते हैं (मु० उ० १ । १ । ५, ६)। इस प्रकार वेदमें उस अक्षरब्रह्मके जो विशेषण बतलाये गये हैं, उनको ब्रह्मके वर्णनमें सभी जगह ग्रहण कर लेना चाहिये; क्योंकि ब्रह्मके सविशेष और निर्विशेष सभी लक्षण समान हैं तथा सभी उसीके भाव हैं अर्थात् उस ब्रह्मके स्वरूपका लक्ष्य करानेके लिये ही कहे हुए भाव हैं, इसलिये 'उपसत्' कर्म सम्बन्धी मन्त्रोंकी भाँति उनका अध्याहार कर लेना उचित है। यह बात कही गयी है।

सम्बन्ध—'मुण्डक (३ । १ । १) और श्वेताश्वतर (४ । ६) में तो पक्षीके दृष्टान्तसे जीव और ईश्वरको मनुष्यके हृदयमें स्थित बतलाया है और कठोपनिषद्‌में छाया तथा धूपकी भाँति ईश्वर और जीवको मनुष्यके हृदयमें स्थित बतलाया है, इन श्रुतियोंमें जिस विद्या अथवा विज्ञानका वर्णन है, वह एक दूसरेसे भिन्न है या अभिन्न ?' इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इयदामननात् ॥ ३ । ३ । ३४ ॥

(उक्त तीनों मन्त्रोंमें एक ही ब्रह्मविद्याका वर्णन है) **इयदामननात्**=क्योंकि सभी जगह इयत्ता (इतनापन)का वर्णन समान है।

व्याख्या—मुण्डक और श्वेताश्वतरमें तो कहा है कि 'एक साथ रहकर परस्पर सखाभाव रखनेवाले दो पक्षी (जीवात्मा और परमात्मा) एक ही शरीररूप वृक्षका आश्रय लेकर रहते हैं, उन दोनोंमेंसे एक तो कर्मफलरूप सुख-दुःखोंको भोगता है और दूसरा न खाता हुआ केवल देखता रहता है । इस प्रकार यह जीव शरीरकी आसक्तिमें निमग्न होकर असमर्थताके कारण मोहित होकर चिन्ता करता रहता है । यदि यह भक्तोंद्वारा सेवित अपने पास रहनेवाले सखा परमेश्वर और उसकी विचित्र महिमाको देख ले तो तत्काल ही शोकरहित हो जाय ।' तथा कठोपनिषद्‌में कहा है कि 'मनुष्य-शरीरमें परब्रह्मके उत्तम

निवासस्थान हृदयगुहामें छिपे हुए और अपने सत्यस्वरूपका अनुभव करनेवाले (जीव और ईश्वर) दोनों हैं, जो कि छाया और धूपकी भाँति भिन्न स्वभाववाले हैं। ऐसा ब्रह्मवेत्ता कहते हैं।' (क० उ० १ । ३ । १)। इन सभी स्थलोंमें द्विवचनान्त शब्दोंका प्रयोग करके जीव और ईश्वरको परिच्छिन्न स्थल—हृदयमें स्थित बताया गया है। इससे सिद्ध होता है कि तीनों जगह कही हुई विद्या एक है। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ उस परब्रह्म परमेश्वरको प्राणियोंके हृदयमें स्थित बताया गया है, उन सब स्थलोंमें वर्णित विद्याकी भी एकता समझ लेनी चाहिये।

सम्बन्ध—अब परमात्माको सर्वान्तर्यामी बतलानेवाली श्रुतियोंपर विचार आरम्भ करते हैं—

अन्तरा भूतग्रामवत्स्वात्मनः ॥ ३ । ३ । ३५ ॥

भूतग्रामवत्=आकाशादि भूतसमुदायकी भाँति (वह परमात्मा); **स्वात्मनः**= साधकके अपने आत्माका भी; **अन्तरा**=अन्तरात्मा (अन्तर्यामी है); (**आमननात्**)= क्योंकि यही बात अन्य श्रुतिमें कही गयी है।

व्याख्या—राजा जनककी सभामें याज्ञवल्क्यसे चक्रायणके पुत्र उषस्तने कहा कि 'जो अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है, उसको मुझे समझाइये।' तब याज्ञवल्क्यने कहा—'जो तेरा अन्तरात्मा है, वही सबका है।' उसके पुनः जिज्ञासा करनेपर याज्ञवल्क्यने विस्तारसे समझाया कि 'जो प्राणके द्वारा सबको प्राणक्रियासम्पन्न करता है।' आदि। उसके बाद उषस्तके पुनः पूछनेपर बताया कि 'दृष्टिके द्रष्टाको देखा नहीं जा सकता, श्रुतिके श्रोताको सुना नहीं जा सकता, मतिके मन्ताको मनन नहीं किया जा सकता, विज्ञातिके विज्ञाताको जाना नहीं जा सकता, यह तेरा अन्तरात्मा ही सबका अन्तरात्मा है' (बृह० उ० ३ । ४ । १, २)। फिर कहोलऋषिने भी वही बात पूछी कि 'जो साक्षात् अपरोक्ष ब्रह्म है, जो सबका अन्तरात्मा है, उसको मुझे समझावें।' याज्ञवल्क्यने उत्तरमें कहा कि 'जो तेरा अन्तरात्मा है, वही सबका अन्तरात्मा है। जो भूख, प्यास, शोक, मोह, बुढ़ापा और मृत्यु सबसे अतीत है' इत्यादि (बृह० उ०३ । ५ । १)। इन दोनों प्रकरणोंको दृष्टिमें रखकर इस तरहके सभी प्रकरणोंका एक साथ निर्णय करते हैं।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि 'इसमें जो अन्तरात्मा बतलाया गया है, वह

जीवात्मा है या परमात्मा ? यदि परमात्मा है तो किस प्रकार ?' इसका उत्तर देते हुए सूत्रकार कहते हैं—जिस प्रकार भूतसमुदायमें पृथिवीका अन्तरात्मा जल है, जलका तेज है, तेजका वायु है और वायुका भी आकाश है। अतः सबका अन्तरात्मा आकाश है। उसी प्रकार समस्त जड तत्त्वोंका अन्तरात्मा जीवात्मा है और जो अपने आपका अर्थात् जीवात्माका भी अन्तरात्मा है, वह सबका अन्तरात्मा है; क्योंकि अन्य श्रुतिमें यही बात कही गयी है। अर्थात् उसी प्रकरणके सातवें ब्राह्मणमें उद्दालकके प्रश्नका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यने उस परब्रह्म परमात्माको पृथिवी आदि समस्त भूतसमुदायका अन्तर्यामी बतलाते हुए अन्तमें विज्ञानात्मा अर्थात् जीवात्मा-का भी अन्तर्यामी उसीको बतलाया है तथा प्रत्येक वाक्यके अन्तमें कहा है कि 'यही तेरा अन्तर्यामी अमृतस्वरूप आत्मा है।' श्वेताश्वतरमें भी कहा गया है कि 'सब प्राणियोंमें छिपा हुआ वह एक देव सर्वव्यापी और समस्त प्राणियोंका अन्तरात्मा है, वह सबके कर्मोंका अधिष्ठाता, सबका निवासस्थान, सबका साक्षी, सर्वथा विशुद्ध और गुणातीत है'।' (श्वेता० उ० ६। ११) इसलिये यही सिद्ध होता है कि सबका अन्तरात्मा वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है। जीवात्मा सबका अन्तरात्मा नहीं हो सकता।

सम्बन्ध—अब कही हुई बातमें शङ्का उठाकर उसका उत्तर देते हैं—

अन्यथाभेदानुपपत्तिरिति चेन्नोपदेशान्तरवत् ॥ ३ । ३ । ३६ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **अन्यथा**=दूसरे प्रकारसे; **अभेदानुपपत्तिः**=अभेदकी सिद्धि नहीं होगी, इसलिये (उक्त प्रकरणमें जीवात्मा और परमात्माका अभेद मानना ही उचित है); **इति न**=तो यह ठीक नहीं; **उपदेशान्तरवत्**=क्योंकि दूसरे उपदेशकी भाँति अभेदकी सिद्धि हो जायगी।

व्याख्या—यदि कहो कि उक्त वर्णनके अनुसार जीवात्मा और परमात्माके भेदको उपाधिकृत न मानकर वास्तविक मान लेनेपर अभेदकी सिद्धि नहीं होगी, तो ऐसी बात नहीं है। दूसरी जगहके उपदेशकी भाँति यहाँ भी अभेदकी सिद्धि हो जायगी। अर्थात् जिस प्रकार दूसरी जगह कार्यकारणभावके अभिप्रायसे परब्रह्म परमेश्वरकी जड-प्रपञ्च और जीवात्माके साथ एकता करके उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार प्रत्येक स्थानमें अभेदकी सिद्धि हो जायगी। भाव यह कि श्वेतकेतुको

उसके पिताने मिट्टी, लोहा और सोनेके अंशद्वारा कार्य-कारणकी एकता समझायी, उसके बाद (छा० उ० ६ । ८ । १ से ६ । १६ । ३ तक) नौ बार पृथक्-पृथक् दृष्टान्त देकर प्रत्येकके अन्तमें यह बात कही है कि 'स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यꣳ स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो' 'यह जो अणिमा अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्म परमात्मा है, इसीका स्वरूप यह समस्त जगत् है, वही सत्य है, वह आत्मा है और वह तू है अर्थात् कार्य और कारणकी भाँति तेरी और उसकी एकता है।' उसी प्रकार सब जगह समझ लेना चाहिये ।

सम्बन्ध—यदि परमात्मा और जीवात्माका उपाधिकृत भेद और वास्तविक अभेद मान लिया जाय तो क्या हानि है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

व्यतिहारो विंशिषन्ति हीतरवत् ॥ ३ । ३ । ३७ ॥

व्यतिहारः=परस्पर व्यत्यय करके अभेदका वर्णन है, इसलिये उपाधिकृत भेद सिद्ध नहीं होता; **हि**=क्योंकि; **इतरवत्**=सभी श्रुतियाँ दूसरेकी भाँति; **विंशिषन्ति**=विशेषण देकर वर्णन करती हैं ।

व्याख्या—परमात्माके साथ जीवात्माकी एकताका प्रतिपादन करते हुए श्रुतिने कहा है कि 'तद् योऽहं सोऽसौ योऽसौ सोऽहम् ।' अर्थात् 'जो मैं हूँ सो वह है और जो वह है सो मैं हूँ' (ऐ० आ० २ । ४ । ३) तथा 'त्वं वा अहमस्मि भगवो देवते अहं वै त्वमसि' (वराहोपनिषद् २ । ३४) अर्थात् 'हे भगवन् ! हे देव ! निश्चय ही 'तुम' मैं हूँ और 'मैं' तुम हो ।' इस प्रकार व्यतिहारपूर्वक अर्थात् एकमें दूसरेके धर्मोंका विनिमय करते हुए एकताका प्रतिपादन किया गया है । ऐसा वर्णन उन्हीं स्थलोंपर किया जाता है, जहाँ इतर वस्तुकी भाँति वास्तवमें भेद होते हुए भी प्रकारान्तरसे अभेद बतलाना अभीष्ट हो । जैसा कि दूसरी जगह श्रुतिमें देखा जाता है—'अथ खलु य उद्गीथः स प्रणवो यः प्रणवः स उद्गीथः ।' (छा० उ० १ । ५ । १) अर्थात् 'निश्चय ही जो उद्गीथ है, वह प्रणव है और जो प्रणव है, वह उद्गीथ है ।' उद्गीथ और प्रणवमें भेद होते हुए भी यहाँ उपासनाके लिये श्रुतिने व्यतिहारवाक्यद्वारा दोनोंकी एकताका प्रतिपादन किया है । इसी प्रकार यहाँ भी उपासनाके लिये परमात्माके साथ जीवात्माकी एकता बतायी गयी है, ऐसा समझना चाहिये । जहाँ उपाधिकृत भेद

होता है, वहाँ ऐसा कथन संगत नहीं होता। यहाँ इस एकताके प्रतिपादनका प्रयोजन यही जान पड़ता है कि उपासक यदि उपासना-कालमें अपनेको परमात्माकी भाँति देह और उसके व्यवहारसे सर्वथा असंग तथा नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त समझकर तद्रूप हो ध्यान करे तो वह शीघ्र ही सच्चिदानन्दघन परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

सम्बन्ध—पुनः प्रकारान्तरसे औपाधिक भेदकी मान्यताका निराकरण करते हैं—

सैव हि सत्यादयः ॥ ३ । ३ । ३८ ॥

सा एव=(परमात्मा और जीवका औपाधिक भेद तथा वास्तवमें अत्यन्त अभेद माननेपर) वही अनुपपत्ति है; **हि**=क्योंकि; **सत्यादयः**=(परमात्माके) सत्यसङ्कल्पत्व आदि धर्म (जीवात्माके नहीं माने जा सकते)।

व्याख्या—जैसे पूर्वसूत्रमें यह अनुपपत्ति दिखा आये हैं कि जीवात्मा और परमात्मामें अत्यन्त अभेद होनेपर श्रुतिके व्यतिहार-वाक्यद्वारा दोनोंकी एकताका स्थापन संगत नहीं हो सकता, वैसी ही अनुपपत्ति इस सूत्रमें भी प्रकारान्तरसे दिखायी जाती है। कहना यह है कि परमात्माके स्वरूपका जहाँ वर्णन किया गया है, वहाँ उसे सत्यकाम, सत्यसङ्कल्प, अपहतपाप्मा, अजर, अमर, सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान्, सबका परम कारण तथा सर्वाधार बताया गया है। ये सत्यकामत्व आदि धर्म जीवात्माके धर्मोंसे सर्वथा विलक्षण हैं। जीवात्मामें इनका पूर्णरूपसे होना सम्भव नहीं है। जब दोनोंमें धर्मकी समानता नहीं है, तब उनका अत्यन्त अभेद कैसे सिद्ध हो सकता है। इसलिये परमात्मा और जीवात्माका भेद उपाधिकृत है—यह मान्यता असंगत है।

सम्बन्ध—यदि कहा जाय कि 'परब्रह्म परमेश्वरमें जो सत्यकामत्व आदि धर्म श्रुतिद्वारा बताये गये हैं, वे स्वाभाविक नहीं, किन्तु उपाधिके सम्बन्धसे हैं, वास्तवमें ब्रह्मका स्वरूप तो निर्विशेष है। अतः इन धर्मोंको लेकर जीवसे उसकी भिन्नता नहीं बतायी जा सकती है' तो यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि—

कामादीतरत्र तत्र चायतनादिभ्यः ॥ ३ । ३ । ३९ ॥

(उस परब्रह्मके) **इतरत्र**=दूसरी जगह (बताये हुए); **कामादि**=सत्यकामत्वादि धर्म; **तत्र च**=जहाँ निर्विशेष स्वरूपका वर्णन है, वहाँ भी हैं;

आयतनादिभ्यः=क्योंकि वहाँ उसके सर्वाधारत्व आदि धर्मोंका वर्णन पाया जाता है।

व्याख्या—उस परब्रह्म परमेश्वरके जो सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व तथा सर्वेश्वरत्वादि धर्म विभिन्न श्रुतियोंमें बतलाये गये हैं, उनका जहाँ निर्विशेष ब्रह्मका वर्णन है, वहाँ भी अध्याहार कर लेना चाहिये; क्योंकि निर्विशेष-स्वरूपका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंमें भी ब्रह्मके सर्वाधारत्व आदि सविशेष-धर्मोंका वर्णन है। इसलिये वैसे दूसरे धर्मोंका भी अध्याहार उचित ही है। बृहदारण्यकमें गार्गीके प्रश्नका उत्तर देते हुए याज्ञवल्क्यने उस परम अक्षर परमात्माके स्वरूपका वर्णन किया है। वहाँ पहले 'अस्थूलमनणु' (न स्थूल है न सूक्ष्म है) इत्यादि प्रकारसे निर्विशेषस्वरूपके लक्षणोंका वर्णन करके अन्तमें कहा है कि 'इस अक्षरके ही प्रशासनमें सूर्य और चन्द्रमा धारण किये हुए हैं, उस अक्षरके ही प्रशासनमें द्युलोक और पृथिवी धारण किये हुए हैं।' इस प्रकार याज्ञवल्क्यने यहाँ उस अक्षरब्रह्मको समस्त जगत्का आधार बतलाया है (बृह० उ० ३। ८। ८-९)। इसी तरह मुण्डकोपनिषद्में 'जाननेमें न आनेवाला, पकड़नेमें न आनेवाला' इत्यादि प्रकारसे निर्विशेषस्वरूपके धर्मोंका वर्णन करनेके पश्चात् उस ब्रह्मको नित्य, विभु, सर्वगत, अत्यन्त सूक्ष्म और समस्त प्राणियोंका कारण बताकर उसे विशेष धर्मोंसे युक्त भी कहा गया है (मु० उ० १। १। ६)। इससे यह सिद्ध होता है कि 'वह परमात्मा दोनों प्रकारके धर्मोंवाला है।' इसलिये दूसरी जगह कहे हुए सत्यसङ्कल्पत्व, सर्वज्ञत्व आदि जितने भी परमेश्वरके दिव्य गुण हैं, वे उनमें स्वाभाविक हैं, उपाधिकृत नहीं हैं। अतः जहाँ जिन लक्षणोंका वर्णन नहीं है, वहाँ उनका अध्याहार कर लेना चाहिये। इस प्रकार परमात्मा और जीवात्मामें समानधर्मता न होनेके कारण उनमें सर्वथा अभेद नहीं माना जा सकता है।

सम्बन्ध—यदि जीव और ईश्वरका भेद उपाधिकृत नहीं माना जायगा, तब तो अनेक द्रष्टाओंकी सत्ता सिद्ध हो जायगी। इस परिस्थितिमें श्रुतिद्वारा जो यह कहा है कि 'इससे अन्य कोई द्रष्टा नहीं है' इत्यादि, उसकी व्यवस्था कैसे होगी? इसपर कहते हैं—

आदरादलोपः ॥ ३ । ३ । ४० ॥

आदरात्=वह कथन परमेश्वरके प्रति आदरका प्रदर्शक होनेके कारण; **अलोपः**=उसमें अन्य द्रष्टाका लोप अर्थात् निषेध नहीं है ।

व्याख्या—उस परब्रह्म परमेश्वरको सर्वश्रेष्ठ बतलानेके लिये वहाँ आदरकी दृष्टिसे अन्य द्रष्टाका निषेध किया गया है, वास्तवमें नहीं । भाव यह है कि वह परब्रह्म परमेश्वर ऐसा द्रष्टा, ऐसा सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है कि उसकी अपेक्षा अन्य सब जीव द्रष्टा होते हुए भी नहींके समान हैं; क्योंकि उनमें पूर्ण द्रष्टापन नहीं है । प्रलयकालमें जड तत्त्वोंकी भाँति जीवोंको भी किसी प्रकारका विशेष ज्ञान नहीं रहता तथा वर्तमानकालमें भी जो जीवोंका जानना, देखना, सुनना आदि है, वह सीमित है और उस अन्तर्यामी परमेश्वरके ही सकाशसे है। (ऐ० उ० १ । ३ । ११) तथा (प्र० उ० ४ । ९) वही इसका प्रेरक है, अतः यह सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि श्रुतिका वह कहना भगवान्‌की श्रेष्ठता दिखलानेके लिये है, वास्तवमें अन्य द्रष्टाका निषेध करनेके लिये नहीं है ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथन परमेश्वरके प्रति आदर सूचित करनेके लिये है, इस बातको प्रकारान्तरसे सिद्ध करते हैं—

उपस्थितेऽतस्तद्वचनात् ॥ ३ । ३ । ४१ ॥

उपस्थिते=उक्त वचनोंसे किसी प्रकार अन्य चेतनका निषेध प्राप्त होनेपर भी; **अतः**=इस ब्रह्मकी अपेक्षा अन्य द्रष्टाका निषेध बतानेके कारण (वह कथन आदरार्थक ही है); **तद्वचनात्**=क्योंकि उन वाक्योंके साथ बार-बार अतः शब्द-का प्रयोग किया गया है ।

व्याख्या—जहाँ उस परमात्मासे अन्य द्रष्टा, श्रोता आदिका निषेध है (बृह० उ० ३ । ७ । २३), वहाँ उस वर्णनमें बार-बार 'अतः' शब्दका प्रयोग किया गया है, इसलिये यही सिद्ध होता है कि इसकी अपेक्षा या इससे अधिक कोई द्रष्टा, श्रोता आदि नहीं है । जैसे यह कहा जाय कि इससे अन्य कोई धार्मिक नहीं है तो इस कथनद्वारा अन्य धार्मिकोंसे उसकी श्रेष्ठता बताना ही अभीष्ट है, न कि अन्य सब धार्मिकोंका अभाव बतलाना । उसी प्रकार वहाँ जो यह कहा गया है कि 'इस परमातमासे अन्य कोई द्रष्टा आदि नहीं है' उस कथनका भी यही अर्थ है कि इससे अधिक कोई द्रष्टापन आदि गुणोंसे युक्त पुरुष नहीं है; यह परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा आदि है; क्योंकि उसी वर्णनके प्रसङ्गमें (बृह० उ० ३ ।

७ । २२) परब्रह्म परमात्माको जीवात्माका अन्तर्यामी और जीवात्माको उसका शरीर बताकर दोनोंके भेदका प्रतिपादन किया है। यदि 'नान्योऽतो द्रष्टा' इत्यादि वाक्योंसे अन्य द्रष्टा अर्थात् जीवात्माका निषेध बताया जाय तो पूर्व वर्णनसे विरोध आयेगा, इसलिये वहाँ अन्य द्रष्टाके निषेधका तात्पर्य परमात्माको सर्वश्रेष्ठ द्रष्टा बताकर उसके प्रति आदर प्रदर्शित करना ही समझना चाहिये ।

सम्बन्ध—यहाँतक यह निर्णय किया गया कि जीवात्मा और परमात्माका भेद उपाधिकृत नहीं है तथा उस परब्रह्म परमेश्वरमें जो सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता, सर्वाधारता तथा सर्वसुहृद् होना आदि दिव्य गुण शास्त्रोंमें बताये गये हैं, वे भी उपाधिकृत नहीं हैं; किन्तु स्वभावसिद्ध और नित्य हैं । जहाँ ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन करते समय उनका वर्णन न हो, वहाँ भी उन सबका अध्याहार कर लेना चाहिये। अब फलविषयक श्रुतियोंका विरोधाभास दूर करके सिद्धान्त-निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। दहरविद्यामें तथा प्रजापति-इन्द्रके संवादमें जो ब्रह्मविद्याका वर्णन है, उसके फलमें इच्छानुसार नाना प्रकारके भोगोंको भोगनेकी बात कही गयी है (छा० उ० ८ । २ । १ से १० तक); किन्तु दूसरी जगह वैसी बात नहीं कही गयी है । अतः यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले सभी साधकोंके लिये यह नियम है या इसमें विकल्प है ? इसपर कहते हैं—

तन्निर्धारणानियमस्तद्दृष्टेः पृथग्घ्यप्रतिबन्धः फलम् ॥ ३ । ३ । ४२ ॥

तन्निर्धारणानियमः=भोगोंके भोगनेका निश्चित नियम नहीं है; **तद्दृष्टेः**=क्योंकि यह बात उस प्रकरणमें बार-बार 'यदि' शब्दके प्रयोगसे देखी गयी है; **हि**=इसके सिवा, दूसरा कारण यह भी है कि; **पृथक्**=कामोपभोग-से भिन्न सङ्कल्पवालेके लिये; **अप्रतिबन्धः**=जन्म-मरणके बन्धनसे छूट जाना ही; **फलम्**=फल बताया गया है ।

व्याख्या—ब्रह्मलोकमें जानेवाले सभी साधकोंको उस लोकके दिव्य भोगोंका उपभोग करना पड़े, यह नियम नहीं है; क्योंकि जहाँ-जहाँ ब्रह्मलोककी प्राप्तिका वर्णन किया गया है, वहाँ सब जगह भोगोंके उपभोगकी बात नहीं कही है तथा जहाँ कही है, वहाँ भी 'यदि' शब्दका प्रयोग करके साधकके इच्छानुसार

उसका विकल्प दिखा दिया है (छा० उ० ८ । २ । १ से १० तक)। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जो साधक ब्रह्मलोकके या अन्य किसी भी देवलोकके भोगोंको भोगनेकी इच्छा रखता है, उसीको वे भोग मिलते हैं, ब्रह्मविद्याकी स्तुतिके लिये यह आनुषङ्गिक वर्णन है, उस विद्याका मुख्य फल नहीं है। परमात्माके साक्षात्कारमें तो ये भोग विलम्ब करनेवाले विघ्न हैं, अतः साधकको इन भोगोंकी भी उपेक्षा ही करनी चाहिये । इसलिये जिनके मनमें भोग भोगनेका सङ्कल्प नहीं है, उनके लिये जन्म-मरणके बन्धनसे छूटकर तत्काल परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाना ही उसका मुख्य फल बताया गया है । (क० उ० २ । ३ । १४)

सम्बन्ध—'यदि ब्रह्मलोकके भोग भी उस परब्रह्म परमेश्वरके साक्षात्कारमें विलम्ब करनेवाले हैं, तब श्रुतिने ऐसे फलोंका वर्णन किस लिये किया ?' इस जिज्ञासापर कहते हैं—

प्रदानवदेव तदुक्तम् ॥ ३ । ३ । ४३ ॥

तदुक्तम्=वह कथन; **प्रदानवत्**=वरदानकी भाँति; **एव**=ही है ।

व्याख्या—जिस प्रकार भगवान् या कोई शक्तिशाली महापुरुष किसी श्रद्धालु व्यक्तिको उसकी श्रद्धा और रुचि बढ़ानेके लिये वरदान दे दिया करते हैं, उसी प्रकार स्वर्गके भोगोंमें आसक्ति रखनेवाले सकामकर्मी श्रद्धालु मनुष्योंकी ब्रह्मविद्यामें श्रद्धा बढ़ाकर उसमें उन्हें प्रवृत्त करनेके लिये एवं कर्मोंके फलरूप स्वर्गीय भोगोंकी तुच्छता दिखानेके लिये भी श्रुतिका वह कथन है ।

सम्बन्ध—उक्त सिद्धान्तको पुष्ट करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

लिङ्गभूयस्त्वात्तद्धि बलीयस्तदपि ॥ ३ । ३ । ४४ ॥

लिङ्गभूयस्त्वात्=जन्म-मरणरूप संसारसे सदाके लिये मुक्त होकर उस परब्रह्मको प्राप्त हो जानारूप फल बतानेवाले लक्षणोंकी अधिकता होनेके कारण; **तद्बलीयः**=वही फल बलवान् (मुख्य) है; **हि**=क्योंकि; **तदपि**=वह दूसरे फलोंका वर्णन भी मुख्य फलका महत्त्व प्रकट करनेके लिये ही है ।

व्याख्या—वेदान्तशास्त्रमें जहाँ-जहाँ ब्रह्मज्ञानके फलका वर्णन किया गया है, वहाँ इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे सदाके लिये छूटकर उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जानारूप फलका ही अधिकतासे वर्णन मिलता है, इसलिये वही प्रबल अर्थात् प्रधान फल है, ऐसा मानना चाहिये; क्योंकि उसके

साथ-साथ जो किसी-किसी प्रकरणमें ब्रह्मलोकके भोगोंकी प्राप्तिरूप दूसरे फलका वर्णन आता है, वह भी मुख्य फलकी प्रधानता सिद्ध करनेके लिये ही है। इसीलिये उसका सब प्रकरणोंमें वर्णन नहीं किया गया है; किन्तु उपर्युक्त मुख्य फलका वर्णन तो सभी प्रकरणोंमें आता है।

सम्बन्ध—ब्रह्मज्ञान ही इस जन्म-मृत्युरूप संसारसे छूटनेका निश्चित उपाय है, यह बात सिद्ध करनेके लिये पूर्वपक्षकी उत्थापना की जाती है—

पूर्वविकल्पः प्रकरणात्स्यात् क्रियामानसवत् ॥ ३ । ३ । ४५ ॥

क्रियामानसवत्=शारीरिक और मानसिक क्रियाओंमें स्वीकृत विकल्पकी भाँति; **पूर्वविकल्पः**=पहले कही हुई अग्निविद्या भी विकल्पसे; **स्यात्**=मुक्तिमें हेतु हो सकती है; **प्रकरणात्**=यह बात प्रकरणसे सिद्ध होती है।

व्याख्या—नचिकेताके प्रश्न और यमराजके उत्तरविषयक प्रकरणकी आलोचना करनेसे यही सिद्ध होता है कि जिस प्रकार उपासनासम्बन्धी शारीरिक क्रियाकी भाँति मानसिक क्रिया भी फल देनेमें समर्थ है, अतः अधिकारि-भेदसे जो फल शारीरिक क्रिया करनेवालेको मिलता है, वही मानसिक क्रिया करनेवालेको भी मिल जाता है; उसी प्रकार अग्निहोत्ररूप कर्म भी ब्रह्मविद्याकी ही भाँति मुक्तिका हेतु हो सकता है। उक्त प्रकरणमें नचिकेताने प्रश्न करते समय यमराजसे यह बात कही है कि 'स्वर्गलोकमें किञ्चिन्मात्र भय नहीं है, वहाँ न तो आपका डर है और न बुढ़ापेका ही, भूख और प्यास—इनसे पार होकर यह जीव शोकसे रहित हुआ स्वर्गमें प्रसन्न होता है, उस स्वर्गके देनेवाले अग्निहोत्ररूप कर्मके रहस्यको आप जानते हैं, वह मुझे बताइये' इत्यादि (क० उ० १ । १ । १२-१३)। इसपर यमराजने वह अग्निहोत्र-क्रियासम्बन्धी सब रहस्य नचिकेताको समझा दिया (१ । १ । १५)। फिर उस अग्निहोत्ररूप कर्मकी स्तुति करते हुए यमराजने कहा है कि 'इस अग्निहोत्रका तीन बार अनुष्ठान करनेवाला जन्म-मृत्युसे तर जाता है और अत्यन्त शान्तिको प्राप्त हो जाता है।' इत्यादि (१ । १ । १७-१८)। इस प्रकरणको देखते हुए इस अग्निहोत्ररूप कर्मको मुक्तिका कारण माननेमें कोई आपत्ति मालूम नहीं होती। जिस प्रकार इसके पीछे कही हुई ब्रह्मविद्या मुक्तिमें हेतु है, वैसे ही उसके पहले कहा हुआ यह अग्निहोत्ररूप कर्म भी मुक्तिमें हेतु माना जा सकता है।

सम्बन्ध—उसी बातको दृढ़ करते हैं—

अतिदेशाच्च ॥ ३ । ३ । ४६ ॥

अतिदेशात्=अतिदेशसे अर्थात् विद्याके समान कर्मोंको मुक्तिमें हेतु बताया जानेके कारण; **च**=भी (ऊपर कही हुई बात सिद्ध होती है) ।

*व्याख्या—*केवल प्रकरणके बलपर ही कर्म मुक्तिमें हेतु सिद्ध होता है, ऐसी बात नहीं है । श्रुतिने विद्याके समान ही कर्मका भी फल बताया है । यथा—'त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू ।' (क० उ० १ । १ । १७) अर्थात् 'यज्ञ, दान, और तपरूप तीन कर्मोंको करनेवाला मनुष्य जन्म-मृत्युसे तर जाता है ।' इससे भी कर्मोंका मुक्तिमें हेतु होना सिद्ध होता है ।

सम्बन्ध—पहले दो सूत्रोंमें उठाये हुए पूर्वपक्षका सूत्रकार उत्तर देते हैं—

विद्यैव तु निर्धारणात् ॥ ३ । ३ । ४७ ॥

तु=किन्तु; **निर्धारणात्**=श्रुतियोंद्वारा निश्चितरूपमें कह दिया जानेके कारण; **विद्या एव**=केवलमात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्तिमें कारण है (कर्म नहीं) ।

*व्याख्या—*श्रुतिमें कहा है कि 'तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।' अर्थात् 'उस परब्रह्म परमात्माको जानकर ही मनुष्य जन्म-मरणको लाँघ जाता है । परमपद (मोक्ष) की प्राप्तिके लिये दूसरा कोई मार्ग (उपाय) नहीं है ' (श्वेता० उ० ३ । ८) । इस प्रकार यहाँ निश्चितरूपसे एकमात्र ब्रह्मज्ञानको ही मुक्तिका कारण बताया गया है; इसलिये ब्रह्मविद्या ही मुक्तिका हेतु है, कर्म नहीं । ब्रह्मविद्याका उपदेश देते समय नचिकेतासे स्वयं यमराजने ही कहा है कि—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥

'जो सब प्राणियोंका अन्तर्यामी, एक, अद्वितीय तथा सबको अपने वशमें रखनेवाला है, जो अपने एक ही रूपको बहुत प्रकारसे बना लेता है, उस अपने ही हृदयमें स्थित परमेश्वरको जो ज्ञानी देखते हैं, उन्हींको सदा, रहनेवाला आनन्द प्राप्त होता है, दूसरोंको नहीं ।' (क० उ० २ । २ । १२) । अतः पहले अग्निविद्याके प्रकरणमें जो जन्म-मृत्युसे छूटना और अत्यन्त शान्तिकी

प्राप्तिरूप फल बताया है, वह कथन स्वर्गलोककी स्तुति करनेके लिये गौणरूपसे है, ऐसा समझना चाहिये।

सम्बन्ध—उसी बातको दृढ़ करते हैं—

दर्शनाच्च ॥ ३ । ३ । ४८ ॥

दर्शनात्=श्रुतिमें जगह-जगह ब्रह्मज्ञानसे मुक्तिकी प्राप्तिका वर्णन देखा जानेसे; **च**=भी (यही दृढ़ होता है)।

*व्याख्या—*श्रुतिमें यज्ञादि कर्मोंका फल स्वर्गलोकमें जाकर वापस आना (मु० उ० १ । २ । ९, १०) और ब्रह्मज्ञानका फल जन्म-मरणसे छूटकर परमात्माको प्राप्त हो जाना (मु० उ० ३ । २ । ५, ६) बताया गया है, इससे भी यही सिद्ध होता है कि एकमात्र ब्रह्मविद्या ही मुक्तिमें हेतु है, यज्ञादि कर्म नहीं।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे पूर्वपक्षका उत्तर देते हुए इस प्रकरणको समाप्त करते हैं—

श्रुत्यादिबलीयस्त्वाच्च न बाधः ॥ ३ । ३ । ४९ ॥

श्रुत्यादिबलीयस्त्वात्=प्रकरणकी अपेक्षा श्रुतिप्रमाण और लक्षण आदि बलवान् होनेके कारण; **च**=भी; **बाधः**=प्रकरणके द्वारा सिद्धान्तका बाध; **न**=नहीं हो सकता।

*व्याख्या—*वेदके अर्थ और भावका निर्णय करनेमें प्रकरणकी अपेक्षा श्रुतिका वचन और लक्षण आदि अधिक बलवान् माने जाते हैं, इसलिये प्रकरणसे सिद्ध होनेवाली बातका निराकरण करनेवाले बहुत-से श्रुतिप्रमाण हों तथा उसके विरुद्ध लक्षण भी पाये जायँ तो केवल प्रकरणकी यह सामर्थ्य नहीं है कि वह सिद्धान्तमें बाधा उपस्थित कर सके। इससे यही सिद्ध होता है कि परमात्माका साक्षात् करनेके लिये बताये हुए उपासनादि उपाय अर्थात् ब्रह्मविद्या ही परमात्माकी प्राप्ति और जन्म-मरणसे छूटनेका साधन है, सकाम यज्ञ आदि कर्म नहीं।

सम्बन्ध—अब श्रुतिमें बताये हुए ब्रह्मविद्याके फलभेदका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है।

सभी ब्रह्मविद्याओंका उद्देश्य एकमात्र परब्रह्म परमात्माका साक्षात्कार करा देना और इस जीवात्माको सदाके लिये सब प्रकारके दुःखोंसे मुक्त कर देना है, फिर

किसी विद्याका फल ब्रह्मलोकादिकी प्राप्ति है और किसीका फल इस शरीरमें रहते हुए ही ब्रह्मको प्राप्त हो जाना है—इस प्रकार फलमें भेद क्यों किया गया है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अनुबन्धादिभ्यः प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववद् दृष्टश्च तदुक्तम्॥ ३। ३। ५०॥

अनुबन्धादिभ्यः=भावविषयक अनुबन्ध आदिके भेदसे; **प्रज्ञान्तरपृथक्त्ववत्**=उद्देश्यभेदसे की जानेवाली दूसरी उपासनाओंके पार्थक्य (भेद) की भाँति; **च**=इसकी भी पृथक्ता है, ऐसा कथन; **दृष्टः**=उन-उन प्रकरणोंमें देखा गया है; **तदुक्तम्**=तथा यह पहले भी बताया जा चुका है।

व्याख्या—'जिस प्रकार उद्देश्यभेदसे की हुई भिन्न-भिन्न देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाओंकी भिन्नता तथा उनका फलभेद होता है, उसी प्रकार इस एक उद्देश्यसे की जानेवाली ब्रह्मविद्यामें भी साधकोंकी भावना भिन्न-भिन्न होनेके कारण उपासनाके प्रकारमें और उसके फलमें भेद होना स्वाभाविक है। अभिप्राय यह कि सभी साधक एक ही प्रकारका भाव लेकर ब्रह्मप्राप्तिके साधनोंमें नहीं लगते, प्रत्येक साधककी भावनामें भेद रहता है। कोई साधक तो ऐसा होता है जो स्वभावसे ही समस्त भोगोंको दुःखप्रद और परिवर्तनशील समझकर उनसे विरक्त हो जाता है तथा परब्रह्म परमेश्वरके साक्षात्कार होनेमें थोड़ा भी विलम्ब उसके लिये असह्य होता है। कोई साधक ऐसा होता है जो बुद्धिके विचारसे तो भोगोंको दुःखरूप समझता है, इसीलिये साधनमें भी लगा है, परन्तु ब्रह्मलोकमें प्राप्त होनेवाले भोग दुःखसे मिले हुए नहीं हैं, वहाँ केवल सुख-ही-सुख है तथा वहाँ जानेके बाद पुनरावृत्ति नहीं होती, सदाके लिये जन्म-मरणसे मुक्ति हो जाती है, इस भावनासे भावित है, परमात्माकी प्राप्ति तत्काल ही हो, ऐसी तीव्र लालसावाला नहीं है। इसी प्रकार साधकोंकी भावना अनेक प्रकारकी हो सकती है तथा उन भावनाओंके और योग्यताके भेदसे उनके अधिकारमें भी भेद होना स्वाभाविक है। इसलिये उन्हें बीचमें प्राप्त होनेवाले फलोंमें भेद होना सम्भव है। जन्म-मरणरूप संसार-बन्धनसे सदाके लिये मुक्ति एवं परब्रह्म पुरुषोत्तमकी प्राप्तिरूप जो चरम फल है, वह तो उन सबको यथा-समय प्राप्त होता ही है। साधकके भावानुबन्धसे फलमें भेद होनेकी बात उन-उन प्रकरणोंमें स्पष्टरूपसे उपलब्ध होती है। जैसे इन्द्र और विरोचन

ब्रह्माजीसे ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये गये । उनकी जो ब्रह्मविद्याके साधनमें प्रवृत्ति हुई, उसमें मुख्य कारण यह था कि उन्होंने ब्रह्माजीके मुखसे यह सुना कि उस परमात्माको जान लेनेवाला समस्त लोकोंको और समस्त भोगोंको प्राप्त हो जाता है । इस फलश्रुतिपर ही उनका मुख्य लक्ष्य था, इसीलिये विरोचन तो उस विद्याका अधिकारी न होनेके कारण उसमें टिक ही नहीं सका; परन्तु इन्द्रने उस विद्याको ग्रहण किया । फिर भी उसके मनमें प्रधानता उन लोकों और भोगोंकी ही थी, यह वहाँके प्रकरणमें स्पष्ट है (छा० उ० ८ । ७ । ३) । दहरविद्यामें भी उसी प्रकारसे ब्रह्मलोकके दिव्य भोगोंकी प्रशंसा है (छा० उ० ८ । १ । ६) । अतः जिनके भीतर इन फलश्रुतियोंके आधारपर ब्रह्मलोकके भोग प्राप्त करनेका संकल्प है, उनको तत्काल ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? किन्तु जो भोगोंसे सर्वथा विरक्त होकर उस परब्रह्म परमात्माको साक्षात् करनेके लिये तत्पर हैं, उन्हें परमात्माकी प्राप्ति होनेमें विलम्ब नहीं हो सकता । शरीरके रहते-रहते यहीं परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है । अतः भावनाके भेदसे भिन्न-भिन्न अधिकारियोंको प्राप्त होनेवाले फलमें भेद होना उचित ही है ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उसी सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—

न सामान्यादप्युपलब्धेर्मृत्युवन्न हि लोकापत्तिः ॥ ३ । ३ । ५१ ॥

सामान्यात्=यद्यपि सभी ब्रह्मविद्या समानभावसे मोक्षमें हेतु है; **अपि**=तथापि; **न**=बीचमें होनेवाले फलभेदका निषेध नहीं है; **हि**=क्योंकि; **उपलब्धेः**=परब्रह्म परमेश्वरका साक्षात्कार हो जानेपर; **मृत्युवत्**=जिस प्रकार मृत्यु होनेपर जीवात्माका स्थूल शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, उसी प्रकार उसका सूक्ष्म या कारण किसी भी शरीरसे सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये; **लोकापत्तिः**=किसी भी लोककी प्राप्ति; **न**=नहीं हो सकती ।

व्याख्या—सभी ब्रह्मविद्या अन्तमें मुक्ति देनेवाली हैं, इस विषयमें सबकी समानता है तो भी किसीका ब्रह्मलोकमें जाना और किसीका ब्रह्मलोकमें न जाकर यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाना तथा वहाँ जाकर भी किसीका प्रलयकालतक भोगोंके उपभोगका सुख अनुभव करना और किसीका तत्काल ब्रह्ममें लीन हो जाना—इत्यादिरूपसे जो फल-भेद हैं, वे उन साधकोंके भावसे सम्बन्ध रखते हैं; इसलिये इस भेदका निषेध नहीं हो सकता ।

अतएव जिस साधकको मृत्युके पहले कभी भी परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है, जो उस परमेश्वरके तत्त्वको भलीभाँति जान लेता है, जिसकी ब्रह्मलोक-पर्यन्त किसी भी लोकके सुख-भोगमें किञ्चिन्मात्र भी वासना नहीं रही है, वह किसी भी लोकविशेषमें नहीं जाता, वह तो तत्काल ही उस परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है। (बृह० उ० ४।४।६ तथा क० उ० २।३।१४) प्रारब्धभोगके अन्तमें उसके स्थूल, सूक्ष्म और कारणशरीरोंके तत्त्व उसी प्रकार अपने-अपने कारण-तत्त्वोंमें विलीन हो जाते हैं, जिस प्रकार मृत्युके बाद प्रत्येक मनुष्यके स्थूल शरीरके तत्त्व पाँचों भूतोंमें विलीन हो जाते हैं (मु० उ० ३।२।७)।

सम्बन्ध—ऐसा होनेमें क्या प्रमाण है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

परेण च शब्दस्य ताद्विध्यं भूयस्त्वात्त्वनु-
बन्धः ॥ ३ । ३ । ५२ ॥

परेण=बादवाले मन्त्रोंसे (यह सिद्ध होता है); **च**=तथा; **शब्दस्य**=उसमें कहे हुए शब्दसमुदायका; **ताद्विध्यम्**=उसी प्रकारका भाव है; **तु**=किन्तु अन्य साधकोंके; **भूयस्त्वात्**=दूसरे भावोंकी अधिकतासे; **अनुबन्धः**=सूक्ष्म और कारणशरीरसे सम्बन्ध रहता है (इस कारण वे ब्रह्मलोकमें जाते हैं)।

व्याख्या—मुण्डकोपनिषद्में पहले तो यह बात कही है कि—

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः　संन्यासयोगाद्यतयः　शुद्धसत्त्वाः ।
ते　ब्रह्मलोकेषु　परान्तकाले　परामृताः　परिमुच्यन्ति　सर्वे ॥

'वेदान्तशास्त्रके ज्ञानद्वारा जिन्होंने वेदान्तके अर्थभूत परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका निश्चय कर लिया है, कर्मफलरूप समस्त भोगोंके त्यागरूप योगसे जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे सब साधक मरणकालमें ब्रह्म-लोकोंमें जाकर परम अमृतस्वरूप होकर सर्वथा मुक्त हो जाते हैं।' (३।२।६)। इसके बाद अगले मन्त्रमें, जिनको इस शरीरका नाश होनेसे पहले ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है, उनके विषयमें इस प्रकार कहा है—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

'उनकी पंद्रह कलाएँ अर्थात् प्राणोंके सहित सब इन्द्रियाँ अपने-अपने देवताओंमें विलीन हो जाती हैं, जीवात्मा और उसके समस्त कर्मसंस्कार— ये सब-के-सब परम अविनाशी परमात्मामें एक हो जाते हैं।' (३ । २ । ७)। फिर नदी और समुद्रका दृष्टान्त देकर बताया है कि 'तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।'—'वह ब्रह्मको जाननेवाला विद्वान् नाम-रूपको यहीं छोड़कर परात्पर ब्रह्ममें विलीन हो जाता है।' (३ । २ । ८)। इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरणवाले अधिकारियोंके लिये ब्रह्मलोककी प्राप्ति बतानेके बाद साक्षात् ब्रह्मको जान लेनेवाले विद्वान्का यहीं नाम-रूपसे मुक्त होकर परब्रह्ममें विलीन हो जाना सूचित करनेवाले शब्दसमुदाय पूर्वसूत्रमें कही हुई बातको स्पष्ट करते हैं। इसलिये यह सिद्ध होता है कि जिनके अन्तःकरणमें ब्रह्मलोकके महत्त्वका भाव है, वहाँ जानेके सङ्कल्पसे जिनका सूक्ष्म और कारण-शरीरसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ, ऐसे ही साधक ब्रह्मलोकोंमें जाते हैं। जिनको यहीं ब्रह्मसाक्षात्कार हो जाता है, वे नहीं जाते। यह अवान्तर फल-भेद होना उचित ही है।

सम्बन्ध—यहाँतक मुक्तिविषयक फलभेदके प्रकरणको समाप्त करके अब शरीरपातके बाद आत्माकी सत्ता और कर्मफलका भोग न माननेवाले नास्तिकोंके मतका खण्डन करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

एक आत्मनः शरीरे भावात् ॥ ३ । ३ । ५३ ॥

एके=कई एक कहते हैं कि; **आत्मनः**=आत्माका; **शरीरे**=शरीर होनेपर ही; **भावात्**=भाव होनेके कारण (शरीरसे भिन्न आत्माकी सत्ता नहीं है)।

व्याख्या—कई एक नास्तिकोंका कहना है कि जबतक शरीर है, तभीतक इसमें चेतन आत्माकी प्रतीति होती है, शरीरके अभावमें आत्मा प्रत्यक्ष नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है, अतएव मरनेके बाद आत्मा परलोकमें जाकर कर्मोंका फल भोगता है या ब्रह्मलोकमें जाकर मुक्त हो जाता है, ये सभी बातें असङ्गत हैं।

सम्बन्ध—इसके उत्तरमें सूत्रकार कहते हैं—

व्यतिरेकस्तद्भावाभावित्वान्न तूपलब्धिवत् ॥ ३ । ३ । ५४ ॥

व्यतिरेकः=शरीरसे आत्मा भिन्न है; **तद्भावाभावित्वात्**=क्योंकि शरीर रहते हुए भी उसमें आत्मा नहीं रहता, इसलिये; **न**=आत्मा शरीर नहीं है;

तु=किन्तु; **उपलब्धिवत्**=ज्ञातापनकी उपलब्धिके सदृश (आत्माका शरीरसे भिन्न होना सिद्ध होता है)।

व्याख्या—शरीर ही आत्मा है, यह बात ठीक नहीं है; किन्तु शरीरसे भिन्न, शरीर आदि समस्त भूतों और उनके कार्योंको जाननेवाला आत्मा अवश्य है; क्योंकि मृत्युकालमें शरीर हमारे सामने पड़ा रहता है तो भी उसमें सब पदार्थोंको जाननेवाला चेतन आत्मा नहीं रहता। अतः जिस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि शरीरके रहते हुए भी उसमें जीवात्मा नहीं रहता, उसी प्रकार यह भी मान ही लेना चाहिये कि शरीरके न रहनेपर भी आत्मा रहता है, वह इस स्थूल शरीरमें नहीं तो अन्य (सूक्ष्म) शरीरमें रहता है; परन्तु आत्माका अभाव नहीं होता। अतः यह कहना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है कि इस स्थूल शरीरसे भिन्न आत्मा नहीं है। यदि इस शरीरसे भिन्न चेतन आत्मा नहीं होता तो वह अपने और दूसरोंके शरीरोंको नहीं जान सकता; क्योंकि घटादि जड पदार्थोंमें एक-दूसरेको या अपने-आपको जाननेकी शक्ति नहीं है। जिस प्रकार सबका ज्ञाता होनेके कारण ज्ञातारूपमें आत्माकी उपलब्धि प्रत्यक्ष है, उसी प्रकार शरीरका ज्ञाता होनेके कारण इस ज्ञेय शरीरसे उसका भिन्न होना भी प्रत्यक्ष है।

सम्बन्ध—प्रसङ्गवश प्राप्त हुए नास्तिकवादका संक्षेपसे खण्डन करके, अब पुनः भिन्न-भिन्न श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। जिज्ञासा यह है कि भिन्न-भिन्न शाखाओंमें यज्ञोंके उद्गीथ आदि अङ्गोंमें भेद है; अतः यज्ञादिके अङ्गोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासना एक शाखामें कहे हुए प्रकारसे दूसरी शाखावालोंको करनी चाहिये या नहीं, इसपर कहते हैं—

अङ्गावबद्धास्तु न शाखासु हि प्रतिवेदम् ॥ ३ । ३ । ५५ ॥

अङ्गावबद्धाः= यज्ञके उद्गीथ आदि अङ्गोंसे सम्बद्ध उपासनाएँ; **शाखासु हि**=जिस शाखामें कही गयी हों, उसीमें करने योग्य हैं; **न**=ऐसी बात नहीं है; **तु**=किन्तु; **प्रतिवेदम्**=प्रत्येक वेदकी शाखावाले उसका अनुष्ठान कर सकते हैं।

व्याख्या—'ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत'—'ॐ इस एक अक्षरकी उद्गीथके रूपमें उपासना करनी चाहिये' (छा० उ० १ । १ । १), 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत'—'पाँच प्रकारके सामकी लोकोंके साथ सम्बन्ध जोड़कर उपासना

करनी चाहिये ।' (छा० उ० २ । २ । १) । इत्यादि प्रकारसे यज्ञादिके अङ्गरूप उद्गीथ आदिसे सम्बन्ध रखनेवाली जो प्रतीकोपासना बतायी गयी है, उसका जिस शाखामें वर्णन है, उसी शाखावालोंको उसका अनुष्ठान करना चाहिये, अन्य शाखावालोंको नहीं करना चाहिये, ऐसी बात नहीं है; अपि तु प्रत्येक वेदकी शाखाके अनुयायी उसका अनुष्ठान कर सकते हैं ।

सम्बन्ध—इसी बातको उदाहरणसे स्पष्ट करते हैं—

मन्त्रादिवद्वाविरोधः ॥ ३ । ३ । ५६ ॥

वा=अथवा यों समझो कि; **मन्त्रादिवत्**=मन्त्र आदिकी भाँति; **अविरोधः**= इसमें कोई विरोध नहीं है ।

व्याख्या—जिस प्रकार एक शाखामें बताये हुए मन्त्र और यज्ञोपयोगी अन्य पदार्थ, दूसरी शाखावाले भी आवश्यकतानुसार व्यवहारमें ला सकते हैं, उसमें किसी प्रकारका विरोध नहीं है; उसी प्रकार पूर्वसूत्रमें कही हुई यज्ञाङ्गोंसे सम्बन्ध रखनेवाली उपासनाओंके अनुष्ठानमें भी कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—जिस प्रकार वैश्वानरविद्यामें एक-एक अङ्गकी उपासनाका वर्णन आता है, उसी प्रकार और भी कई जगह आता है, ऐसी उपासनाओंमें उनके एक-एक अङ्गकी अलग-अलग उपासना करनी चाहिये या सब अङ्गोंका समुच्चय करके एक साथ सबकी उपासना करनी चाहिये । इस जिज्ञासापर कहते हैं—

भूम्नः क्रतुवज्ज्यायस्त्वं तथा हि दर्शयति ॥ ३ । ३ । ५७ ॥

क्रतुवत्=अङ्ग-उपाङ्गसे परिपूर्ण यज्ञकी भाँति; **भूम्नः**=पूर्ण उपासनाकी; **ज्यायस्त्वम्**=श्रेष्ठता है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=वैसा ही कथन; **दर्शयति**=श्रुति दिखलाती है ।

व्याख्या—जिस प्रकार यज्ञके किसी अङ्गका अनुष्ठान करना और किसीका न करना श्रेष्ठ नहीं है, किन्तु सर्वाङ्गपूर्ण अनुष्ठान ही श्रेष्ठ है, उसी प्रकार वैश्वानरविद्या आदिमें बतायी हुई उपासनाका अनुष्ठान भी पूर्णरूपसे करना ही श्रेष्ठ है; उसके एक अङ्गका नहीं । वैश्वानर-विद्याकी भाँति सभी जगह यह बात समझ लेनी चाहिये; क्योंकि श्रुतिने वैसा ही भाव वैश्वानर-विद्याके वर्णनमें दिखाया है । राजा अश्वपतिने प्राचीनशाल आदि छहों ऋषियोंसे अलग-अलग पूछा कि 'तुम वैश्वानरकी किस प्रकार उपासना करते हो ?' उन्होंने अपनी-अपनी बात कही । राजाने एक-एक करके सबको बताया—'तुम अमुक

अङ्गकी उपासना करते हो।' साथ ही उन्होंने उस एकाङ्ग उपासनाका साधारण फल बताया और उन सबको भय दिखाते हुए कहा, 'यदि तुम मेरे पास न आते तो तुम्हारा सिर गिर जाता, तुम अंधे हो जाते'—इत्यादि (छा० उ० ५। ११ से १७ तक)। तदनन्तर (अठारहवें खण्डमें) यह बताया कि 'तुमलोग उस वैश्वानर परमात्माके एक-एक अङ्गकी उपासना करते हो, जो इस बातको समझकर आत्मारूपसे इसकी उपासना करता है, वह समस्त लोकमें, समस्त प्राणियोंमें और समस्त आत्माओंमें अन्न भक्षण करनेवाला हो जाता है।' (छा० उ० ५। १८। १) इस प्रकार वहाँ पूर्ण उपासनाका अधिक फल बताया गया है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि एक-एक अङ्गकी उपासनाकी अपेक्षा पूर्ण उपासना श्रेष्ठ है। अतः पूर्ण उपासनाका ही अनुष्ठान करना चाहिये।

सम्बन्ध—नाना प्रकारसे बतायी हुई ब्रह्मविद्या भिन्न-भिन्न है कि एक ही है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नाना शब्दादिभेदात् ॥ ३। ३। ५८ ॥

शब्दादिभेदात्=शब्द आदिका भेद होनेके कारण; **नाना**=सब विद्याएँ अलग-अलग हैं।

व्याख्या—सद्-विद्या, भूमविद्या, दहरविद्या, उपकोसलविद्या, शाण्डिल्यविद्या, वैश्वानरविद्या, आनन्दमयविद्या, अक्षरविद्या इत्यादि भिन्न-भिन्न नाम और विधि-विधानवाली इन विद्याओंमें नाम और प्रकार आदिका भेद है। किसी अधिकारीके लिये एक विद्या उपयुक्त होती है, तो अन्यके लिये दूसरी ही उपयुक्त होती है; इसलिये सबका फल एक ब्रह्मकी प्राप्ति होनेपर भी विद्या एक नहीं है, भिन्न-भिन्न हैं।

सम्बन्ध—इन सबके समुच्चयका विधान है या विकल्पका अर्थात् इन सबको मिलाकर अनुष्ठान करना चाहिये या एक-एकका अलग-अलग? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

विकल्पोऽविशिष्टफलत्वात् ॥ ३। ३। ५९ ॥

अविशिष्टफलत्वात्=सब विद्याओंका एक ही फल है, फलमें भेद नहीं है, इसलिये; **विकल्पः**=अलग-अलग अनुष्ठान करना ही उचित है।

व्याख्या—जिस प्रकार स्वर्गादिकी प्राप्तिके साधनभूत जो भिन्न-भिन्न यज्ञ-याग आदि बताये गये हैं, उनमेंसे जिन-जिनका फल एक है, उनका समुच्चय नहीं होता। यजमान अपने इच्छानुसार उनमेंसे किसी भी एक यज्ञका अनुष्ठान कर सकता है।

इसी प्रकार उपर्युक्त विद्याओंका ब्रह्मसाक्षात्काररूप एक ही फल होनेके कारण उनके समुच्चयकी आवश्यकता नहीं है। साधक अपनी रुचिके अनुकूल किसी एक विद्याके अनुसार ही साधन कर सकता है।

सम्बन्ध—जो सकाम उपासनाएँ अलग-अलग फलके लिये बतायी गयी हैं, उनका अनुष्ठान किस प्रकार करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

काम्यास्तु यथाकामं समुच्चीयेरन्न वा पूर्वहेत्वभावात् ॥ ३ । ३ । ६० ॥

काम्याः=सकाम उपासनाओंका अनुष्ठान; **तु**=तो; **यथाकामम्**=अपनी-अपनी कामनाके अनुसार; **समुच्चीयेरन्**=समुच्चय करके किया करें; **वा**=अथवा; **न**=समुच्चय न करके अलग-अलग करें; **पूर्वहेत्वभावात्**=क्योंकि इनमें पूर्वोक्त हेतु (फलकी समानता) का अभाव है।

व्याख्या—सकाम उपासनाओंमें सबका एक फल नहीं बताया गया है, भिन्न-भिन्न उपासनाका भिन्न-भिन्न फल कहा गया है, इस प्रकार पूर्वोक्त हेतु न होनेके कारण सकाम उपासनाका अनुष्ठान अधिकारी अपनी कामनाके अनुसार जिस प्रकार आवश्यक समझे, कर सकता है। जिन-जिन भोगोंकी कामना हो, उन-उनके लिये बतायी हुई सब उपासनाओंका समुच्चय करके भी कर सकता है और अलग-अलग भी कर सकता है, इसमें कोई अड़चन नहीं है।

सम्बन्ध—अब उद्गीथ आदि अङ्गोंमें की जानेवाली उपासनाके विषयमें विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। पहले चार सूत्रोंद्वारा पूर्वपक्षकी उत्थापना की जाती है—

अङ्गेषु यथाश्रयभावः ॥ ३ । ३ । ६१ ॥

अङ्गेषु=भिन्न-भिन्न अङ्गोंमें (की जानेवाली उपासनाओंका); **यथाश्रयभावः**=यथाश्रय भाव है अर्थात् जो उपासना जिस अङ्गके आश्रित है, उस अङ्गके अनुसार ही उस उपासनाका भी भाव समझ लेना चाहिये।

व्याख्या—यज्ञकर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिमें की जानेवाली जो उपासनाएँ हैं, जिनका दिग्दर्शन पचपनवें सूत्रमें किया गया है, उनमेंसे जो उपासना जिस अङ्गके आश्रित है, उस आश्रयके अनुसार ही उसकी व्यवस्था करनी चाहिये। इसलिये यही सिद्ध होता है कि जिन-जिन कर्मोंके अङ्गोंका समुच्चय हो सकता है, उन-उन अङ्गोंमें की जानेवाली उपासनाओंका भी उन कर्मोंके साथ समुच्चय हो सकता है।

सम्बन्ध—इसके सिवा—

शिष्टेश्च ॥ ३ । ३ । ६२ ॥

शिष्टेः=श्रुतिके शासन (विधान) से; **च**=भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—जिस प्रकार उद्गीथ आदि स्तोत्रोंके समुच्चयका श्रुतिमें विधान है, उसी प्रकार उनके आश्रित उपासनाओंके समुच्चयका विधान भी उनके साथ ही हो जाता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि कर्मोंके अङ्गोंके अनुसार उनके आश्रित रहनेवाली उपासनाओंका समुच्चय हो सकता है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उसी बातको दृढ़ करते हैं—

समाहारात् ॥ ३ । ३ । ६३ ॥

समाहारात्=कर्मोंका समाहार बताया गया है, इसलिये उनके आश्रित उपासनाओंका भी समाहार (समुच्चय) उचित ही है।

व्याख्या—उद्गीथ उपासनामें कहा है कि 'स्तोत्रगान करनेवाला पुरुष होताके कर्ममें जो स्तोत्रसम्बन्धी त्रुटि हो जाती है, उसका भी संशोधन कर लेता है।' (छा० उ० १ । ५ । ५)। इस प्रकार प्रणव और उद्गीथकी एकता समझकर उद्गान करनेका महत्त्व दिखाया है। इस समाहारसे भी अङ्गाश्रित उपासनाका समुच्चय सूचित होता है।

सम्बन्ध—पुनः उसी बातको दृढ़ करते हैं—

गुणसाधारण्यश्रुतेश्च ॥ ३ । ३ । ६४ ॥

गुणसाधारण्यश्रुतेः=गुणोंकी साधारणता बतानेवाली श्रुतिसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—उपासनाका गुण जो ॐकार है, उसका प्रयोग समान भावसे दिखाया है। जैसे कहा है कि 'उस (ॐ) अक्षरसे ही यह त्रयीविद्या (तीनों वेदोंसे सम्बन्ध रखनेवाली यज्ञादि कर्मसम्बन्धी विद्या) प्रवृत्त होती है, ॐ ऐसा कहकर ही आश्रावण कर्म करता है, ॐ ऐसा कहकर होता (कथन) करता है, ॐ ऐसा कहकर ही उद्गाता स्तोत्रगान करता है।' (छा० उ० १ । १ । ९) इसी प्रकार कर्माङ्ग-सम्बन्धी गुण जो कि उद्गीथ आदि हैं, उनका भी समान भावसे प्रयोग श्रुतिमें विहित है। इसलिये भी उपासनाओंका उनके आश्रयभूत कर्माङ्गोंके साथ समुच्चय होना उचित सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार चार सूत्रोंद्वारा पूर्वपक्षकी उत्थापना करके अब दो सूत्रोंमें उसका उत्तर देकर इस पादकी समाप्ति की जाती है—

न वा तत्सहभावाश्रुतेः ॥ ३ । ३ । ६५ ॥

वा=किन्तु; **तत्सहभावाश्रुतेः**=उन-उन उपासनाओंका समुच्चय बतानेवाली श्रुति नहीं है, इसलिये; **न**= उपासनाओंका समुच्चय सिद्ध नहीं हो सकता ।

व्याख्या—उन-उन उपासनाओंके आश्रयभूत जो उद्गीथ आदि अङ्ग हैं, उन अङ्गोंके समाहारकी भाँति उनके साथ उपासनाओंका समाहार बतानेवाली कोई श्रुति नहीं है, इसलिये यह सिद्ध नहीं हो सकता कि उन-उन आश्रयोंके समुच्चयकी भाँति ही उपासनाओंका भी समुच्चय होना चाहिये; क्योंकि उपासनाओंका उद्देश्य भिन्न है, जिस उद्देश्यसे जिस फलके लिये यज्ञादि कर्म किये जाते हैं, उनके अङ्गोंमें की जानेवाली उपासना उनसे भिन्न उद्देश्यसे की जाती है, अतः अङ्गोंके साथ उपासनाके समुच्चयका सम्बन्ध नहीं है । इसलिये यही सिद्ध होता है कि उपासनाओंका समुच्चय नहीं बन सकता, उनका अनुष्ठान अलग-अलग ही करना चाहिये ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—

दर्शनाच्च ॥ ३ । ३ । ६६ ॥

दर्शनात्=श्रुतिमें उपासनाओंका समाहार न करना दिखाया गया है, इसलिये; **च**=भी (उनका समाहार सिद्ध नहीं हो सकता) ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि 'पूर्वोक्त प्रकारसे रहस्यको जाननेवाला ब्रह्मा निःसन्देह यज्ञकी, यजमानकी और अन्य ऋत्विजोंकी रक्षा करता है ।' (छा० उ० ४ । १७ । १०) इस प्रकार श्रुतिमें विद्याकी महिमाका वर्णन करते हुए यह दिखाया गया है कि इन उपासनाओंका कर्मके साथ समुच्चय नहीं होता है; क्योंकि यदि उपासनाओंका सर्वत्र समाहार होता तो दूसरे ऋत्विक् भी उस तत्त्वके ज्ञाता होते और स्वयं ही अपनी रक्षा करते, ब्रह्माको उनकी रक्षा करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती । इससे यही सिद्ध होता है कि उपासनाएँ उनके आश्रयभूत कर्मसम्बन्धी अङ्गोंके अधीन नहीं हैं, स्वतन्त्र हैं, अतएव समुच्चय न करके उनका अनुष्ठान अलग ही करना चाहिये ।

तीसरा पाद सम्पूर्ण ।

चौथा पाद

तीसरे पादमें परमात्माकी प्राप्तिके उपायभूत भिन्न-भिन्न विद्याओंके विषयमें प्रतीत होनेवाले विरोधको दूर किया गया तथा उन विद्याओंमेंसे किस विद्याके कौन-से गुण दूसरी विद्यामें ग्रहण किये जा सकते हैं, कौन-से नहीं किये जा सकते ? इन विद्याओंका अलग-अलग अनुष्ठान करना उचित है या इनमेंसे कुछका समुच्चय भी किया जा सकता है ? इत्यादि विषयोंपर विचार करके सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया।

अब ब्रह्मज्ञान परमात्माकी प्राप्तिका स्वतन्त्र साधन है या नहीं ? उसके अन्तरङ्ग साधन कौन-से हैं और बहिरङ्ग कौन-से हैं ? इन सब बातोंपर विचार करके सिद्धान्तका प्रतिपादन करनेके लिये चौथा पाद आरम्भ किया जाता है। यहाँ पहले परमात्माकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थकी सिद्धि केवल ज्ञानसे ही होती है या कर्मादिके समुचयसे ? इसपर विचार आरम्भ करनेके लिये वेदव्यासजी अपना निश्चित मत बतलाते हैं--

पुरुषार्थोऽतश्शब्दादिति बादरायणः ॥ ३ । ४ । १ ॥

पुरुषार्थः=परब्रह्मकी प्राप्ति; **अतः**=इससे अर्थात् ब्रह्मज्ञानसे होती है; **शब्दात्**=क्योंकि शब्द (श्रुतिके वचन) से यही सिद्ध होता है; **इति**=यह; **बादरायणः**=बादरायण कहते हैं।

व्याख्या—वेदव्यासजी महाराज सबसे पहले अपना मत बतलाते हैं कि 'तरति शोकमात्मवित्'— आत्मज्ञानी शोक-मोहसे तर जाता है (छा० उ० ७ । १ । ३); 'तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।'—ज्ञानी महात्मा नामरूपसे मुक्त होनेपर परात्पर ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है (मु० उ० ३ । २ । ८), 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'—'ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त हो जाता है' (तै० उ० २ । १), 'ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।'—'परम देवको जानकर सब प्रकारके पाशों (बन्धनों) से मुक्त हो जाता है' (श्वेता० उ० ५ । १३) । इस प्रकार श्रुतिका कथन होनेसे यही सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिरूप परमपुरुषार्थकी सिद्धि इस ब्रह्मज्ञानसे ही होती है।

सम्बन्ध—उपर्युक्त सिद्धान्तसे जैमिनि ऋषिका मतभेद दिखाते हुए कहते हैं—

शेषत्वात्पुरुषार्थवादो यथान्येष्विति जैमिनिः ॥ ३ । ४ । २ ॥

शेषत्वात्=कर्मका अङ्ग होनेके कारण; **पुरुषार्थवादः**=ब्रह्मविद्याको पुरुषार्थका हेतु बताना अर्थवादमात्र है; **यथा**=जिस प्रकार; **अन्येषु**=यज्ञके दूसरे अङ्गोंमें फलश्रुति अर्थवाद मानी जाती है; **इति**—यह; **जैमिनिः**=जैमिनि आचार्य कहते हैं ।

व्याख्या—आचार्य जैमिनि यह मानते हैं कि आत्मा कर्मका कर्ता होनेसे उसके स्वरूपका ज्ञान करानेवाली विद्या भी कर्मका अङ्ग है; इसलिये उसे पुरुषार्थका साधन बताना उसकी प्रशंसा करना है । पुरुषार्थका साधन तो वास्तवमें कर्म ही है । जिस प्रकार कर्मके दूसरे अङ्गोंकी फलश्रुति उनकी प्रशंसामात्र समझी जाती है, वैसे ही इसे भी समझना चाहिये ।

सम्बन्ध—विद्या कर्मका अङ्ग है, इस बातको सिद्ध करनेके लिये कारण बतलाते हैं—

आचारदर्शनात् ॥ ३ । ४ । ३ ॥

आचारदर्शनात्=श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि विद्या कर्मोंका अङ्ग है ।

व्याख्या—बृहदारण्यकोपनिषद्में यह प्रसङ्ग आया है कि 'राजा जनकने एक समय बहुत दक्षिणावाला यज्ञ किया और उसमें कुरु तथा पाञ्चालदेशके बहुत-से ब्राह्मण एकत्र हुए थे ।' इत्यादि (बृह० उ० ३ । १ । १) छान्दोग्यमें वर्णन आया है कि राजा अश्वपतिने अपने पास ब्रह्मविद्या सीखनेके लिये आये हुए ऋषियोंसे कहा—'आपलोग सुनें, मेरे राज्यमें न तो कोई चोर है, न कंजूस है, न मद्य पीनेवाला है, न अग्निहोत्र न करनेवाला है और न कोई विद्याहीन है । यहाँ कोई परस्त्रीगामी पुरुष ही नहीं है; फिर कुलटा स्त्री कैसे रह सकती है ?* हे पूज्यगण ! मैं अभी यज्ञ करनेवाला हूँ । एक-एक ऋत्विजको जितना धन दूँगा, उतना ही

* न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्न स्वैरी स्वैरिणी कुतः ॥

आपलोगोंको भी दूँगा, आप यहीं ठहरिये ।' (छा० उ० ५ । ११ । ५) महर्षि उद्दालक भी यज्ञकर्म करनेवाले थे, जिन्होंने अपने पुत्र श्वेतकेतुको ब्रह्म-विद्याका उपदेश दिया था । (छा० उ० छठा अध्याय पूरा) याज्ञवल्क्य भी जो ब्रह्मवादियोंमें सर्वश्रेष्ठ माने गये हैं, गृहस्थ और कर्म करनेवाले थे । इस प्रकार श्रुतिमें वर्णित श्रेष्ठ पुरुषोंका आचरण देखनेसे भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्मका ही अङ्ग है और कर्मोंके सहित ही वह पुरुषार्थका साधन है ।

सम्बन्ध—इसी बातको श्रुतिप्रमाणसे दृढ़ करते हैं—

तच्छ्रुतेः ॥ ३ । ४ । ४ ॥

तच्छ्रुतेः=तद्विषयक श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

व्याख्या—श्रुतिका कथन है कि 'जो ॐकाररूप अक्षरके तत्त्वको जानता है और जो नहीं जानता, वे दोनों ही कर्म करते हैं, परन्तु जो कर्म विद्या, श्रद्धा और योगसे युक्त होकर किया जाता है, वही प्रबलतर होता है ।' (छा० उ० १ । १ । १०) इस प्रकार श्रुतिमें विद्याको कर्मका अङ्ग बतलाया है । इससे भी यही सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थका हेतु नहीं है ।

सम्बन्ध—पुनः इसी बातको दृढ़ करनेके लिये प्रमाण देते हैं—

समन्वारम्भणात् ॥ ३ । ४ । ५ ॥

समन्वारम्भणात्=विद्या और कर्म दोनों जीवात्माके साथ जाते हैं, यह कथन होनेके कारण (भी) यही बात सिद्ध होती है ।

व्याख्या—जब आत्मा शरीरसे निकलकर जाता है, तब उसके साथ प्राण, अन्तःकरण और इन्द्रियाँ तो जाती ही हैं, विद्या और कर्म भी जाते हैं (बृह० उ० ४ । ४ । २) । इस प्रकार विद्या और कर्म दोनोंके संस्कारोंको साथ लेकर जीवात्माका एक शरीरसे दूसरे शरीरमें गमन बताया जानेके कारण यह सिद्ध होता है कि विद्या कर्मका ही अङ्ग है ।

सम्बन्ध—फिर दूसरे प्रमाणसे भी इसी बातको सिद्ध करते हैं—

तद्वतो विधानात् ॥ ३ । ४ । ६ ॥

तद्वतः=आत्मज्ञानयुक्त अधिकारीके लिये; **विधानात्**=कर्मोंका विधान होनेके कारण भी (यही सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—श्रुतिने ब्रह्मविद्याकी परम्पराका वर्णन करते हुए कहा है कि 'उस ब्रह्मज्ञानका उपदेश ब्रह्माने प्रजापतिको दिया, प्रजापतिने मनुसे कहा, मनुने प्रजावर्गको सुनाया । ब्रह्मचारी नियमानुसार गुरुकी सेवा आदि कर्तव्य कर्मोंका भलीभाँति अनुष्ठान करते हुए वेदका अध्ययन समाप्त करे, फिर आचार्यकुलसे समावर्तनसंस्कारपूर्वक स्नातक बनकर लौटे और कुटुम्बमें रहता हुआ पवित्र स्थानमें स्वाध्याय करता रहे । पुत्र और शिष्यादिको धार्मिक बनाकर समस्त इन्द्रियोंको अपने अन्तःकरणमें स्थापित करे ।' इन सब नियमोंको बताकर उनके फलका इस तरह वर्णन किया है—'इस प्रकार आचरण करनेवाला मनुष्य अन्तमें ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ।' (छा० उ० ८ । १५ । १) । इस तरह विद्यापूर्वक कर्म करनेके विधानसे यह बात सिद्ध होती है कि विद्या कर्मका अङ्ग है ।

सम्बन्ध—इतना ही नहीं; अपि तु—

नियमाच्च ॥ ३ । ४ । ७ ॥

नियमात्=श्रुतिमें नियमित किया जानेके कारण; **च**=भी (कर्म अवश्य कर्तव्य है, अतः विद्या कर्मका अङ्ग है, यह सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—श्रुतिका आदेश है कि 'मनुष्य शास्त्रविहित श्रेष्ठ कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए ही इस जगत्में सौ वर्षोंतक जीवित रहनेकी इच्छा करे । इस प्रकार जीवनयात्राका निर्वाह करनेपर तुझ मनुष्यमें कर्म लिप्त नहीं होंगे । इसके सिवा दूसरे प्रकारका ऐसा कोई उपाय नहीं है, जिससे कर्म लिप्त न होवे ।' (ईशा० २) इस प्रकार आजीवन कर्मानुष्ठानका नियम होनेसे भी यही सिद्ध होता है कि केवल ज्ञान पुरुषार्थका हेतु नहीं है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार जैमिनिके मतका वर्णन करके सूत्रकार अपने सिद्धान्तको सिद्ध करनेके लिये उत्तर देते हैं—

अधिकोपदेशात्तु बादरायणस्यैवं तद्दर्शनात् ॥ ३ । ४ । ८ ॥

तु=किन्तु; **अधिकोपदेशात्**=श्रुतिमें कर्मोंकी अपेक्षा अधिक ब्रह्मविद्याके माहात्म्यका कथन होनेके कारण; **बादरायणस्य**=व्यासजीका मत; **एवं**=जैसा प्रथम सूत्रमें कहा था वैसा ही है; **तद्दर्शनात्**=क्योंकि श्रुतिमें विद्याकी अधिकता दिखलायी गयी है ।

व्याख्या—जैमिनिने जो विद्याको कर्मका अङ्ग बताया है, वह ठीक नहीं है। उन्होंने अपने कथनकी सिद्धिके लिये जो युक्तियाँ दी हैं, वे भी आभासमात्र ही हैं। अतः बादरायणने पूर्वसूत्रमें जो अपना मत प्रकट किया है, वह अब भी ज्यों-का-त्यों है। जैमिनिकी युक्तियोंसे उसमें कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि ब्रह्मज्ञानके साथ-साथ लोकसंग्रहके लिये या प्रारब्धानुसार शरीरस्थितिके निमित्त किये जानेवाले कर्म रहें, तो उनसे कोई हानि नहीं है; तथापि परमात्माकी प्राप्तिरूप पुरुषार्थका कारण तो एकमात्र परमात्माका तत्त्वज्ञान ही है। इसके सिवा, न तो कर्म-ज्ञानका समुच्चय परमपुरुषार्थका साधन है और न केवल कर्म ही; क्योंकि श्रुतिमें कहा है—

> इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः।
> नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥

'इष्ट और पूर्त कर्मोंको ही श्रेष्ठ माननेवाले मूर्खलोग उससे भिन्न वास्तविक श्रेयको नहीं जानते। वे शुभ कर्मोंके फलरूप स्वर्गलोकके उच्चतम स्थानमें वहाँके भोगोंका अनुभव करके इस मनुष्यलोकमें या इससे भी अत्यन्त नीचेके लोकमें गिरते हैं।' (मु० उ० १ । २ । १०)

> परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
> तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥

'इस प्रकार कर्मसे प्राप्त होनेवाले लोकोंकी परीक्षा करके अर्थात् उनकी अनित्यताको समझकर द्विजको उनसे सर्वथा विरक्त हो जाना चाहिये तथा यह निश्चय करना चाहिये कि वह अमृत अर्थात् स्वतःसिद्ध परमात्मा कर्मोंके द्वारा नहीं मिल सकता। अतः जिज्ञासु पुरुष उस ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये वेदज्ञ, ब्रह्मनिष्ठ गुरुके समीप हाथमें समिधा लिये हुए जाय।' (मु० उ० १ । २ । १२) 'इस तरह अपनी शरणमें आये हुए शिष्यको ब्रह्मज्ञानी महात्मा ब्रह्मविद्याका उपदेश करे।' (मु० उ० १ । २ । १३)। यह सब कहकर श्रुतिने वहाँ ब्रह्मके स्वरूपका प्रतिपादन किया है और उसे ज्ञानके द्वारा प्राप्त होने योग्य बतलाकर (मु० उ० २ । २ । ७) कहा है कि 'कार्य-कारणस्वरूप उस ब्रह्मको जान लेनेपर इस मनुष्यके हृदयकी चिज्जड-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सब संशय नष्ट हो जाते हैं और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।' (मु० उ० २ । २ । ८)। इस प्रकार श्रुतियोंमें जगह-जगह कर्मोंकी अपेक्षा ब्रह्मज्ञानका महत्त्व बहुत अधिक बताया गया है। इसलिये ब्रह्मविद्या कर्मोंका अङ्ग नहीं है।

सम्बन्ध—श्रेष्ठ पुरुषोंका आचार देखनेसे जो विद्याको कर्मका अङ्ग बताया गया था, उसका उत्तर देते हैं—

तुल्यं तु दर्शनम् ॥ ३ । ४ । ९ ॥

दर्शनम्=आचारका दर्शन; **तु**=तो; **तुल्यम्**=समान है (अतः उससे विद्या कर्मका अङ्ग है, यह नहीं सिद्ध होता)।

व्याख्या—आचारसे भी यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या कर्मका अङ्ग है; क्योंकि श्रुतिमें दोनों प्रकारका आचार देखा जाता है । एक ओर ज्ञाननिष्ठ जनकादि गृहस्थ महापुरुष लोकसंग्रहके लिये यज्ञ-यागादि कर्म करते देखे जाते हैं तो दूसरी ओर केवल भिक्षासे निर्वाह करनेवाले विरक्त संन्यासी महात्मा लोकसंग्रहके लिये ही समस्त कर्मोंका त्याग करके ज्ञाननिष्ठ हो केवल ब्रह्मचिन्तनमें रत रहते हैं । इस प्रकार आचार तो दोनों ही तरहके उपलब्ध होते हैं। इससे कर्मकी प्रधानता नहीं सिद्ध होती है । जिनको वास्तवमें ज्ञान प्राप्त हो गया है, उनको न तो कर्म करनेसे कोई प्रयोजन है और न उसके त्यागसे ही (गीता ३ । १७)। अतएव प्रारब्ध तथा ईश्वरके विधानानुसार उनका आचरण दोनों प्रकारका ही होता है । इसके सिवा श्रुतिमें यह भी कहा है कि 'इसीलिये पूर्वके विद्वानोंने अग्निहोत्रादि कर्मोंका अनुष्ठान नहीं किया' (कौ० उ० २ । ५) 'इस आत्माको जानकर ही ब्राह्मणलोग पुत्रादिकी इच्छाका त्याग करके विरक्त हो भिक्षासे निर्वाह करते हुए विचरते हैं' (बृह०उ० ३ । ५ । १)। याज्ञवल्क्यने भी दूसरोंमें वैराग्यकी भावना उत्पन्न करनेके लिये अन्तमें संन्यास ग्रहण किया (बृह०उ० ४ । ५ । १५)। इस प्रकार श्रुतियोंमें कर्म-त्यागके आचारका भी जगह-जगह वर्णन पाया जाता है । इसलिये यही सिद्ध होता है कि परमपुरुषार्थका हेतु केवल ब्रह्मज्ञान ही है और वह कर्मका अङ्ग नहीं है ।

सम्बन्ध—पूर्वपक्षकी ओरसे जो श्रुतिका प्रमाण दिया गया था, उसका उत्तर देते हैं—

असार्वत्रिकी ॥ ३ । ४ । १० ॥

असार्वत्रिकी=(वह श्रुति) एकदेशीय है—सर्वत्र सम्बन्ध रखनेवाली नहीं है ।

व्याख्या—पूर्वपक्षीने जो 'यदेव विद्यया करोति' (छा० उ० १ । १ । १०) इत्यादि श्रुतिका प्रमाण दिया है, वह एकदेशीय है । उस प्रकरणमें आयी हुई उद्गीथ-विद्यासे ही उसका सम्बन्ध है, अतः उसको ही वह कर्मका अङ्ग बताती है; अन्य सब प्रकरणोंमें वर्णित समस्त विद्याओंसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है । अतः उस एकदेशीय श्रुतिसे यह सिद्ध नहीं हो सकता कि विद्यामात्र कर्मका अङ्ग है ।

सम्बन्ध—पाँचवें सूत्रमें पूर्वपक्षीने जिस श्रुतिका प्रमाण दिया है, उसके विषयमें उत्तर देते हैं—

विभागः शतवत् ॥ ३ । ४ । ११ ॥

शतवत्=एक सौ मुद्राके विभागकी भाँति; **विभागः**=उस श्रुतिमें कहे हुए विद्या-कर्मका विभाग अधिकारिभेदसे समझना चाहिये ।

व्याख्या—जिस प्रकार किसीको आज्ञा दी जाय कि 'एक सौ मुद्रा उपस्थित लोगोंको दे दो ।' तो सुननेवाला पुरुष पानेवाले लोगोंके अधिकारके अनुसार विभाग करके उन मुद्राओंका वितरण करेगा । उसी प्रकार इस श्रुतिके कथनका भाव भी अधिकारीके अनुसार विभागपूर्वक समझना चाहिये । जो ब्रह्मज्ञानी है, उसके कर्म तो यहीं नष्ट हो जाते हैं । अतः वह केवल विद्याके बलसे ही ब्रह्मलोकको जाता है । उसके साथ कर्म नहीं जाते (मु० उ० १ । २ । ११) और जो सांसारिक मनुष्य हैं या साधनभ्रष्ट हैं, उनके साथ विद्या और कर्म दोनोंके ही संस्कार जाते हैं । वहाँ विद्याका अर्थ परमात्माका अपरोक्षज्ञान नहीं; किन्तु केवल श्रवण, मनन आदिका अभ्यास समझना चाहिये । अतः इससे भी विद्या कर्मका अङ्ग है, यह सिद्ध नहीं होता ।

सम्बन्ध—पूर्वपक्षकी ओरसे जो छठे सूत्रमें प्रजापतिके वचनोंका प्रमाण दिया गया था, उसका उत्तर देते हैं—

अध्ययनमात्रवतः ॥ ३ । ४ । १२ ॥

अध्ययनमात्रवतः=जिसने विद्याका केवल अध्ययनमात्र किया है, अनुष्ठान नहीं, ऐसे विद्वान्के विषयमें यह कथन है ।

व्याख्या—प्रजापतिके उपदेशमें जो विद्यासम्पन्न पुरुषके लिये कुटुम्बमें जाने और कर्म करनेकी बात कही गयी है, वह कथन गुरुकुलसे अध्ययनमात्र करके

निकलनेवाले ब्रह्मचारीके लिये है। अतः जिसने ब्रह्मविद्याका केवल अध्ययन किया है, मनन और निदिध्यासनपूर्वक उसका अनुष्ठान नहीं किया, ऐसे अधिकारीके प्रति अन्तःकरणकी शुद्धिके लिये कर्मोंका विधान है, जो कि सर्वथा उचित है; किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि ब्रह्मविद्या कर्मोंका अङ्ग है।

सम्बन्ध—पूर्वपक्षकी ओरसे जो अन्तिम श्रुति-प्रमाण दिया गया है, उसका उत्तर चार सूत्रोंमें अनेक प्रकारसे देते हैं—

नाविशेषात् ॥ ३ । ४ । १३ ॥

अविशेषात्=वह श्रुति विशेषरूपसे विद्वान्‌के लिये नहीं कही गयी है, इसलिये; **न**=ज्ञानके साथ उसका समुच्चय नहीं है।

व्याख्या—वहाँ जो त्यागपूर्वक आजीवन कर्म करनेके लिये कहा है, वह कथन सभी साधकोंके लिये समानभावसे है; ज्ञानीके लिये विशेषरूपसे नहीं है। अतः उससे न तो यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्या कर्मका अङ्ग है और न यही सिद्ध होता है कि केवल ब्रह्मविद्यासे परम पुरुषार्थ प्राप्त नहीं होता।

सम्बन्ध—यदि उस श्रुतिको समानभावसे सबके लिये मान लिया जाय तो फिर उसके द्वारा ज्ञानीके लिये भी तो कर्मका विधान हो ही जाता है, इसपर कहते हैं—

स्तुतयेऽनुमतिर्वा ॥ ३ । ४ । १४ ॥

वा=अथवा यों समझो कि; **स्तुतये**=विद्याकी स्तुतिके लिये; **अनुमतिः**=सम्मतिमात्र है।

व्याख्या=यदि इस श्रुतिको समानभावसे ज्ञानीके लिये भी माना जाय तो उसका यह भाव समझना चाहिये कि ज्ञानी लोकसंग्रहार्थ आजीवन कर्म करता रहे तो भी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे उसमें कर्म लिप्त नहीं होते। वह उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित रहता है। इस प्रकार ब्रह्मविद्याकी प्रशंसा करनेके लिये यह श्रुति कर्म करनेकी सम्मतिमात्र देती है, उसे कर्म करनेके लिये बाध्य नहीं करती; अतः यह श्रुति विद्याको कर्मोंका अङ्ग बतलानेके लिये नहीं है।

सम्बन्ध—इसी बातको सिद्ध करनेके लिये दूसरी युक्ति देते हैं—

कामकारेण चैके ॥ ३ । ४ । १५ ॥

च=इसके सिवा; **एके**=कई एक विद्वान्; **कामकारेण**=स्वेच्छापूर्वक (कर्मोंका त्याग कर देते हैं, इसलिये भी विद्या कर्मोंका अङ्ग नहीं है)।

व्याख्या—श्रुति कहती है कि 'किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्मायं लोकः।'—'हम प्रजासे क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे, जिनका यह परब्रह्म परमेश्वर ही लोक अर्थात् निवासस्थान है।' (बृह० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादि श्रुतियोंमें कितने ही विद्वानोंका स्वेच्छापूर्वक गृहस्थ आश्रम और कर्मोंका त्याग करना बतलाया गया है। यदि 'कुर्वन्नेवेह' इत्यादि श्रुति सभी विद्वानोंके लिये कर्मका विधान करनेवाली मान ली जाय तो इस श्रुतिसे विरोध आयेगा। अतः यही समझना चाहिये कि विद्वानोंमें कोई अपनी पूर्वप्रकृतिके अनुसार आजीवन कर्म करता रहता है और कोई छोड़ देता है, इसमें उनकी स्वतन्त्रता है। इसलिये भी यह सिद्ध नहीं होता कि विद्या कर्मका अङ्ग है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातको सिद्ध करते हैं—

उपमर्दं च ॥ ३ । ४ । १६ ॥

च=इसके सिवा; **उपमर्दम्**=ब्रह्मविद्यासे कर्मोंका सर्वथा नाश हो जाना कहा है (इससे भी पूर्वोक्त बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—'उस परमात्माका ज्ञान हो जानेपर इसके समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं' (मु० उ० २ । २ । ८) इत्यादि श्रुतियोंमें तथा स्मृतिमें भी ज्ञानका फल समस्त कर्मोंका भलीभाँति नाश बतलाया है (गीता ४ । ३७)*। इसलिये ब्रह्मविद्याको कर्मका अङ्ग नहीं माना जा सकता; तथा केवल ब्रह्मविद्यासे परमात्माकी प्राप्तिरूप परमपुरुषार्थकी सिद्धि नहीं होती, यह कहना भी नहीं बन सकता।

सम्बन्ध—पुनः दूसरे प्रमाणसे सिद्धान्तकी पुष्टि करके यहाँतक जैमिनिद्वारा उपस्थित की हुई सब शङ्काओंका उत्तर देकर 'विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है, स्वतन्त्र साधन है।' इस बातकी पुनः पुष्टि करते हैं—

ऊर्ध्वरेतस्सु च शब्दे हि ॥ ३ । ४ । १७ ॥

---

* यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा॥

'हे अर्जुन! जैसे प्रज्वलित आग लकड़ियोंको भस्म कर डालती है, उसी प्रकार ज्ञानरूपी अग्नि सब कर्मोंको भस्म कर देती है।'

ऊर्ध्वरेतस्सु=जिनमें वीर्यको सुरक्षित रखनेका विधान है, ऐसे तीन आश्रमोंमें; **च**=भी (ब्रह्मविद्याका अधिकार है); **हि**=क्योंकि; **शब्दे**=वेदमें ऐसा कहा है (इसलिये ब्रह्मविद्या कर्मोंका अङ्ग नहीं है)।

व्याख्या—जैसे गृहस्थ-आश्रममें ब्रह्मविद्याके अनुष्ठानका अधिकार है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास इन तीनों आश्रमोंमें भी उसके अनुष्ठानका अधिकार है; क्योंकि वेदमें ऐसा ही वर्णन है। मुण्डकोपनिषद् (१। २। ११) में कहा है कि—

तपःश्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्ष्यचर्यां चरन्तः।
सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा॥

'जो वनमें रहनेवाले (वानप्रस्थ), शान्त स्वभाववाले विद्वान् गृहस्थ तथा भिक्षासे निर्वाह करनेवाले ब्रह्मचारी और संन्यासी तप एवं श्रद्धाका सेवन करते हैं, वे रजोगुणसे रहित साधक सूर्यके मार्गसे वहाँ चले जाते हैं, जहाँ जन्म-मृत्युसे रहित नित्य अविनाशी परम पुरुष निवास करता है।' इसके सिवा, अन्य श्रुतियोंमें भी इसी प्रकारका वर्णन मिलता है। (प्र० उ० १। १०) इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या कर्मोंका अङ्ग नहीं है; क्योंकि संन्यासीके लिये वैदिक यज्ञादि कर्मोंका विधान नहीं है और उनका ब्रह्मविद्यामें अधिकार है। यदि ब्रह्मविद्याको कर्मका अङ्ग मान लिया जाय तो संन्यासीके द्वारा उसका अनुष्ठान कैसे सम्भव होगा?

सम्बन्ध—अब जैमिनिकी ओरसे पुनः शङ्का उपस्थित की जाती है—

परामर्शं जैमिनिरचोदना चापवदति हि॥ ३। ४। १८॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि; **परामर्शम्**=उक्त श्रुतिमें संन्यास-आश्रमका अनुवादमात्र मानते हैं, विधि नहीं; **हि**=क्योंकि; **अचोदना**=उसमें विधिसूचक क्रियापदका प्रयोग नहीं है; **च**=इसके सिवा; **अपवदति**=श्रुति संन्यासका अपवाद (निषेध) भी करती है।

व्याख्या=आचार्य जैमिनिका कथन है कि संन्यास-आश्रम अनुष्ठेय (पालन करनेयोग्य) नहीं है। गृहस्थ-आश्रममें रहकर कर्मानुष्ठान करते हुए ही मनुष्यका परमपुरुषार्थ सिद्ध हो सकता है। पूर्वोक्त श्रुतिमें 'भैक्ष्यचर्यां चरन्तः' इन पदोंके द्वारा संन्यासका अनुवादमात्र ही हुआ है, विधि नहीं है; क्योंकि वहाँ विधिसूचक क्रियापदका प्रयोग नहीं है। इसके सिवा, श्रुतिने स्पष्ट शब्दोंमें

संन्यासका निषेध भी किया है। जैसे—'जो अग्निहोत्रका त्याग करता है, वह देवोंके वीरोंको मारनेवाला है' (तै० सं० १ । ५ । २ । १)। 'आचार्यको उनकी इच्छाके अनुरूप धन दक्षिणामें देकर संतान-परम्पराको बनाये रक्खो, उसका उच्छेद न करो।' (तै० उ० १ । ११)। इन वचनोंद्वारा संन्यास-आश्रमका प्रतिवाद होनेसे यही सिद्ध होता है कि संन्यास-आश्रम आचरणमें लाने-योग्य नहीं है। अतएव संन्यासीका ब्रह्मविद्यामें अधिकार बताकर यह कहना कि 'विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है।' ठीक नहीं है।

सम्बन्ध—इसके उत्तरमें सूत्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं—

अनुष्ठेयं बादरायणः साम्यश्रुतेः ॥ ३ । ४ । १९ ॥

बादरायणः=व्यासदेव कहते हैं कि; **अनुष्ठेयम्**=गृहस्थकी ही भाँति अन्य आश्रमोंके धर्मोंका अनुष्ठान भी कर्तव्य है; **साम्यश्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें समस्त आश्रमोंकी और उनके धर्मोंकी कर्तव्यताका समानरूपसे प्रतिपादन किया गया है।

*व्याख्या—*जैमिनिके उक्त कथनका उत्तर देते हुए वेदव्यासजी कहते हैं—उक्त श्रुतिमें चारों आश्रमोंका अनुवाद है; परन्तु अनुवाद भी उसीका होता है, जो अन्यत्र विहित हो। दूसरी-दूसरी श्रुतियोंमें जैसे गृहस्थ-आश्रमका विधान प्राप्त होता है, उसी प्रकार अन्य आश्रमोंका विधान भी उपलब्ध होता है; इसमें कोई अन्तर नहीं है। अतः जिस प्रकार गृहस्थ-आश्रमके धर्मोंका अनुष्ठान उचित है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यासके धर्मोंका भी अनुष्ठान करना चाहिये। पूर्वपक्षीने जिन श्रुतियोंके द्वारा संन्यासका निषेध सूचित किया है, उनका तात्पर्य दूसरा ही है। वहाँ अग्निहोत्रका त्याग न करनेपर जोर दिया गया है। यह बात उन्हीं लोगोंपर लागू होती है, जो उसके अधिकारी हैं। गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रममें रहते हुए कभी अग्निहोत्रका त्याग नहीं करना चाहिये। यही बताना श्रुतिको अभीष्ट है। इसी प्रकार संतानपरम्पराका उच्छेद न करनेका आदेश भी उन्हींके लिये है, जो पूर्णतः विरक्त नहीं हुए हैं। विरक्तके लिये तो तत्काल संन्यास लेनेका विधान श्रुतिमें स्पष्ट देखा जाता है। यथा 'यदहरेव विरजेत्तद-हरेव प्रव्रजेत्।' अर्थात् 'जिस दिन वैराग्य हो, उसी दिन संन्यास ले ले।' अतः संन्यासीका भी ब्रह्मविद्यामें अधिकार होनेके कारण विद्याको कर्मका अङ्ग न मानना ही ठीक है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी सिद्धान्तको दृढ़ करते हैं—

विधिर्वा धारणवत् ॥ ३ । ४ । २० ॥

वा=अथवा; **विधिः**=उक्त मन्त्रमें अन्य आश्रमोंकी विधि ही माननी चाहिये, अनुवाद नहीं; **धारणवत्**=जैसे समिधा-धारण-सम्बन्धी वाक्यमें 'ऊपर धारण' की क्रियाको अनुवाद न मानकर विधि ही माना गया है।

व्याख्या—जैसे 'अधस्तात् समिधं धारयन्ननुद्रवेदुपरि हि देवेभ्यो धारयति।' अर्थात् 'स्रुग्दण्डके नीचे समिधा-धारण करके अनुद्रवण करे, किन्तु देवताओंके लिये ऊपर धारण करे।' इस वाक्यमें स्रुग्दण्डके अधोभागमें समिधा-धारणकी विधिके साथ एकवाक्यताकी प्रतीति होनेपर भी 'ऊपर धारण' की क्रियाको अपूर्व होनेके कारण विधि मान लिया गया है। उसी प्रकार पूर्वोक्त श्रुतिमें जो चारों आश्रमोंका सांकेतिक वर्णन है, उसे अनुवाद न मानकर विधि ही स्वीकार करना चाहिये। दूसरी श्रुतिमें आश्रमोंका विधान करनेवाले वचन स्पष्ट मिलते हैं। यथा—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद् वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।····यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत्।' (जाबा० उ० ४) अर्थात् 'ब्रह्मचर्यको पूर्ण करके गृहस्थ होना चाहिये। गृहस्थसे वानप्रस्थ होकर उसके बाद संन्यासी होना उचित है। अथवा तीव्र इच्छा हो तो दूसरे प्रकारसे—ब्रह्मचर्यसे, गृहस्थसे या वानप्रस्थसे संन्यास ग्रहण कर लेना चाहिये। जिस दिन पूर्ण वैराग्य हो जाय, उसी दिन संन्यास ले लेना चाहिये।' इसी प्रकार अन्यान्य श्रुतियोंमें भी आश्रमोंके लिये विधि देखी जाती है। अतः जहाँ केवल सांकेतिकरूपसे आश्रमोंका वर्णन हो, वहाँ संकेतसे ही उनकी विधि भी मान लेनी चाहिये। यहाँ यह बात भी ध्यानमें रखनी चाहिये कि कर्मत्यागका निषेध करनेवाली जो श्रुति है, वह कर्मासक्त मनुष्योंके लिये ही है; विरक्तके लिये नहीं है। इस विवेचनसे यह सिद्ध हो गया कि कर्मोंके बिना केवल ज्ञानसे ही ब्रह्मप्राप्तिरूप परम पुरुषार्थकी सिद्धि होती है।

सम्बन्ध—पूर्व प्रकरणमें संन्यास-आश्रमकी सिद्धि की गयी। अब यज्ञकर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिमें की जानेवाली जो उपासना है, उसकी तथा उसके लिये बताये हुए गुणोंकी विधेयता सिद्ध करके विद्या कर्मोंका अङ्ग नहीं है यह सिद्ध करनेके उद्देश्यसे अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

स्तुतिमात्रमुपादानादिति चेन्नापूर्वत्वात् ॥ ३ । ४ । २१ ॥

चेत्=यदि कहो; **उपादानात्**=उद्गीथ आदि उपासनाओंमें जो उनकी महिमाके सूचक वचन हैं, उनमें कर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिको लेकर वैसा वर्णन किया गया है, इसलिये; **स्तुतिमात्रम्**=वह सब, केवल उनकी स्तुतिमात्र है; **इति न**=तो ऐसी बात नहीं है; **अपूर्वत्वात्**=क्योंकि वे उपासनाएँ और उनके रसतमत्व आदि गुण अपूर्व हैं ।

व्याख्या—यदि कहो कि 'यह जो उद्गीथ है, वह रसोंका भी उत्तम रस है, परमात्माका आश्रयस्थान और पृथिवी आदि रसोंमें आठवाँ सर्वश्रेष्ठ रस है ।' (छा० उ० १ । १ । ३) इस प्रकारसे जो उद्गीथके विषयमें वर्णन है, वह केवल स्तुतिमात्र है, क्योंकि यज्ञके अङ्गभूत उद्गीथको लेकर ऐसा कहा गया है । इसी प्रकार सभी कर्माङ्गभूत उपासनाओंमें जिन-जिन विशेष गुणोंका वर्णन है, वह सब उस-उस अङ्गकी स्तुतिमात्र है, इसलिये विद्या कर्मका अङ्ग है; तो यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि वे उपासनाएँ और उनके सम्बन्धसे बताये हुए गुण अपूर्व हैं । जो अन्य किसी प्रमाणसे प्राप्त न हो, उसे अपूर्व कहते हैं । इन उपासनाओं और उनके गुणोंका न तो अन्यत्र कहीं वर्णन है और न अनुमान आदिसे ही उनका ज्ञान होता है; अतः उन्हें अपूर्व माना गया है, इसलिये यह कथन स्तुतिके लिये नहीं, किन्तु उद्गीथ आदिको प्रतीक बनाकर उसमें उपास्यदेवकी भावना करनेके लिये स्पष्ट प्रेरणा देनेवाला विधिवाक्य है । अतः विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातको पुष्ट करते हैं—

भावशब्दाच्च ॥ ३ । ४ । २२ ॥

च=इसके सिवा; (उस प्रकरणमें) **भावशब्दात्**=इस प्रकार उपासना करनी चाहिये इत्यादि विधिवाचक शब्दोंका स्पष्ट प्रयोग होनेके कारण भी (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—केवल अपूर्व होनेसे ही उसे विधि-वाक्य माना जाता हो, ऐसी बात नहीं है । उस प्रकरणमें 'उद्गीथकी उपासना करनी चाहिये' (छा० उ० १ । १ । १) 'सामकी उपासना करनी चाहिये' (छा० उ० २ । २ । १) इत्यादि रूपसे अत्यन्त स्पष्ट विधिसूचक शब्दोंका प्रयोग भी है । जैसे उनकी

अपूर्व विधि है, उसी प्रकार उन-उन उपासनाओंका अपूर्व फल भी बतलाया गया है (छा० उ० १ । १ । ७; १ । ७ । ९ और २ । २ । ३)। इसलिये यह सिद्ध हुआ कि वह कथन कर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिकी स्तुतिके लिये नहीं है, उनको प्रतीक बनाकर उपासनाका विधान करनेके लिये है और इसीलिये विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है ।

सम्बन्ध—भिन्न-भिन्न प्रकरणोंमें जो आख्यायिकाओंका (इतिहासोंका) वर्णन है, उसका क्या अभिप्राय है? इसका निर्णय करके विद्या कर्मका अङ्ग नहीं है यह सिद्ध करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

पारिप्लवार्था इति चेन्न विशेषितत्वात् ॥ ३ । ४ । २३ ॥

चेत्='यदि कहो; **पारिप्लवार्थाः**=उपनिषदोंमें वर्णित आख्यायिकाएँ पारिप्लव नामक कर्मके लिये हैं; **इति न**=तो यह ठीक नहीं है; **विशेषितत्वात्**=क्योंकि पारिप्लव-कर्ममें कुछ ही आख्यायिकाओंको विशेषरूपसे ग्रहण किया गया है ।

व्याख्या—'उपनिषदोंमें जो यम और नचिकेता, देवता और यक्ष, मैत्रेयी और याज्ञवल्क्य, प्रतर्दन और इन्द्र, जानश्रुति और रैक्व तथा याज्ञवल्क्य और जनक आदिकी कथाएँ आती हैं; वे यज्ञ-सम्बन्धी पारिप्लवनामक कर्मकी अङ्गभूत हैं; क्योंकि 'पारिप्लवमाचक्षीत' ('पारिप्लव' नामक वैदिक उपाख्यान कहे) इस विधि-वाक्यद्वारा श्रुतिमें उसका स्पष्ट विधान किया है । अश्वमेधयागमें जो रात्रिके समय कुटुम्बसहित बैठे हुए राजाको अध्वर्यु वैदिक उपाख्यान सुनाता है, वही 'पारिप्लव' कहलाता है । इस पारिप्लव कर्मके लिये ही उपर्युक्त कथाएँ हैं ।' ऐसा यदि कोई कहे तो यह ठीक नहीं है; क्योंकि पारिप्लवका प्रकरण आरम्भ करके श्रुतिने 'मनुर्वैवस्वतो राजा' इत्यादि वाक्योंद्वारा कुछ विशेष उपाख्यानोंको ही वहाँ सुनानेयोग्य कहा है। उनमें ऊपर बतायी हुई उपनिषदोंकी कथाएँ नहीं आती हैं । अतः वे पारिप्लव कर्मकी अङ्गभूत नहीं हैं । वे सब आख्यान ब्रह्मविद्याको भलीभाँति समझानेके लिये कहे हुए ब्रह्मविद्याके ही अङ्ग हैं । इसीलिये इन सब आख्यानोंका विशेष माहात्म्य बतलाया गया है (क० उ० १ । ३ । १६)।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातको दृढ़ करते हैं—

तथा चैकवाक्यतोपबन्धात् ॥ ३ । ४ । २४ ॥

तथा च=इस प्रकार उन आख्यायिकाओंको पारिप्लवार्थक न मानकर विद्याका ही अङ्ग मानना चाहिये; **एकवाक्यतोपबन्धात्**=क्योंकि इन उपाख्यानोंकी वहाँ कही हुई विद्याओंके साथ एकवाक्यता देखी जाती है ।

व्याख्या—इस प्रकार उन कथाओंको पारिप्लवकर्मका अङ्ग न मानकर वहाँ कही हुई विद्याओंका ही अङ्ग मानना उचित है; क्योंकि सन्निकट होनेसे इन विद्याओंके साथ ही इनका सम्बन्ध हो सकता है । विद्यामें रुचि उत्पन्न करने तथा परब्रह्मके स्वरूपका तत्त्व सरलतासे समझानेके लिये ही इन कथाओंका उपयोग किया गया है । इस प्रकार इनका उन प्रकरणोंमें वर्णित विद्याओंके साथ एकवाक्यतारूप सम्बन्ध है, इसलिये ये सब आख्यान ब्रह्मविद्याके ही अङ्ग हैं, कर्मोंके नहीं; ऐसा मानना ही ठीक है ।

सम्बन्ध—यहाँतक यह बात सिद्ध की गयी कि ब्रह्मविद्या यज्ञादि कर्मोंका अङ्ग नहीं है तथा वह स्वयं बिना किसीकी सहायताके परमपुरुषार्थको सिद्ध करनेमें समर्थ है । अब पुनः इसीका समर्थन करते हुए इस प्रकरणके अन्तमें कहते हैं——

अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा ॥ ३ । ४ । २५ ॥

च=तथा; **अतएव**=इसीलिये; **अग्नीन्धनाद्यनपेक्षा**=इस ब्रह्मविद्यारूप यज्ञमें अग्नि, समिधा, घृत आदि पदार्थोंकी आवश्यकता नहीं है ।

व्याख्या—यह ब्रह्मविद्यारूप यज्ञ अपना ध्येय सिद्ध करनेमें सर्वथा समर्थ है। यह पूर्ण होते ही स्वयं परमात्माका साक्षात्कार करा देता है । इसीलिये इस यज्ञमें अग्नि, समिधा, घृत आदि भिन्न-भिन्न पदार्थोंका विधान न करके केवलमात्र एक परब्रह्म परमात्माके स्वरूपका ही प्रतिपादन किया गया है। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान् श्रीकृष्णने इस बातका समर्थन इस प्रकार किया है—

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ (४ । २४)

‘उस ब्रह्मचिन्तनरूप यज्ञमें भिन्न-भिन्न उपकरण और सामग्री आवश्यक नहीं होती, किन्तु उसमें तो स्रुवा भी ब्रह्म है, हवि भी ब्रह्म है और ब्रह्मरूप अग्निमें ब्रह्मरूप होताद्वारा ब्रह्मरूप हवनक्रिया की जाती है, उस ब्रह्मचिन्तनरूप कर्ममें

समाहित हुए साधकद्वारा जो प्राप्त किया जानेवाला फल है, वह भी ब्रह्म ही है।' इस प्रकार यह ब्रह्मविद्या उस परमपुरुषार्थकी सिद्धिमें सर्वथा स्वतन्त्र होनेके कारण कर्मकी अङ्गभूत नहीं हो सकती।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि क्या ब्रह्मविद्याका किसी भी यज्ञ-यागादि अथवा शम-दमादि कर्मोंसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं है, क्या इसमें किसी भी कर्मकी आवश्यकता नहीं है ? अतः इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेरश्ववत् ॥ ३ । ४ । २६ ॥

च=इसके सिवा; **सर्वापेक्षा**=विद्याकी उत्पत्तिके लिये समस्त वर्णाश्रमोचित कर्मोंकी आवश्यकता है; **यज्ञादिश्रुतेः**=क्योंकि यज्ञादि कर्मोंको ब्रह्मविद्यामें हेतु बतानेवाली श्रुति है; **अश्ववत्**=जैसे घोड़ा योग्यतानुसार सवारीके काममें ही लिया जाता है, प्रासादपर चढ़नेके कार्यमें नहीं; उसी प्रकार कर्म विद्याकी उत्पत्तिके लिये अपेक्षित है, मोक्षके लिये नहीं।

व्याख्या—'यह सर्वेश्वर है, यह समस्त प्राणियोंका स्वामी है' इत्यादि वचनोंसे परमेश्वरके स्वरूपका वर्णन करके श्रुतिमें कहा है कि 'इस परमेश्वरको ब्राह्मणलोग निष्कामभावसे किये हुए स्वाध्याय, यज्ञ, दान और तपके द्वारा जाननेकी इच्छा करते हैं। इसीको जानकर मनुष्य मननशील होता है, इस संन्यासियोंके लोकको पानेकी इच्छासे मनुष्यगण संन्यास ग्रहण करते हैं।' इत्यादि (बृह० उ० ४ । ४ । २२)। तथा दूसरी श्रुतिमें भी कहा है कि 'जिस परमपदका सब वेद बार-बार प्रतिपादन करते हैं, समस्त तप जिसका लक्ष्य कराते हैं अर्थात् जिसकी प्राप्तिके साधन हैं तथा जिसको चाहनेवाले लोग ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस पदको मैं तुझे संक्षेपमें कहता हूँ' (क० उ० १ । २ । १५) इत्यादि। श्रुतिके इन वचनोंसे यह सिद्ध होता है कि परमात्माके तत्त्वको जाननेके लिये सभी वर्णाश्रमोचित कर्मोंकी आवश्यकता है। इसीलिये भगवान्‌ने भी गीता (१८ । ५-६) में कहा है—

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥
एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्॥

'यज्ञ, दान और तप ये कर्म त्याज्य नहीं हैं। इनका अनुष्ठान तो करना ही चाहिये; क्योंकि यज्ञ, दान और तप—ये मनीषी पुरुषोंको पवित्र करनेवाले हैं। अर्जुन ! इनका तथा अन्य सब कर्मोंका भी अनुष्ठान फल और आसक्तिको त्यागकर ही करना चाहिये। यही मेरा निश्चित किया हुआ उत्तम मत है।'

जिसका जैसा अधिकार है, उसीके अनुसार शास्त्रोंमें वर्ण और आश्रम-सम्बन्धी कर्म बताये गये हैं। अतः यह समझना चाहिये कि सभी कर्म सब साधकोंके लिये उपादेय नहीं होते; किन्तु श्रुतिमें बतलाये हुए ब्रह्मप्राप्तिके साधनोंमेंसे जिस साधनको लेकर जो साधक अग्रसर हो रहा है, उसे अपने वर्ण, आश्रम और योग्यतानुसार अन्य शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान भी निष्कामभावसे करते रहना चाहिये। इसी उद्देश्यसे श्रुतिमें विकल्प दिखलाया गया है कि कोई तो गृहस्थमें रहकर यज्ञ, दान और तपके द्वारा उसे प्राप्त करना चाहता है, कोई संन्यास-आश्रममें रहकर उसे जानना चाहता है, कोई ब्रह्मचर्यके पालनद्वारा उसे पाना चाहता है और कोई (वानप्रस्थमें रहकर) केवल तपस्यासे ही उसे पानेकी इच्छा रखता है, इत्यादि। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिये कर्म अत्यन्त आवश्यक हैं; परन्तु परमात्माकी प्राप्तिमें उनकी अपेक्षा नहीं है, ब्रह्मविद्यासे ही उस फलकी सिद्धि होती है। इसके लिये सूत्रकारने अश्वका दृष्टान्त दिया है। जैसे योग्यतानुसार घोड़ा सवारीके काममें लिया जाता है, प्रासादपर चढ़नेके कार्यमें नहीं, उसी प्रकार कर्म ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिमें सहायक है, ब्रह्मके साक्षात्कारमें नहीं।

सम्बन्ध—परमात्माकी प्राप्तिके लिये क्या ऐसे विशेष साधन भी हैं, जो सभी वर्ण, आश्रम और योग्यतावाले साधकोंके लिये समानभावसे आवश्यक हों? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

शमदमाद्युपेतः स्यात्तथापि तु तद्विधेस्तदङ्गतया तेषामवश्यानुष्ठेयत्वात् ॥ ३ । ४ । २७ ॥

तथापि=अन्य कर्म आवश्यक न होनेपर भी (साधकको); **शमदमाद्युपेतः**=शम, दम, तितिक्षा आदि गुणोंसे सम्पन्न; **स्यात्**=होना चाहिये; **तु**=क्योंकि; **तदङ्गतया**=उस ब्रह्मविद्याके अङ्गरूपसे; **तद्विधेः**=उन शम-दमादिका विधान होनेके कारण; **तेषाम्**=उनका; **अवश्यानुष्ठेयत्वात्**=अनुष्ठान अवश्य कर्तव्य है।

व्याख्या—श्रुतिमें पहले ब्रह्मवेत्ताके महत्त्वका वर्णन करके कहा गया है कि 'यह ब्रह्मवेत्ताकी महिमा नित्य है। यह न कर्मोंसे बढ़ती है और न घटती है।

इस महिमाको जानना चाहिये । ब्रह्मवेत्ताकी महिमाको जाननेवाला पापकर्मोंसे लिप्त नहीं होता, इसलिये उस महिमाको जाननेवाला साधक शान्त (अन्तःकरणका संयमी), दान्त (इन्द्रियोंका संयमी), उपरत, तितिक्षु और ध्यानमें स्थित होकर आत्मामें ही आत्माको देखता है ।' (बृह० उ० ४ । ४ । २३) इस प्रकार श्रुतिमें परमात्माको जाननेकी इच्छावाले साधकके लिये शम-दमादि साधनोंका ब्रह्मविद्याके अङ्गरूपसे विधान है, इस कारण उनका अनुष्ठान करना साधकके लिये परम आवश्यक हो जाता है । अतएव जिस साधकके लिये वर्ण, आश्रमके यज्ञादि कर्म आवश्यक न हों, उसको भी इन शम, दम, तितिक्षा, ध्यानाभ्यास आदि साधनोंसे सम्पन्न अवश्य होना चाहिये । सूत्रमें आये हुए तथापि शब्दसे उपर्युक्त भाव तो निकलता ही है । उसके सिवा, यह भाव भी व्यक्त होता है कि अधिकांश साधकोंके लिये तो पूर्वसूत्रके कथनानुसार अपने-अपने वर्ण और आश्रमके लिये विहित सभी कर्म आवश्यक हैं, किन्तु वैराग्य और उपरति आदि किसी विशेष कारणसे किसी-किसीके लिये अन्य कर्म आवश्यक न हों तो भी शम-दमादिका अनुष्ठान तो अवश्य होना चाहिये ।

सम्बन्ध—श्रुतिमें कहीं-कहीं यह वर्णन भी मिलता है कि प्राणविद्याके रहस्यको जाननेवालेके लिये कोई अन्न अभक्ष्य नहीं होता (छा० उ० ५ । २ । १) (बृह० उ० ६ । १ । १४) । इसलिये साधकको अन्नके विषयमें भक्ष्याभक्ष्यका विचार रखना चाहिये या नहीं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

सर्वान्नानुमतिश्च प्राणात्यये तद्दर्शनात् ॥ ३ । ४ । २८ ॥

सर्वान्नानुमतिः=सब प्रकारके अन्नको भक्षण करनेकी अनुमति; **च**=तो; **प्राणात्यये**=अन्न बिना प्राण न रहनेकी सम्भावना होनेपर ही है (सदा नहीं); **तद्दर्शनात्**=क्योंकि श्रुतिमें वैसा ही आचार देखा जाता है ।

*व्याख्या—*श्रुतिमें एक कथा आती है—किसी समय कुरुदेशमें टिड्डियोंके गिरने अथवा ओले पड़नेसे भारी अकाल पड़ गया । उस समय उषस्ति नामवाले एक विद्वान् ब्राह्मण अपनी पत्नी आटिकीके साथ इभ्य-ग्राममें रहते थे । वे दरिद्रताके कारण बड़ी दुर्गतिमें थे । कई दिनोंसे भूखे रहनेके कारण उनके प्राण जानेकी सम्भावना हो गयी । तब वे एक महावतके पास गये । वह उड़द खा रहा था, उन्होंने उससे उड़द माँगा । महावतने कहा—'मेरे पास इतना ही

है, इसे मैंने पात्रमें रखकर खाना आरम्भ कर दिया है, यह जूठा अन्न आपको कैसे दूँ ?' उषस्ति बोले—'इन्हींमेंसे मुझे दे दो ।' महावतने वे उड़द उनको दे दिये और कहा 'यह जल भी प्रस्तुत है, पी लीजिये ।' उषस्तिने कहा—'नहीं, यह जूठा है, इससे जूठा पानी पीनेका दोष लगेगा ।' यह सुनकर महावत बोला—'क्या ये उड़द जूठे नहीं थे ?' उषस्तिने कहा—'इनको न खानेसे तो मेरा जीना असम्भव था, किन्तु जल तो मुझे अन्यत्र भी इच्छानुसार मिल सकता है ।' इत्यादि (छा० उ० १ । १० । १ से ७ तक) । श्रुतिमें कही हुई इस कथाको देखनेसे यह सिद्ध होता है कि जिस समय अन्नके बिना मनुष्य जीवन धारण करनेमें असमर्थ हो जाय, प्राण बचनेकी आशा न रहे, ऐसी परिस्थितिमें ही अपवित्र या उच्छिष्ट अन्न भक्षण करनेके लिये शास्त्रकी सम्मति है, साधारण अवस्थामें नहीं; क्योंकि उड़द खानेके बाद उषस्तिने जल-ग्रहण न करके इस बातको भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है । अतएव वहाँ जो यह कहा है कि 'इस रहस्यको जाननेवालेके लिये कोई अभक्ष्य नहीं होता, उसका अभिप्राय प्राणविद्याके ज्ञानकी स्तुति करनेमें है, न कि अभक्ष्य-भक्षणके विधानमें; क्योंकि वैसा कहनेपर अभक्ष्यका निषेध करनेवाले शास्त्र-वचनोंसे विरोध होगा । इसलिये साधारण परिस्थितिमें मनुष्यको अपने आचार तथा आहारकी पवित्रताके संरक्षण-सम्बन्धी नियमका त्याग कदापि नहीं करना चाहिये ।

सम्बन्ध—दूसरी युक्तिसे पुनः इसी बातको पुष्ट करते हैं—

अबाधाच्च ॥ ३ । ४ । २९ ॥

अबाधात्=अन्य श्रुतिका बाध नहीं होना चाहिये, इस कारणसे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि आपत्कालके सिवा, अन्य परिस्थितिमें आचारका त्याग नहीं करना चाहिये) ।

व्याख्या—'आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः'—आहारकी शुद्धिसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है (छा० उ० ७ । २६ । २), इत्यादि जो भक्ष्याभक्ष्यका विचार करनेवाले शास्त्र-वचन हैं, उनके साथ एकवाक्यता करनेके लिये उनका दूसरी श्रुतिके द्वारा बाध (विरोध) होना उचित नहीं है । इस कारणसे भी आपत्तिकालके सिवा, साधारण अवस्थामें भक्ष्याभक्ष्य-विचार एवं अभक्ष्यके त्यागरूप आचारका त्याग नहीं करना चाहिये ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे पुनः इसी बातको सिद्ध करते हैं—

अपि च स्मर्यते ॥ ३ । ४ । ३० ॥

अपि च=इसके सिवा; **स्मर्यते**=स्मृति भी इसी बातका समर्थन करती है।

*व्याख्या—*मनुस्मृतिमें कहा है कि—

जीवितात्ययमापन्नो योऽन्नमत्ति यतस्ततः ।
आकाशमिव पङ्केन न स पापेन लिप्यते ॥

'जो मनुष्य प्राणसङ्कटमें पड़नेपर जहाँ कहींसे भी अन्न लेकर खा लेता है, वह उसी प्रकार पापसे लिप्त नहीं होता जैसे कीचड़से आकाश' (मनु० १० । १०४) । इस प्रकार जो स्मृति-वचन उपलब्ध होते हैं, उनसे भी यही सिद्ध होता है कि प्राण जानेकी परिस्थिति उत्पन्न न होनेतक आहार-शुद्धिसम्बन्धी सदाचारका परित्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—अब श्रुति-प्रमाणसे भी अभक्ष्य-भक्षणका निषेध सिद्ध करते हैं—

शब्दश्चातोऽकामकारे ॥ ३ । ४ । ३१ ॥

अकामकारे=इच्छानुसार अभक्ष्यभोजनके निषेधमें; **शब्दः**=श्रुतिप्रमाण; **च**=भी है; **अतः**=इसलिये (प्राणसङ्कटकी स्थिति आये बिना निषिद्ध अन्न, जलका ग्रहण नहीं करना चाहिये)।

*व्याख्या—*इच्छानुसार अभक्ष्य-भक्षणका निषेध करनेवाली श्रुति भी है,* इसलिये यह सिद्ध हुआ कि जहाँ कहीं श्रुतिमें ज्ञानकी विशेषता दिखलानेके लिये विद्वान्‌के सम्बन्धमें यह कहा है कि 'उसके लिये कुछ भी अभक्ष्य नहीं होता', वह केवल विद्याकी स्तुतिके लिये है। सिद्धान्त यही है कि जबतक प्राण जानेकी परिस्थिति न पैदा हो जाय, तबतक अभक्ष्य-त्यागसम्बन्धी सदाचारका त्याग नहीं करना चाहिये।

सम्बन्ध—यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर भी अभक्ष्य-त्याग आदिके आचारका पालन करना चाहिये। अब यह जिज्ञासा होती है

---

* **स्तेनो हिरण्यस्य सुरां पिबंश्च गुरोस्तल्पमावसन् ब्रह्महा चैते पतन्ति चत्वारः पञ्चमश्चाचरंस्तैरिति ॥** (छा० उ० ५ । १० । ९)

'सुवर्ण चुरानेवाला, शराबी, गुरुपत्नीगामी तथा ब्रह्महत्यारा—ये चारों पतित होते हैं और पाँचवाँ उनके साथ संसर्ग रखनेवाला भी पतित होता है।' सुरा (मद्य) अभक्ष्य है। यहाँ इसे पीनेवालेको महापातकी बताकर उसके पानका निषेध किया गया है।

कि ज्ञानीको कर्म करना चाहिये या नहीं ? यदि करना चाहिये तो कौन-से कर्म करने चाहिये ? अतः इसके निर्णयके लिये कहते हैं—

विहितत्वाच्चाश्रमकर्मापि ॥ ३ । ४ । ३२ ॥

च=तथा; **विहितत्वात्**=शास्त्रविहित होनेके कारण; **आश्रमकर्म**=आश्रम-सम्बन्धी कर्मोंका; **अपि**=भी (अनुष्ठान करना चाहिये) ।

व्याख्या—ज्ञानीके द्वारा भी जिस प्रकार शरीरस्थितिके लिये उपयोगी भोजनादि कर्म तथा ब्रह्मविद्योपयोगी शमदमादि कर्म लोकसंग्रहके लिये कर्तव्य हैं, उसी प्रकार जिस आश्रममें वह रहता हो, उस आश्रमके कर्म भी उसके लिये विहित हैं, (बृह० उ० ४ । ४ । २२) ।* अतः उनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये; इसीलिये भगवान्‌ने भी कहा है—'नियत कर्मोंका त्याग करना नहीं बन सकता, अतः मोह-पूर्वक उनका त्याग देना तामस त्याग कहा गया है (गीता १८ । ७) ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातको दृढ़ करते हैं—

सहकारित्वेन च ॥ ३ । ४ । ३३ ॥

सहकारित्वेन=साधनमें सहायक होनेके कारण; **च**=भी (उनका अनुष्ठान लोकसंग्रहके लिये करना चाहिये) ।

व्याख्या—जिस प्रकार शम, दम, तितिक्षादि कर्म परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें सहायक हैं, उसी प्रकार निष्कामभावसे किये जानेवाले शास्त्रविहित आश्रमसम्बन्धी आचार, व्यवहार आदि भी सहायक हैं । इसलिये उनका अनुष्ठान भी लोकसंग्रहके लिये अवश्य करना चाहिये, त्याग नहीं करना चाहिये ।

सम्बन्ध—यहाँतक यह सिद्ध किया गया कि ब्रह्मविद्याका अभ्यास करनेवाले साधकोंके लिये निष्कामभावसे और परमात्माको प्राप्त हुए महात्माओंके लिये लोकसंग्रहार्थ आश्रम-सम्बन्धी विहित कर्मोंका अनुष्ठान तथा खान-पानसम्बन्धी सदाचारका पालन आवश्यक है । अब परब्रह्म पुरुषोत्तमकी भक्तिके अङ्गभूत जो श्रवण, कीर्तन आदि कर्म हैं, उनका पालन किस परिस्थितिमें और किस प्रकार करना चाहिये ? इसपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

सर्वथापि त एवोभयलिङ्गात् ॥ ३ । ४ । ३४ ॥

---

* तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसानाशकेन ।

अपि=किसी कारणसे कठिनता प्राप्त होनेपर भी; **ते**=वे भक्तिसम्बन्धी कर्म या भागवतधर्म तो; **सर्वथा**=सब प्रकारसे; **एव**=ही आचरणमें लाने योग्य हैं; **उभयलिङ्गात्**=क्योंकि श्रुति और स्मृति दोनोंके निश्चयात्मक वर्णनरूप लिङ्ग (लक्षण) से यही सिद्ध होता है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि—

तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः।
नानुध्यायाद् बहूञ्छब्दान् वाचो विग्लापनꣳहि तत्॥

'बुद्धिमान् ब्राह्मणको चाहिये कि उस परब्रह्म पुरुषोत्तमके तत्त्वको समझकर उसीमें बुद्धिको प्रविष्ट करे, अन्य नाना प्रकारके व्यर्थ शब्दोंपर ध्यान न दे; क्योंकि वह तो केवल वाणीका अपव्ययमात्र है।' (बृह० उ० ४।४।२१) तथा—

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥

'जिस परब्रह्म परमेश्वरमें स्वर्ग, पृथिवी, अन्तरिक्ष, मनसहित समस्त इन्द्रियाँ और प्राण स्थित हैं, उसी एक सबके आत्मा परमेश्वरको कहे हुए उपायोंद्वारा जानो, दूसरी बातोंको छोड़ो। यही अमृतस्वरूप परमात्माको पानेके लिये सेतुके सदृश सरल मार्ग है।' (मु० उ० २।२।५) इसी प्रकार श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि—

शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णशः
स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः।
त एव पश्यन्त्यचिरेण तावकं
भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम्॥

'जो आपके भक्त आपके चरित्रोंको प्रतिक्षण सुनते हैं, गाते हैं और वर्णन करते हैं तथा उन्हींका स्मरण करके आनन्दित होते हैं, वे ही अविलम्ब आपके उन चरण-कमलोंका दर्शन करते हैं, जो जन्म-मरणरूप प्रवाहके नाशक हैं।' (१।८।३६)। श्रीमद्भगवद्गीतामें भी कहा है—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥

'हे पार्थ ! दैवी प्रकृतिमें स्थित हुए महात्मागण मुझे समस्त प्राणियोंका आदि और अविनाशी जानकर अनन्य मनसे मेरा भजन करते हैं, वे यत्नशील दृढ़ निश्चयवाले भक्त निरन्तर मेरा कीर्तन और मुझे नमस्कार करते हुए, सदा मुझमें ही संलग्न रहकर प्रेमपूर्वक मेरी उपासना करते हैं।' (गीता ९ । १३-१४)। इत्यादि श्रुतियों और स्मृतियोंमें वर्णित लक्षणोंसे यही सिद्ध होता है कि आपत्तिकालमें किसी कारणवश अन्य वर्ण, आश्रम और शरीर-निर्वाहसम्बन्धी कर्मोंका पालन पूर्णतया न हो सके तो भी उन भगवदुपासनाविषयक श्रवण, कीर्तन आदि मुख्य धर्मोंका अनुष्ठान तो किसी भी प्रकारसे अवश्य करना ही चाहिये। भाव यह कि किसी भी अवस्थामें इनके अनुष्ठानमें शिथिलता नहीं आने देनी चाहिये ।

सम्बन्ध—उक्त धर्मानुष्ठानकी विशेषता दिखलाते हैं—

अनभिभवं च दर्शयति ॥ ३ । ४ । ३५ ॥

श्रुति (इनका अनुष्ठान करनेवालेका) **अनभिभवम्**=पापोंसे अभिभूत न होना; **च**=भी; **दर्शयति**=दिखलाती है (इससे भी यह सिद्ध होता है कि इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये) ।

व्याख्या—श्रुतिने कहा है कि 'उस परमात्माको प्राप्त करनेवालेकी महिमाको जाननेवाले जिस साधकका मन शान्त है अर्थात् विषय-वासनासे अभिभूत नहीं है, जिसकी इन्द्रियाँ वशमें की हुई हैं, जो अन्य सभी क्रिया-कलापसे उपरत है, सब प्रकारके शारीरिक और मानसिक सुख-दुःखोंको सहन करनेमें समर्थ-तितिक्षु है तथा परमात्माके स्मरणमें तल्लीन है, वह अपने हृदयमें स्थित उस आत्मस्वरूप परमेश्वरका साक्षात्कार करता है; अतः वह समस्त पापोंसे पार हो जाता है, उसे पाप ताप नहीं पहुँचा सकते; अपितु वही पापोंको सन्तप्त करता है।' इत्यादि (बृह० उ० ४ । ४ । २३)। इस प्रकार श्रुतिमें भगवान्‌का भजन-स्मरण करनेवालेको पाप न लगनेकी बात कही गयी है । इसलिये यही सिद्ध होता है कि परमात्माकी प्राप्तिके लिये बतलाये हुए जो उपासना-विषयक श्रवण, कीर्तन और स्मरण आदि धर्म हैं, उनका अनुष्ठान तो प्रत्येक परिस्थितिमें करते ही रहना चाहिये ।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे पुनः उपासनाविषयक कर्मानुष्ठानकी विशेषताका प्रतिपादन करते हैं—

अन्तरा चापि तु तद्दृष्टेः ॥ ३ । ४ । ३६ ॥

तु=इसके सिवा; **अन्तरा**=आश्रमधर्मोंके अभावमें; **च अपि**=भी (केवल उपासनाविषयक अनुष्ठानसे परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है); **तद्दृष्टेः**=क्योंकि श्रुतिमें ऐसा विधान देखा जाता है।

व्याख्या—श्वेताश्वतरोपनिषद् (१ । १४) में कहा है—

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत्॥

'अपने शरीरको नीचेकी अरणि और प्रणवको ऊपरकी अरणि बनाकर ध्यानके द्वारा निरन्तर मन्थन करते रहनेसे साधक छिपी हुई अग्निकी भाँति हृदयमें स्थित परमदेव परमेश्वरको देखे।'

इस कथनके पश्चात् उपर्युक्तरूपसे परमेश्वरमें ध्यानकी स्थितिके लिये प्रार्थना करने तथा उन्हीं परमात्माकी शरण ग्रहण करनेका भी वर्णन है (श्वेता० उ० २ । १ से ५)। तदनन्तर यह कहा गया है कि 'हे साधक! सम्पूर्ण जगत्के उत्पादक सर्वान्तर्यामी परमेश्वरकी प्रेरणासे तुम्हें उस परब्रह्म परमात्माकी सेवा-समाराधना करनी चाहिये। उन परमेश्वरकी ही शरण लेकर उन्हींमें अपने-आपको विलीन कर देना चहिये। ऐसा करनेसे तुम्हारे पूर्वकृत समस्त सञ्चित कर्म साधनमें विघ्नकारक नहीं होंगे।' (श्वेता० उ० २ । ७)। इसके बाद इसका फल आत्मा और परमात्माके स्वरूपका साक्षात्कार बताया है (२ । १४,१५)। इसी तरह अन्य श्रुतियोंमें भी केवल उपासनासे ही परमात्माकी प्राप्ति बतायी है। (श्वेता० उ० ४ । १७ तथा ६ । २३)। इससे यह सिद्ध होता है कि जो अन्य वर्णाश्रमधर्मोंका पालन करनेमें असमर्थ हैं, उनको केवल उपासनाके धर्मोंका पालन करनेसे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

सम्बन्ध—इसी बातके समर्थनमें स्मृतिका प्रमाण देते हैं—

अपि च स्मर्यते ॥ ३ । ४ । ३७ ॥

अपि च=इसके सिवा; **स्मर्यते**=स्मृतियोंमें भी यही बात कही गयी है।

व्याख्या—गीता आदि स्मृतियोंमें जो वर्णाश्रमोचित कर्मके अधिकारी नहीं हैं, ऐसे पापयोनि चाण्डाल आदिको भी भगवान्‌की शरणागतिसे परमगतिकी प्राप्ति बतलायी गयी है (गीता ९ । ३२)। वहाँ भगवान्‌ने यह भी स्पष्ट कहा है कि 'मेरी प्राप्तिमें वेदाध्ययन, यज्ञानुष्ठान, दान तथा नाना प्रकारकी क्रिया और उग्र तप हेतु नहीं है, केवलमात्र अनन्यभक्तिसे ही मैं जाना, देखा और प्राप्त किया जा सकता हूँ' (११ । ४८, ५३, ५४)। इसी प्रकार श्रीमद्भागवत आदि ग्रन्थोंमें भी जगह-जगह इस बातका समर्थन किया गया है कि वर्ग और आश्रमकी मर्यादासे रहित मनुष्य केवल भक्तिसे पवित्र होकर परमात्माको प्राप्त कर लेता है। यथा—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः ।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः ॥

'किरात, हूण, आन्ध्र, पुलिन्द, पुल्कस, आभीर, कङ्क, यवन, खस आदि तथा अन्य जितने भी पापयोनिके मनुष्य हैं, वे सब जिनकी शरण लेनेसे शुद्ध हो परमात्माको प्राप्त हो जाते हैं, उन सर्वसमर्थ भगवान्‌को नमस्कार है।' (श्रीमद्भा० २ । ४ । १८)। इन सब वचनोंसे भी यह सिद्ध होता है कि उपासना-सम्बन्धी धर्मोंका अनुष्ठान ही परम आवश्यक है।

सम्बन्ध—अब भागवतधर्मानुष्ठानका विशेष माहात्म्य सिद्ध करते हैं—

विशेषानुग्रहश्च ॥ ३ । ४ । ३८ ॥

च=इसके सिवा; **विशेषानुग्रहः**=भगवान्‌की भक्तिसम्बन्धी धर्मोंका पालन करनेसे भगवान्‌का विशेष अनुग्रह होता है।

व्याख्या—ऊपर बतलायी हुई अन्य सब बातें तो भागवतधर्मकी विशेषतामें हेतु हैं ही। उनके सिवा, यह एक विशेष बात है कि अन्य किसी प्रकारके धर्म-कर्म आदिका आश्रय न लेकर जो अनन्य-भावसे केवल भगवान्‌की भक्तिका अनुष्ठान करता है,* उसको भगवान्‌की विशेष कृपा प्राप्त होती है। गीतामें भगवान्‌ने

---

* भक्तिका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार आया है—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ (७।५।२३)

'भगवान् विष्णुका श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरणसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन—ये भगवद्भक्तिके नौ भेद हैं।' (इन्हींको नवधा भक्ति कहते हैं।)

स्वयं कहा है कि 'उन भक्तोंके लिये मैं सुलभ हूँ' (गीता ८ । १४), 'उनका योग-क्षेम स्वयं वहन करता हूँ' (९ । २२) । भगवान्‌ने अपने भक्तोंका महत्त्व बतलाते हुए श्रीमद्भागवतमें यहाँतक कह दिया है कि 'मैं सदा भक्तोंके अधीन रहता हूँ' (९ । ४ । ६३) । इसके सिवा इतिहास, पुराण और स्मृतियोंमें यह वर्णन विशेषरूपसे पाया जाता है कि भक्तिका अनुष्ठान करनेवालोंपर भगवान्‌की विशेष कृपा होती है । यही कारण है कि भगवान्‌के इस भक्तवत्सल स्वभावको जाननेवाले निरन्तर उनके भजन, स्मरणमें ही लगे रहते हैं (गीता १५ । १९) तथा वे भक्तजन मुक्तिका भी निरादर करके केवल भक्ति ही चाहते हैं ।

सम्बन्ध—अब अन्य धर्मोंकी अपेक्षा भागवतधर्मोंकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन करते हैं—

अतस्त्वितरज्यायो लिङ्गाच्च ॥ ३ । ४ । ३९ ॥

अतः=ऊपर बतलाये हुए इन सभी कारणोंसे (यह सिद्ध हुआ कि); **इतरज्यायः**=अन्य सब धर्मोंकी अपेक्षा भगवान्‌की भक्तिविषयक धर्म श्रेष्ठ है; **तु**=इसके सिवा; **लिङ्गात्**=लक्षणोंसे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है) ।

व्याख्या—ऊपर बतलाये हुए कारणोंसे यह बात सिद्ध हो चुकी कि अन्य सभी प्रकारके धर्मोंसे भगवान्‌की भक्ति-विषयक धर्म अधिक श्रेष्ठ है । इसके सिवा, स्मृति-प्रमाणसे भी यही बात सिद्ध होती है । श्रीमद्भागवतमें कहा है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम् ।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ॥

'बारह प्रकारके गुणोंसे युक्त ब्राह्मण भी यदि भगवान् पद्मनाभके चरणकमल-से विमुख है तो उसकी अपेक्षा उस चाण्डालको श्रेष्ठ मानता हूँ, जिसके मन, धन, वचन, कर्म और प्राण परमात्माको अर्पित हैं; क्योंकि वह भक्त चाण्डाल अपनी भक्तिके प्रतापसे सारे कुलको पवित्र कर सकता है, परन्तु वह बहुत मानवाला ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता ।' (७ । ९ । १०)

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान्
यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या
ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥

'अहो आश्चर्य है कि जिसकी जिह्वापर तुम्हारा पवित्र नाम रहता है, वह चाण्डाल भी श्रेष्ठ है, क्योंकि जो तुम्हारे नामका कीर्तन करते हैं, उन श्रेष्ठ पुरुषोंने तप, यज्ञ, तीर्थस्नान और वेदाध्ययन आदि सब कुछ कर लिये।' (श्रीमद्भा० ३। ३३। ७)

इसी प्रकार जगह-जगह भगवान्‌के भक्तोंके लक्षण बतलाते हुए वर्ण-आश्रम आदिके धर्मका पालन करनेवालोंकी अपेक्षा उनकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है।

सम्बन्ध—इस प्रकार उपासना-विषयक श्रवण, कीर्तन आदि विशेष धर्मोंका महत्त्व दिखलाया गया। अब यह जिज्ञासा होती है कि यदि कोई मनुष्य किसी कारणवश आश्रमका व्यतिक्रम करना चाहे तो कर सकता है या नहीं? यदि कर ले तो उसका व्यक्तित्व कैसा माना जाना चाहिये? इत्यादि। अतः इस विषयका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं—

तद्भूतस्य तु नातद्भावो जैमिनेरपि नियमातद्रूपाभावेभ्यः। ३। ४। ४०।

तद्भूतस्य=उच्च आश्रममें स्थित मनुष्यका; **तु**=तो; **अतद्भावः**=उसे छोड़कर पूर्व आश्रममें लौट आना; **न**=नहीं बन सकता; **नियमातद्रूपाभावेभ्यः**=क्योंकि शास्त्रोंमें पीछे न लौटनेका ही नियम है, श्रुतिमें आश्रम बदलनेका जो क्रम कहा गया है, उससे यह विपरीत है और इस प्रकारका शिष्टाचार भी नहीं है; **जैमिनेः अपि**=जैमिनि ऋषिकी भी यही सम्मति है।

व्याख्या—जो चतुर्थ आश्रम ग्रहण कर चुके हैं, उनका पुनः गृहस्थाश्रममें लौटना शास्त्रसम्मत नहीं है। इसी प्रकार वानप्रस्थका भी पुनः गृहस्थमें प्रवेश उचित नहीं है, क्योंकि ऊँचे आश्रममें जाकर पुनः लौटनेका श्रुति-स्मृतियोंमें निषेध है तथा आश्रम बदलनेका जो क्रम श्रुतिमें बताया गया है, वह इस प्रकार है—'ब्रह्मचर्यं परिसमाप्य गृही भवेत्। गृही भूत्वा वनी भवेत्। वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद् गृहाद् वा वनाद् वा।'—'ब्रह्मचर्यको पूरा करके गृहस्थ होवे, गृहस्थसे वानप्रस्थ हो और वानप्रस्थसे संन्यास ले

अथवा दूसरे प्रकारसे यानी ब्रह्मचर्यसे या गृहस्थसे अथवा वानप्रस्थसे ही संन्यास ले।' (जाबाल० उ० ४)। अतः पीछे लौटना उस क्रमसे विपरीत है। इसके सिवा, इस प्रकारका शिष्टाचार भी नहीं है। इन सब कारणोंसे जैमिनि ऋषिकी भी यही सम्मति है कि उच्च आश्रमसे पुनः लौटना नहीं हो सकता। इसलिये यही सिद्ध हुआ कि वेद और स्मृतियोंमें जो एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें प्रवेश करनेकी रीति बतायी गयी है, उसको छोड़कर आश्रमका व्यतिक्रम करना किसी प्रकार भी न्यायसङ्गत नहीं है। अतः जो इस प्रकार आश्रमभ्रष्ट हो चुका है, उसका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है।

सम्बन्ध—इस प्रकारके मनुष्यको प्रायश्चित्त कर लेनेपर तो अधिकार प्राप्त हो जाता होगा ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

न चाधिकारिकमपि पतनानुमानात्तदयोगात् ॥ ३ । ४ । ४१ ॥

च=इसके सिवा; **आधिकारिकम्**=प्रायश्चित्तके अधिकारी अन्य आश्रम-वालोंके लिये जो प्रायश्चित्त बताया गया है, वह; **अपि**=भी; **न**=उसके लिये विहित नहीं है; **पतनानुमानात्**=क्योंकि स्मृतिमें उसका महान् पतन माना गया है; **तदयोगात्**=इसलिये वह प्रायश्चित्तके उपयुक्त नहीं रहा।

व्याख्या—ब्रह्मचर्य-आश्रममें यदि ब्रह्मचारीका व्रत भङ्ग हो जाय तो वेद और स्मृतियोंमें उसका प्रायश्चित्त बताया गया है (मनु० २ । १८१) तथा गृहस्थ भी ऋतुकाल आदिका नियमपालन भङ्ग कर दे तो उसका प्रायश्चित्त है; क्योंकि वे प्रायश्चित्तके अधिकारी हैं। परन्तु जिन्होंने वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम स्वीकार कर लिया, वे यदि पुनः गृहस्थ-आश्रममें लौटकर स्त्रीप्रसङ्गादिमें प्रवृत्त होकर पतित हो गये हैं तो उनके लिये शास्त्रोंमें किसी प्रकारके प्रायश्चित्तका विधान नहीं है; क्योंकि स्मृतियोंमें उनका अतिशय पतन माना गया है। इसलिये वे प्रायश्चित्तके अधिकारी नहीं रहे। जैमिनि आचार्यकी भी सूत्रकारके मतानुसार यही सम्मति है कि उनके लिये प्रायश्चित्तका विधान नहीं है।

सम्बन्ध—इसपर अन्य आचार्योंका मत बताते हैं—

उपपूर्वमपि त्वेके भावमशनवत्तदुक्तम् ॥ ३ । ४ । ४२ ॥

एके=कई एक आचार्य; **उपपूर्वम्**=इसे उपपातक; **अपि**=भी मानते हैं,

(इसलिये वे); **अशनवत्**=भोजनके नियमभङ्गके प्रायश्चित्तकी भाँति; **भावम्**=इसके लिये भी प्रायश्चित्तका भाव मानते हैं; **तदुक्तम्**=यह बात शास्त्रमें कही है (यह भी उनका कहना है) ।

व्याख्या—कई एक आचार्योंका कहना है कि जिस प्रकार ब्रह्मचारी अपने व्रतसे भ्रष्ट होकर प्रायश्चित्तका अधिकारी होता है, वैसे ही वानप्रस्थी और संन्यासियोंका भी प्रायश्चित्तमें अधिकार है; क्योंकि यह महापातक नहीं है; किन्तु उपपातक है और उपपातकके प्रायश्चित्तका शास्त्रमें विधान है ही । अतः अभक्ष्य-भक्षण आदिके प्रायश्चित्तकी भाँति इसका भी प्रायश्चित्त अवश्य होना उचित है ।

सम्बन्ध—इसपर आचार्य अपनी सम्मति बताते हैं—

बहिस्तूभयथापि स्मृतेराचाराच्च ॥ ३ । ४ । ४३ ॥

तु=किन्तु; **उभयथापि**=दोनों प्रकारसे ही; **बहिः**=वह विद्याके अधिकारसे बहिष्कृत है; **स्मृतेः**=क्योंकि स्मृतिप्रमाणसे; **च**=और; **आचारात्**=शिष्टाचारसे भी (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—वे उच्च आश्रमसे पतित हुए संन्यासी और वानप्रस्थी लोग महापातकी हों या उपपातकी, दोनों प्रकारसे ही शिष्ट-सम्प्रदाय और वैदिक ब्रह्मविद्याके अधिकारसे सर्वथा बहिष्कृत हैं; क्योंकि स्मृति-प्रमाण और शिष्टोंके आचार-व्यवहारसे यही बात सिद्ध होती है । उनका पतन भोगोंकी आसक्तिसे ही होता है । अतः वे ब्रह्मविद्याके अधिकारी नहीं हैं । श्रेष्ठ पुरुष उनके साथ यज्ञ, स्वाध्याय और विवाह आदि सम्बन्ध भी नहीं करते हैं ।

सम्बन्ध—इस प्रकार उच्च आश्रमसे भ्रष्ट हुए द्विजोंका ब्रह्मविद्यामें अधिकार नहीं है, यह सिद्ध किया गया । अब जो कर्मोंके अङ्गभूत उद्गीथ आदिमें उपासना की जाती है, उसका कर्ता यजमान होता है या कर्म करनेवाला ऋत्विक्—इसपर विचार करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

स्वामिनः फलश्रुतेरित्यात्रेयः ॥ ३ । ४ । ४४ ॥

स्वामिनः=उस उपासनामें यजमानका ही कर्तापन है; **इति**=ऐसा; **आत्रेयः**=आत्रेय मानते हैं; **फलश्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें यजमानके लिये ही फलका वर्णन किया गया है ।

व्याख्या—आत्रेय ऋषि मानते हैं कि श्रुतिमें 'जो इस उपासनाको इस प्रकार जानता है, वह पुरुष वृष्टिमें पाँच प्रकारके सामकी उपासना करता है, उसके लिये वर्षा होती है, वह वर्षा करानेमें समर्थ होता है।' (छा० उ० २। ३। २) बृहदारण्यकोपनिषद्में प्रस्तोताद्वारा की जानेवाली अनेक प्रार्थनाओंका उल्लेख करके अन्तमें उद्गाताका कर्म बताते हुए कहा है कि 'उद्गाता अपने या यजमानके लिये जिसकी कामना करता है, उसका आगान करता है' (बृह० उ० १।३।२८)। इस प्रकार फलका वर्णन करनेवाली श्रुतियोंसे सिद्ध होता है कि यज्ञके स्वामीको उसका फल मिलता है, अतएव इन फलकामनायुक्त उपासनाओंका कर्तापन भी स्वामी अर्थात् यजमानका ही होना उचित है।

सम्बन्ध—इसपर दूसरे आचार्यका मत कहते हैं—

आर्त्विज्यमित्यौडुलोमिस्तस्मै हि परिक्रीयते ॥ ३ । ४ । ४५ ॥

आर्त्विज्यम्=कर्तापन ऋत्विक्‌का है; **इति**=ऐसा; **औडुलोमिः**=औडुलोमि आचार्य मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **तस्मै**=उस कर्मके लिये; **परिक्रीयते**=वह ऋत्विक् यजमानद्वारा धनदानादिसे वरण कर लिया जाता है।

व्याख्या—आचार्य औडुलोमि ऐसा मानते हैं कि कर्तापन यजमानका नहीं, किन्तु ऋत्विक्‌का ही है; तथापि फल यजमानको मिलता है, क्योंकि वह ऋत्विक् उस कर्मके लिये यजमानके द्वारा धनदानादिसे वरण कर लिया जाता है। अतः वह दाताद्वारा दी हुई दक्षिणाका ही अधिकारी है; उसका फलमें अधिकार नहीं है।

सम्बन्ध—सूत्रकार श्रुतिप्रमाणसे अपनी सम्मति प्रकट करते हैं—

श्रुतेश्च ॥ ३ । ४ । ४६ ॥

श्रुतेः=श्रुतिप्रमाणसे; **च**=भी (औडुलोमिका ही मत उचित सिद्ध होता है)।

व्याख्या—यज्ञका ऋत्विक् जो कुछ भी कामना करता है, वह निःसन्देह यजमानके लिये ही करता है (शत० १ । ३ । १ । १६) इसलिये इस प्रकार जाननेवाला उद्गाता यजमानसे कहे कि 'मैं तेरे लिये किन-किन भोगोंका आगान करूँ' (छा० उ० १ । ७ । ८) इत्यादि श्रुतियोंसे भी कर्मका कर्तापन ऋत्विक्‌का और फलमें अधिकार यजमानका सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—इस प्रकार प्रसङ्गानुसार सकाम उपासनाके फल और कर्तापनका निर्णय किया गया। अब ब्रह्मविद्याका अधिकार किसी एक ही आश्रममें है या सभी आश्रमोंमें? इस बातका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

सहकार्यन्तरविधिः पक्षेण तृतीयं तद्वतो विध्यादिवत्॥ ३। ४। ४७॥

तद्वतः=ब्रह्मविद्यासे युक्त साधकके लिये; **तृतीयम्**=बालकपन और पाण्डित्यके साथ कहा हुआ जो तीसरा मौन साधन है, वह विधेय है; **सहकार्यन्तरविधिः**=(क्योंकि) उसका दूसरे सहकारी साधनके रूपमें विधान है; **विध्यादिवत्**=दूसरे स्थलमें कहे हुए विधिवाक्योंकी भाँति; **पक्षेण**=एक पक्षको लेकर यह भी विधि है।

व्याख्या—कहोलने याज्ञवल्क्यसे साक्षात् परब्रह्मका स्वरूप पूछा, उसके उत्तरमें याज्ञवल्क्यने सबके अन्तरात्मा परमात्माका स्वरूप सङ्केतसे बताकर कहा कि 'जो शोक, मोह, भूख, प्यास, बुढ़ापा और मृत्युसे अतीत है, वह परमात्मा है, ऐसे इस परमात्माको जानकर ब्राह्मण पुत्रकामना, धनकामना तथा मान-बड़ाई और स्वर्गसम्बन्धी लोककामनासे विरक्त होकर भिक्षासे निर्वाह करनेवाले मार्गसे विचरता है।' इसके बाद इन तीनों कामनाओंकी एकता करके कामनामात्रको त्याज्य बताया और अन्तमें कहा कि 'वह ब्राह्मण उस पाण्डित्यको भलीभाँति समझकर बाल्यभावसे स्थित रहनेकी इच्छा करे, फिर उससे भी उपरत होकर मुनि हो जाय, फिर वह मौन और अमौन—दोनोंसे उपरत होकर ब्राह्मण हो जाता है अर्थात् ब्रह्मको भलीभाँति प्राप्त हो जाता है' इत्यादि (बृह० उ० ३। ५। १)।

इस प्रकरणमें संन्यास-आश्रममें परमात्माकी प्राप्तिका वर्णन किया गया। इस वर्णनमें पाण्डित्य और बाल्यभावके अन्तमें तो 'तिष्ठासेत्' (स्थित रहनेकी इच्छा करे) यह विधिवाक्य है; परन्तु मुनि शब्दके बाद कोई विधि नहीं है, इसलिये सूत्रकारका कहना है कि जिस प्रकार अन्यत्र कहे हुए वचनोंमें स्पष्ट विधिका प्रयोग न होनेपर सहकारीभावसे एकके लिये प्रयुक्त विधिवाक्य दूसरेके लिये भी मान लिये जाते हैं, वैसे ही यहाँ भी पाण्डित्य और बाल्यभाव इन दो सहकारी साधनोंसे युक्त साधकके प्रति उनके साथ कहे

हुए इस तीसरे साधन मुनिभावके लिये भी विधिवाक्यका प्रयोग पक्षान्तरसे समझ लेना चाहिये ।

ध्यान रहे कि इस प्रकरणमें आये हुए बाल्यभावसे तो दम्भ, मान आदि विकारोंका अभाव दिखाया गया है और मननशीलताको मौन कहा गया है । अतः ब्रह्मका शास्त्रीय ज्ञान (पाण्डित्य), उक्त विकारोंका अभाव (बाल्यभाव) और निरन्तर मनन तथा निदिध्यासन (मौन)—इन तीनोंकी परिपक्व-अवस्था होनेसे ही ब्रह्मसाक्षात्कार होता है, यही इस प्रकरणका भाव है ।

सम्बन्ध—पूर्व सूत्रमें जिस प्रकरणपर विचार किया गया है, वह संन्यास-आश्रमका द्योतक है; अतः यह जिज्ञासा होती है कि संन्यास-आश्रममें ही ब्रह्मविद्याका साधन हो सकता है या अन्य आश्रमोंमें भी उसका अधिकार है ? यदि संन्यास-आश्रममें ही उसका साधन हो सकता है तो (छा० उ० ८ । १५ । १) की श्रुतिमें गृहस्थ-आश्रमके साथ-साथ ब्रह्मविद्याका प्रकरण क्यों समाप्त किया गया है ? वहाँके वर्णनसे तो गृहस्थका ही अधिकार स्पष्टरूपसे सूचित होता है, अतः इसका निर्णय करनेके लिये कहते हैं—

कृत्स्नभावात्तु गृहिणोपसंहारः ॥ ३ । ४ । ४८ ॥

कृत्स्नभावात्=गृहस्थ-आश्रममें सम्पूर्ण आश्रमोंका भाव है, इसलिये; **तु**=ही; **गृहिणा**=(उस प्रकरणमें) गृहस्थ-आश्रमके साथ; **उपसंहारः**=ब्रह्मविद्याके प्रकरणका उपसंहार किया गया है ।

*व्याख्या—*गृहस्थ-आश्रममें चारों आश्रमोंका भाव है; क्योंकि ब्रह्मचारी भी गृहस्थाश्रममें स्थित गुरुके पास ही ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करता है, वानप्रस्थ और संन्यासीका भी मूल गृहस्थ ही है । इस प्रकार चारों आश्रमोंका गृहस्थमें अन्तर्भाव है और ब्रह्मविद्याका अधिकार सभी आश्रमोंमें है, यह भी श्रुतिका अभिप्राय है, इसलिये वहाँ उस प्रकरणका गृहस्थके वर्णनके साथ-साथ उपसंहार किया गया है तथा पूर्वप्रकरणमें जो संन्यास-आश्रमका संकेत है, वह साधनोंकी सुगमताको लक्ष्य करके कहा गया है; क्योंकि किसी भी आश्रममें स्थित साधकको ब्रह्मज्ञानसम्पादनके लिये पुत्रैषणा आदि सभी प्रकारकी कामनाओं तथा राग-द्वेषादि विकारोंका सर्वथा नाश करके मननशील तो होना ही पड़ेगा । दूसरे आश्रमोंमें विघ्नोंकी अधिकता है और संन्यास-आश्रममें स्वभावसे ही उनका अभाव

है। इस सुगमताको दृष्टिमें रखकर वैसा कहा गया है, न कि अन्य आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याके अधिकारका निषेध करनेके लिये।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे पुनः सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार सिद्ध किया जाता है—

मौनवदितरेषामप्युपदेशात् ॥ ३ । ४ । ४९ ॥

इतरेषाम्=अन्य आश्रमवालोंके लिये; **अपि**=भी; **मौनवत्**=मननशीलताकी भाँति; **उपदेशात्**=(विद्योपयोगी सभी साधनोंका) उपदेश होनेके कारण (सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार सिद्ध होता है)।

व्याख्या—जिस प्रकार पूर्व प्रकरणमें मननशीलता (मौन) रूप साधनका सबके लिये विधान बताया गया है, इसी प्रकार श्रुतिमें अन्य आश्रमवालोंके लिये भी विद्योपयोगी सभी साधनोंका उपदेश दिया गया है। जैसे—'इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताकी महिमाको जाननेवाला शान्त (मनको वशमें करनेवाला मननशील), दान्त (इन्द्रिय-समुदायको वशमें करनेवाला), उपरत (भोगोंसे सम्बन्धरहित), तितिक्षु (सुख-दुःखसे विचलित न होनेवाला) और समाहित (ध्यानस्थ) होकर अपने ही भीतर उस सबके आत्मस्वरूप परमात्माका साक्षात्कार करता है।' (बृह० उ० ४ । ४ । २३)। ऐसी ही बात दूसरे प्रकरणोंमें भी कही है। इससे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्याका अधिकार सभी आश्रमोंमें है।

सम्बन्ध—सैंतालीसवें सूत्रके प्रकरणमें जो बाल्यभावसे स्थित होनेकी बात कही गयी थी, उसमें बालकके कौन-से भावोंका ग्रहण है, यह स्पष्ट करनेके लिये कहते हैं—

अनाविष्कुर्वन्नन्वयात् ॥ ३ । ४ । ५० ॥

अनाविष्कुर्वन्=अपने गुणोंको प्रकट न करता हुआ बालककी भाँति दम्भ और अभिमानसे रहित होवे; **अन्वयात्**=क्योंकि ऐसे भावोंका ही ब्रह्मविद्यासे सम्बन्ध है।

व्याख्या—बालकमें मान, दम्भ तथा राग-द्वेष आदि विकारोंका अभाव है; अतः उसीकी भाँति उन विकारोंसे रहित होना ही यहाँ बाल्य-भाव है। अपवित्र-भक्षण, आचारहीनता, अशौच और स्वेच्छाचारिता आदि निषिद्ध भावोंको ग्रहण करना यहाँ अभीष्ट नहीं है। विद्याके सहकारी साधनरूपसे श्रुतिमें बाल्यभावका

उल्लेख हुआ है । अतः उसके उपयोगी भाव ही लिये जा सकते हैं, विरोधी भाव नहीं । इससे श्रुतिका यही भाव मालूम होता है कि ब्रह्मविद्याका साधक बालककी भाँति दम्भ, अभिमान तथा राग-द्वेष आदिसे रहित होकर विचरे ।

सम्बन्ध—यहाँतक यह निश्चय किया गया कि सभी आश्रमोंमें ब्रह्मविद्याका अधिकार है । अब यह जिज्ञासा होती है कि शास्त्रोंमें जो ब्रह्मविद्याका फल जन्म-मृत्यु आदि दुःखोंसे छूटना और परमात्माको प्राप्त हो जाना बताया गया है, वह इसी जन्ममें प्राप्त हो जाता है या जन्मान्तरमें ? इसपर कहते हैं—

ऐहिकमप्यप्रस्तुतप्रतिबन्धे तद्दर्शनात् ॥ ३ । ४ । ५१ ॥

अप्रस्तुतप्रतिबन्धे=किसी प्रकारका प्रतिबन्ध उपस्थित न होनेपर; **ऐहिकम्**=इसी जन्ममें वह फल प्राप्त हो सकता है; **अपि**= (प्रतिबन्ध होनेपर) जन्मान्तरमें भी हो सकता है; **तद्दर्शनात्**=क्योंकि यही बात श्रुतियों और स्मृतियोंमें देखी जाती है ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि गर्भमें स्थित वामदेव ऋषिको ब्रह्मभावकी प्राप्ति हो गयी थी । (ऐ० उ० २ । ५) भगवद्गीतामें कहा है कि 'न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति ।' 'कल्याणमय कर्म अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिके लिये साधन करनेवालेकी कभी दुर्गति नहीं होती ।' (६ । ४०) । 'किन्तु वह दूसरे जन्ममें पूर्वजन्म-सम्बन्धी शरीरद्वारा प्राप्त की हुई बुद्धिसे युक्त हो जाता है और पुनः परमात्माकी प्राप्तिके साधनमें लग जाता है ।'* (गीता ६ । ४३) इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियोंके प्रमाणोंको देखनेसे यही सिद्ध होता है कि यदि किसी प्रकारका कोई प्रतिबन्ध उपस्थित नहीं होता, तब तो इसी जन्ममें उसको मुक्ति-रूप फलकी प्राप्ति हो जाती है और यदि कोई विघ्न पड़ जाता है तो जन्मान्तरमें वह फल मिलता है । तथापि यह निश्चय है कि किया हुआ अभ्यास व्यर्थ नहीं जाता ।

सम्बन्ध—उपर्युक्त ब्रह्मविद्याका मुक्तिरूप फल किसी प्रकारका प्रतिबन्ध न रहनेके कारण जिस साधकको इसी जन्ममें मिलता है, उसे यहाँ मृत्युलोकमें ही मिल जाता है या लोकान्तरमें जाकर मिलता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

---

* तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् । यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

**एवं मुक्तिफलानियमस्तदवस्थावधृतेस्तद-
वस्थावधृतेः ॥ ३ । ४ । ५२ ॥**

एवम्=इसी तरह; **मुक्तिफलानियमः**=किसी एक लोकमें ही मुक्तिरूप फल प्राप्त होनेका नियम नहीं है; **तदवस्थावधृतेः**=क्योंकि उसकी अवस्था निश्चित की गयी है; **तदवस्थावधृतेः**=उसकी अवस्था निश्चित की गयी है। (इस कथनकी पुनरावृत्ति अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।)

व्याख्या—ब्रह्मविद्यासे मिलनेवाले मुक्तिरूप फलके विषयमें जिस प्रकार यह नियम नहीं है कि 'वह इसी जन्ममें मिलता है या जन्मान्तरमें ।' उसी प्रकार उसके विषयमें यह भी नियम नहीं है कि वह इस लोकमें मिलता है या ब्रह्मलोकमें ? क्योंकि 'जब इसके हृदयमें स्थित समस्त कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वह साधक अमृत हो जाता है और यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है।' (क० उ० २ । ३ । १४) इत्यादि वचनोंद्वारा श्रुतिमें मुक्तावस्थाका स्वरूप निश्चित किया गया है । अतः जिसको वह स्थिति शरीरके रहते-रहते प्राप्त हो जाती है, वह तो यहीं परमात्माको प्राप्त हो जाता है और जिसकी वैसी अवस्था यहाँ नहीं होती, वह ब्रह्मलोकमें जाकर परमात्माको प्राप्त होता है ।

चौथा पाद सम्पूर्ण ।

*श्रीवेदव्यासरचित वेदान्त-दर्शन (ब्रह्मसूत्र) का
तीसरा अध्याय पूरा हुआ ।*

श्रीपरमात्मने नमः

चौथा अध्याय

पहला पाद

तीसरे अध्यायमें परमात्माकी प्राप्तिके भिन्न-भिन्न साधनोंको बतलानेवाली श्रुतियोंपर विचार किया गया; अब उन उपासनाओंके फलविषयक श्रुतियोंपर विचार करनेके लिये फलाध्यायनामक चौथा अध्याय आरम्भ किया जाता है।

यहाँपर यह जिज्ञासा होती है कि पूर्वोक्त उपासनाएँ गुरुद्वारा अध्ययन कर लेनेमात्रसे ही अपना फल देनेमें समर्थ हैं या उनके साधनोंका बार-बार अभ्यास करना चाहिये? इसपर कहते हैं—

आवृत्तिरसकृदुपदेशात् ॥ ४ । १ । १ ॥

आवृत्तिः=अध्ययन की हुई उपासनाका आवर्तन (बार-बार अभ्यास) करना चाहिये; **असकृदुपदेशात्**=क्योंकि श्रुतिमें अनेक बार इसके लिये उपदेश किया गया है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है—'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।'—'वह परमात्मा ही दर्शन करने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और ध्यान करने योग्य है।' (बृह० उ० ४ । ५ । ६)। 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः।' अर्थात् 'विशुद्ध अन्तःकरणवाला साधक उस अवयवरहित परमेश्वरको निरन्तर ध्यान करता हुआ ज्ञानकी निर्मलतासे देखता है।' (मु० उ० ३ । १ । ८)। 'उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्तन्ति धीराः।'—'जो कामनारहित साधक उस परम-पुरुषकी उपासना करते हैं, वे इस रजोवीर्यमय शरीरको अतिक्रमण कर जाते हैं।' (मु० उ० ३ । २ । १) इस प्रकार जगह-जगह ब्रह्मविद्यारूप उपासनाका अभ्यास करनेके लिये बार-बार उपदेश दिया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्यसे भलीभाँति ब्रह्मविद्याका अध्ययन करके उसपर बार-बार विचार करते हुए उस परमात्मामें संलग्न होना चाहिये।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे इसी बातको सिद्ध करते हैं—

लिङ्गाच्च ॥ ४ । १ । २ ॥

लिङ्गात्=स्मृतिके वर्णनरूप लिङ्ग (प्रमाण) से; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—भगवद्गीतामें जगह-जगह यह बात कही है कि 'सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर'—'सब कालमें मेरा स्मरण कर।' (गीता ८ । ७) । 'परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।' 'बार-बार चिन्तन करता हुआ साधक परम पुरुषको प्राप्त होता है।' (गीता ८ । ८) । 'जो सदा अनन्यचित्त होकर मुझे नित्य स्मरण करता है, उस नित्ययुक्त योगीके लिये मैं सुलभ हूँ।'* (गीता ८ । १४) 'मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।'—'मुझमें मन लगाकर नित्य योगयुक्त होकर जो मेरी उपासना करते हैं।' (गीता १२ । २) इसी प्रकार दूसरी स्मृतियोंमें भी कहा है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मविद्याका निरन्तर अभ्यास करते रहना चाहिये।

सम्बन्ध—उस परम प्राप्य परब्रह्मका किस भावसे निरन्तर चिन्तन करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

आत्मेति तूपगच्छन्ति ग्राहयन्ति च ॥ ४ । १ । ३ ॥

आत्मा=वह मेरा आत्मा है; **इति**=इस भावसे; **तु**=ही; **उपगच्छन्ति**=ज्ञानीजन उसे जानते या प्राप्त करते हैं; **च**=और; **ग्राहयन्ति**=ऐसा ही ग्रहण कराते या समझाते हैं।

व्याख्या—'यह आत्मा ब्रह्म है, यह आत्मा चार पादवाला है' इत्यादि (मा० उ० २) 'सबका अन्तर्वर्ती यह तेरा आत्मा है।' (बृह० उ० ३ । ४ । १) 'यह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' (बृह० उ० ३ । ७ । ३) इसी प्रकार उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे बार-बार कहा है कि 'वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है।' (छा० उ० ६ । ८ से १६ वें खण्ड-तक) 'जो आत्मामें स्थित हुआ आत्माका अन्तर्यामी है, जिसको आत्मा नहीं जानता, जिसका आत्मा शरीर है, वह तेरा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।' (बृह० उ०

---

* अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः॥

३ । ७ । २२) । इस प्रकार श्रुतिमें उस परब्रह्म परमात्माको अपना अन्तर्यामी आत्मा मानकर उपासना करनेका विधान आता है तथा भगवद्गीतामें भी भगवान्‌ने अपनेको सबका अन्तर्यामी बताया है (गीता १८ । ६१) । दूसरी श्रुतिमें भी उस ब्रह्मको हृदयरूप गुहामें निहित बताकर उसे जाननेवाले विद्वान्‌की महिमाका वर्णन किया गया है । (तै० उ० २ । १) इसलिये साधकको उचित है कि वह परमेश्वरको अपना अन्तर्यामी आत्मा समझकर उसी भावसे उसकी उपासना करे ।

सम्बन्ध—क्या प्रतीकोपासनामें भी ऐसी ही भावना करनी चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

न प्रतीके न हि सः ॥ ४ । १ । ४ ॥

प्रतीके=प्रतीकमें; **न**=आत्मभाव नहीं करना चाहिये; **हि**=क्योंकि; **सः**=वह; **न**=उपासकका आत्मा नहीं है ।

व्याख्या—'मन ही ब्रह्म है, इस प्रकार उपासना करे ।' (छा० उ० ३ । १८ । १) 'आकाश ब्रह्म है, ऐसी उपासना करे ।' (छा० उ० ३ । १८ । १) 'आदित्य ब्रह्म है, यह आदेश है ।' (छा० उ० ३ । १९ । १) इस प्रकार जो भिन्न-भिन्न पदार्थोंमें ब्रह्मरूपसे उपासना करनेका कथन है, वही प्रतीकोपासना है । वहाँ प्रतीकमें आत्मभाव नहीं करना चाहिये; क्योंकि वह उपासकका अन्तरात्मा नहीं है । जैसे मूर्ति आदिमें भगवान्‌की भावना करके उपासना की जाती है, उसी प्रकार मन आदि प्रतीकमें भी उपासना करनेका विधान है । भाव यह है कि पूर्वोक्त मन, आकाश, आदित्य आदिको प्रतीक बनाकर उनमें भगवान्‌के उद्देश्यसे की हुई जो उपासना है, उसे परम दयालु पुरुषोत्तम परमात्मा अपनी ही उपासना मानकर ग्रहण करते हैं और उपासकको उसकी भावनाके अनुसार फल भी देते हैं; इसीलिये वैसी उपासनाका भी विधान किया गया है । परन्तु प्रतीकको अपना अन्तर्यामी आत्मा नहीं माना जा सकता ।

सम्बन्ध—प्रतीकोपासना करनेवालेको प्रतीकमें ब्रह्मभाव करना चाहिये या ब्रह्ममें उस प्रतीकका भाव करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षात् ॥ ४ । १ । ५ ॥

उत्कर्षात्=ब्रह्म ही सर्वश्रेष्ठ है, इसलिये; **ब्रह्मदृष्टिः**=प्रतीकमें ब्रह्मदृष्टि करनी चाहिये (क्योंकि निकृष्ट वस्तुमें ही उत्कृष्टकी भावना की जाती है)।

व्याख्या—जब किसी देवताकी प्रत्यक्ष उपासना करनेका साधन सुलभ नहीं हो, तब सुविधापूर्वक उपलब्ध हुई साधारण वस्तुमें उस देवताकी भावना करके उपासना की जाती है, देवतामें उस वस्तुकी भावना नहीं की जाती है; क्योंकि वैसा करनेका कोई उपयोग ही नहीं है। उसी प्रकार जो साधक उस परब्रह्म परमात्माके तत्त्वको नहीं समझ सकता, उसके लिये प्रतीकोपासनाका विधान किया गया है, अतः उसे चाहिये कि इन्द्रिय आदिसे प्रत्यक्ष अनुभवमें आनेवाले प्राण, मन, सूर्य, चन्द्रमा आदि किसी भी पदार्थको उस परब्रह्म परमात्माका प्रतीक बनाकर उसमें ब्रह्मकी भावना करके उपासना करें; क्योंकि परब्रह्म परमात्मा ही सर्वश्रेष्ठ है और निकृष्टमें ही श्रेष्ठकी भावना की जाती है, श्रेष्ठमें निकृष्टकी नहीं। इस प्रकार प्रतीकमें ब्रह्मभाव करके उपासना करनेसे वह परब्रह्म परमात्मा उस उपासनाको अपनी ही उपासना मानते हैं।

सम्बन्ध—अब कर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिके विषयमें कहते हैं—

आदित्यादिमतयश्चाङ्ग उपपत्तेः ॥ ४ । १ । ६ ॥

च=तथा; **अङ्गे**=कर्माङ्गभूत उद्गीथ आदिमें; **आदित्यादिमतयः**=आदित्य आदिकी बुद्धि करनी चाहिये; **उपपत्तेः**=क्योंकि ऐसा करनेसे कर्मसमृद्धिरूप फलकी सिद्धि होती है।

व्याख्या—कर्मके अङ्गभूत उद्गीथ आदिमें जो आदित्य आदिकी भावनापूर्वक उपासना करनेका विधान किया गया है (छा० उ० १ । ३ । १ तथा २ । २ । १) वह अवश्य कर्तव्य है; क्योंकि ऐसा करनेसे कर्म-समृद्धिरूप फलकी सिद्धि होती है। आत्मभाव करनेका ऐसा कोई फल नहीं दिखायी देता, अतः उसका निषेध किया गया है। इसलिये यही सिद्ध होता है कि कनिष्ठ वस्तुमें श्रेष्ठकी भावनाका नाम प्रतीक-उपासना है।

सम्बन्ध—यह जिज्ञासा होती है कि साधकको किसी आसनपर बैठकर उपासना करनी चाहिये या चलते-फिरते प्रत्येक परिस्थितिमें वह उपासना कर सकता है ? इसपर कहते हैं—

आसीनः सम्भवात् ॥ ४ । १ । ७ ॥

आसीनः=बैठे हुए ही (उपासना करनी चाहिये); **सम्भवात्**=क्योंकि बैठकर ही निर्विघ्न उपासना करना सम्भव है ।

व्याख्या—परब्रह्म परमेश्वरका जैसा रूप सुनने और विचार करनेपर समझमें आया है, उसका बार-बार तैलधाराकी भाँति निरन्तर चिन्तन करते रहनेका नाम उपासना है । यह उपासना चलते-फिरते या अन्य शरीरसम्बन्धी काम करते समय नहीं हो सकती; क्योंकि उस समय चित्त विक्षिप्त रहता है तथा सोते हुए करनेमें भी निद्रारूप विघ्नका आना स्वाभाविक है; अतः केवल बैठकर करनेसे ही निर्विघ्न उपासना हो सकती है । इसलिये उपासनाका अभ्यास बैठकर ही करना चाहिये । भगवान् श्रीकृष्णने भी कहा है कि 'उपविश्यासने युञ्ज्याद् योगमात्मविशुद्धये ।' अर्थात् 'आसनपर बैठकर अन्तः-करणकी शुद्धिके लिये योगका अभ्यास करे ।' (गीता ६ । १२) ।

सम्बन्ध—उसी बातको दृढ़ करनेके लिये दूसरा हेतु उपस्थित करते हैं—

ध्यानाच्च ॥ ४ । १ । ८ ॥

ध्यानात्=उपासनाका स्वरूप ध्यान है, इसलिये; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि बैठकर उपासना करनी चाहिये) ।

व्याख्या—अपने इष्टदेवका ध्यान ही उपासनाका स्वरूप है (मु० उ० ३ । १ । ८) और चित्तकी एकाग्रताका नाम ध्यान है । अतएव यह बैठकर ही किया जा सकता है, चलते-फिरते या सोकर नहीं किया जा सकता ।

सम्बन्ध—पुनः उसी बातको दृढ़ करते हैं—

अचलत्वं चापेक्ष्य ॥ ४ । १ । ९ ॥

च=तथा श्रुतिमें; **अचलत्वम्**=शरीरकी निश्चलताको; **अपेक्ष्य**=रखते हुए ध्यान करनेका उपदेश है ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥

'ब्रह्मकी प्राप्तिके लिये ध्यानका अभ्यास करनेवालेको चाहिये कि सिर, ग्रीवा और छाती—इन तीनोंको उठाये हुए, शरीरको सीधा और स्थिर करके समस्त

इन्द्रियोंको मनके द्वारा हृदयमें निरुद्ध करके ॐकाररूप नौकाद्वारा समस्त भय-दायक जन्मान्तररूप स्रोतोंसे तर जाय ।' (श्वेता० उ० २ । ८) । इस श्रुतिसे यह स्पष्ट हो जाता है कि उपासनाके लिये शरीरकी भी अचलता आवश्यक है, इसलिये भी उपासना बैठकर ही की जानी चाहिये ।

सम्बन्ध—उसी बातको स्मृतिप्रमाणसे दृढ़ करते हैं—

स्मरन्ति च ॥ ४ । १ । १० ॥

च=तथा; **स्मरन्ति**=ऐसा ही स्मरण करते हैं ।

व्याख्या—स्मृतिमें भी यही बात कही गयी है—

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः ।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः ।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥

'काया, शिर और ग्रीवाको सम और अचल धारण किये हुए स्थिर होकर, अपनी नासिकाके अग्रभागपर दृष्टि लगाकर, अन्य दिशाओंको न देखता हुआ निर्भय होकर, भलीभाँति विक्षेपरहित, शान्तचित्त एवं ब्रह्मचर्यव्रतमें स्थित रहते हुए मनको वशमें करके, मुझमें चित्त लगाये हुए, मुझे ही अपना परम प्राप्य मानकर साधन करनेके लिये बैठे ।' (गीता ६ । १३-१४) । इस प्रकार स्मृति-प्रमाणसे भी यही सिद्ध होता है कि परम प्राप्य परमात्माके निरन्तर चिन्तनरूप ध्यानका अभ्यास बैठकर ही करना चाहिये ।

सम्बन्ध—उक्त साधन कैसे स्थानमें बैठकर करना चाहिये ? इस जिज्ञासा-पर कहते हैं—

यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात् ॥ ४ । १ । ११ ॥

अविशेषात्=किसी विशेष स्थान या दिशाका विधान न होनेके कारण (यही सिद्ध होता है कि); **यत्र**=जहाँ; **एकाग्रता**=चित्तकी एकाग्रता (सुगमतासे हो सके); **तत्र**=वहीं (बैठकर ध्यानका अभ्यास करे) ।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि—

समे शुचौ शर्करावह्निवालुका-
विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
मनोऽनुकूले न तु चक्षुपीडने
गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥

'जो सब प्रकारसे शुद्ध, समतल, कंकड़, अग्नि और बालूसे रहित तथा शब्द, जल और आश्रयकी दृष्टिसे मनके अनुकूल हो, जहाँ आँखोंको पीड़ा पहुँचानेवाला दृश्य न हो और वायुका झोंका भी न लगता हो ऐसे गुहा आदि स्थानमें बैठकर परमात्माके ध्यानका अभ्यास करना चाहिये ।' (श्वेता० उ० २ । १०) इस प्रकार किसी विशेष दिशा या स्थानका निर्देश न होने तथा मनके अनुकूल देशमें अभ्यास करनेके लिये श्रुतिकी आज्ञा प्राप्त होनेके कारण यही सिद्ध होता है कि जहाँ सरलतासे मनकी एकाग्रता हो सके, ऐसा कोई भी पवित्र स्थान उपासनाके लिये उपयोगी हो सकता है । अतः जो अधिक प्रयास किये बिना प्राप्त हो सके, ऐसे निर्विघ्न और अनुकूल स्थानमें बैठकर ध्यानका अभ्यास करते रहना चाहिये ।

सम्बन्ध—इस प्रकार उपासनाका अभ्यास कबतक करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

आ प्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम् ॥ ४ । १ । १२ ॥

आ प्रायणात्=मरणपर्यन्त (उपासना करते रहना चाहिये); **हि**=क्योंकि; **तत्रापि**=मरणकालमें भी; **दृष्टम्**=उपासना करते रहनेका विधान देखा जाता है ।

*व्याख्या—*छान्दोग्योपनिषद्‌में प्रजापतिका यह वचन है कि—'स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसंपद्यते ।'—'वह इस प्रकार पूरी आयुतक उपासनामें तत्पर रहकर अन्तमें निःसन्देह ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है ।' (छा० उ० ८ । १५ । १) । प्रश्नोपनिषद्‌की बात है, सत्यकामने अपने गुरु पिप्पलादसे पूछा—'भगवन् ! मनुष्योंमेंसे जो मरणपर्यन्त ॐकारका ध्यान करता है, वह किस लोकको जीत लेता है ?' (प्र० उ० ५ । १) इसपर गुरुने ॐकारकी महिमा वर्णन करके (५ । २) दो मन्त्रोंमें इस लोक और स्वर्गलोककी प्राप्तिके उद्देश्यसे की जानेवाली उपासनाका फल बताया । (५ । ३-४) फिर अन्तमें कहा 'जो तीन मात्राओंवाले ॐ इस अक्षरके द्वारा इस (हृदयस्थ) परमपुरुष-

का निरन्तर ध्यान करता है, वह तेजोमय सूर्यलोकमें पहुँचता है तथा जिस प्रकार सर्प केंचुलीका त्याग कर देता है, ठीक उसी प्रकार, वह पापोंसे मुक्त होकर, सामवेदकी श्रुतियोंके अभिमानी देवताओंद्वारा ऊपर ब्रह्मलोकमें ले जाया जाता है। वहाँ वह इस जीवघनरूप हिरण्यगर्भसे अत्यन्त श्रेष्ठ तथा सबके हृदयमें शयन करनेवाले परमपुरुषका साक्षात्कार करता है।' (प्र० उ० ५।५)। इस प्रकार मृत्युपर्यन्त निरन्तर उपासना करते रहनेका श्रुतिमें विधान होनेके कारण यही मानना उचित है कि आजीवन नित्य-निरन्तर उपासना करते रहना चाहिये। जिसको जीवनकालमें ही उस परमपुरुषका साक्षात्कार हो जाता है, उसका तो उस परमेश्वरसे कभी वियोग होता ही नहीं है, वह तो स्वभावसे ही उसमें संयुक्त हो जाता है। तथापि वह जो मरणपर्यन्त निरन्तर उपासना करता रहता है, वह उसके अन्य कर्मोंकी भाँति लोकसंग्रहके लिये है। परन्तु साधकके लिये तो मृत्युपर्यन्त उपासना परम आवश्यक है। अन्यथा योगभ्रष्ट हो जानेपर पुनर्जन्म अनिवार्य हो जाता है (गीता ६ । ३७ से ४०)। इसीलिये भगवान्‌ने मरण-पर्यन्त साधन करते रहनेके लिये जगह-जगह कहा है (गीता २ ।७२; ७ । ३०; ८ । ५; ८ । ८, ९, १०, १२, १३ इत्यादि)।

सम्बन्ध—यहाँतक उपासनाविषयक वर्णनकी समाप्ति करके अब परमात्माकी प्राप्तिके लिये किये जानेवाले साधनोंके फलके सम्बन्धमें विचार आरम्भ किया जाता है। यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि जिसको जीवनकालमें ही परमात्मा-की प्राप्ति हो जाती है, उसके पूर्वार्जित तथा भावी पुण्य-पापरूप कर्मोंका क्या होता है? इसपर कहते हैं—

तदधिगम उत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशौ तद्व्य-पदेशात्॥ ४ । १ । १३ ॥

तदधिगमे=उस परब्रह्म परमात्माके प्राप्त हो जानेपर; **उत्तरपूर्वाघयोः**=आगे होनेवाले और पहलेके किये हुए पापोंका; **अश्लेषविनाशौ**=क्रमशः असम्पर्क एवं नाश होता है; **तद्व्यपदेशात्**=क्योंकि श्रुतिमें यही बात जगह-जगह कही गयी है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि 'यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एव-मेवंविदि पापं कर्म न लिप्यते।' अर्थात् 'जिस प्रकार कमलके पत्तेमें जल नहीं

सटता है, उसी प्रकार पूर्वोक्त परमात्माको जाननेवाले महापुरुषमें पापकर्म लिप्त नहीं होते हैं।' (छा० उ० ४ । १४ । ३)। इस प्रकार श्रुतिके द्वारा ज्ञानोत्तरकालमें होनेवाले पापकर्मोंसे ज्ञानीका अलिप्त रहना कहा गया है तथा यह दृष्टान्त भी दिया गया है, 'जिस प्रकार सरकंडेकी सींकके अग्रभागमें रहनेवाली तुला अग्निमें गिरायी जानेपर तत्काल भस्म हो जाती है, इसी प्रकार इस ज्ञानीके समस्त पाप निःसन्देह भस्म हो जाते हैं।' (छा० उ० ५ । २४ । ३)। मुण्डक (२ । २ । ८) और गीता (४ । ३७) में भी ऐसा ही कहा गया है । इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियोंमें ब्रह्मज्ञानके बाद लोकसंग्रहके लिये की जानेवाली व्यावहारिक चेष्टामें होनेवाले आनुषंगिक पापोंका उसके साथ सम्बन्ध न होना और पूर्वकृत पापोंका सर्वथा नष्ट हो जाना बताया जानेके कारण यही निश्चय होता है कि परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके बाद उस सिद्ध पुरुषके पूर्वकृत पापोंका सर्वथा नाश हो जाता है और आगे होनेवाले पापोंसे उसका कभी सम्पर्क नहीं होता ।

सम्बन्ध—भगवत्प्राप्त पुरुषके पुण्यकर्मोंका क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

इतरस्याप्येवमसंश्लेषः पाते तु ॥ ४ । १ । १४ ॥

इतरस्य=पुण्यकर्मसमुदायका; **अपि**=भी; **एवम्**=इसी प्रकार; **असंश्लेषः**=सम्बन्ध न होना और नाश हो जाना समझना चाहिये; **पाते तु**=देहपात होनेपर तो वह परमात्माको प्राप्त हो ही जाता है ।

व्याख्या—'यह पुण्य और पाप इन दोनोंसे ही निःसन्देह तर जाता है ।' (बृह० उ० ४ । ४ । २२) इस प्रकार श्रुतिमें कहा जानेके कारण यही सिद्ध होता है कि पाप-कर्मकी भाँति ही पूर्वकृत और आगे होनेवाले पुण्यकर्मोंसे भी जीवन्मुक्त अवस्थामें उस ज्ञानीका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, वह समस्त कर्मोंसे सर्वथा अतीत हो जाता है । देहपातके बाद तो प्रारब्धका भी क्षय हो जानेसे वह परमात्माको प्राप्त हो ही जाता है ।

सम्बन्ध—यदि ज्ञानीके पूर्वकृत और आगे होनेवाले सभी पुण्य-पाप नष्ट हो जाते हैं और उनसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता है, तो उसका शरीर कैसे टिका रहता है ? क्योंकि शरीरकी स्थिति तो कर्मफल-भोगके लिये ही

है। यदि ज्ञान होनेके बाद शरीर न रहे तो ज्ञानका उपदेशक न रहनेके कारण सम्प्रदायपरम्परा नष्ट हो जायगी? इसपर कहते हैं—

अनारब्धकार्ये एव तु पूर्वे तदवधेः ॥ ४ । १ । १५ ॥

तु=किन्तु; **अनारब्धकार्ये**=जिनका फलभोगरूप कार्य आरम्भ नहीं हुआ है, ऐसे; **पूर्वे**=पूर्वकृत पुण्य और पाप; **एव**=ही नष्ट होते हैं; **तदवधेः**=क्योंकि श्रुतिमें प्रारब्ध कर्म रहनेतक शरीरके रहनेकी अवधि निर्धारित की गयी है।

व्याख्या—पूर्वसूत्रोंमें श्रुति-प्रमाणसे जो पूर्वकृत पुण्यकर्म और पापकर्मोंका नाश बताया गया है, वह केवल उन्हीं कर्मोंका होता है जो कि अपना फल देनेके लिये तैयार नहीं हुए थे, सञ्चित-अवस्थामें ही एकत्र हो रहे थे। जिन प्रारब्ध कर्मोंका फल भोगनेके लिये उस विद्वान्‌को शरीर मिला है, उनका नाश नहीं बताया गया है; क्योंकि 'तस्य तावदेवं चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ संपत्स्ये।' 'उसका तभीतक विलम्ब है, जबतक प्रारब्धका नाश होकर देहपात नहीं हो जाता। उसके बाद वह परमात्मामें विलीन हो जाता है।' (छा० उ० ६। १४। २)। इस प्रकार श्रुतिमें प्रारब्धक्षयपर्यन्त ज्ञानीके शरीरकी स्थिति बतायी गयी है।

सम्बन्ध—जब ज्ञानीका कर्मोंसे कोई सम्बन्ध ही नहीं रहता, तब उसके लिये श्रुतिमें आजीवन अग्निहोत्रादि आश्रम-सम्बन्धी कर्मोंका विधान कैसे किया गया? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात् ॥ ४ । १ । १६ ॥

अग्निहोत्रादि=आश्रमोपयोगी अग्निहोत्र आदि विहित कर्मोंके अनुष्ठानका विधान; **तु**=तो; **तत्कार्याय**=उन-उन विहित कर्मोंकी रक्षा करनेके लिये; **एव**=ही है; **तद्दर्शनात्**=यही श्रुतियों और स्मृतियोंमें देखा गया है।

व्याख्या—ज्ञानी महापुरुषोंके लिये जो श्रुतिमें विधान किये हुए अपने आश्रम-सम्बन्धी अग्निहोत्रादि कर्म जीवनपर्यन्त करनेकी बात कही गयी है, (ब्र० सू० ३। ४। ३२) वह कथन उन कर्मोंकी रक्षाके उद्देश्यसे ही है। अर्थात् साधारण जनता उसकी देखा-देखी कर्मोंका त्याग करके भ्रष्ट न हो; अपि तु अपने-अपने कर्मोंमें श्रद्धापूर्वक लगी रहे, इस प्रकार लोकसंग्रहके लिये वैसा कहा गया है, अन्य किसी उद्देश्यसे नहीं। यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंमें भी देखी जाती है। श्रुतिमें तो जनक, अश्वपति, याज्ञवल्क्य आदि ज्ञानी महापुरुषोंके

दृष्टान्तसे लोकसंग्रहके लिये कर्म करनेका विधान सिद्ध किया गया है और श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान्‌ने स्वयं कहा है कि 'हे पार्थ ! मेरे लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, मुझे तीनों लोकोंमें किसी भी अप्राप्त वस्तुकी प्राप्ति नहीं करनी है, तो भी मैं कर्मोंमें संलग्न रहता हूँ; क्योंकि यदि मैं कभी सावधानीके साथ कर्म न करूँ तो ये सब लोग मेरा अनुकरण करके नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं उनके नाशमें निमित्त बनूँ।' इत्यादि (३ । २२ से २४)। तथा यह भी कहा है कि 'विद्वान् पुरुष कर्मासक्त अज्ञानी मनुष्योंकी बुद्धिमें भेद उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं उन्हींकी भाँति कर्म करता हुआ उनको कर्मोंमें लगाये रक्खे।' (३ । २५)। 'यज्ञरक्षाके लिये किये जानेवाले कर्मोंसे भिन्न कर्मोंद्वारा ही यह मनुष्य बन्धनमें पड़ता है।' इत्यादि (३ । ९)। इस प्रकार श्रुति और स्मृतिप्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि विद्वान्‌के लिये कर्म करनेका कथन केवल लोकसंग्रहके लिये है।

सम्बन्ध—आश्रमके लिये विहित कर्मोंके सिवा, अन्य कर्म उनके द्वारा किये जाते हैं या नहीं ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अतोऽन्यापि ह्येकेषामुभयोः ॥ ४ । १ । १७ ॥

अतः=इनसे; **अन्यापि**=भिन्न क्रिया भी; **उभयोः**=ज्ञानी और साधक दोनोंके लिये; **हि**=ही; **एकेषाम्**=किसी एक शाखावालोंके मतमें विहित है।

*व्याख्या—*श्रुतिमें कहा है, 'आजीवन शास्त्रविहित कर्मोंको करते हुए ही इस लोकमें सौ वर्षतक जीनेकी इच्छा करे।' इत्यादि (ईशा० २) 'तथा जो कर्म और ज्ञान—इन दोनोंको साथ-साथ जानता है, वह कर्मोंद्वारा मृत्युसे तरकर ज्ञानसे अमृतको प्राप्त होता है।' (ईशा० ११) इस प्रकार किसी-किसी शाखावालोंके मतमें ज्ञानी और साधक दोनोंके लिये ही इन आश्रम-सम्बन्धी कर्मोंके सिवा अन्य सभी विहित कर्मोंका अनुष्ठान आजीवन करते रहनेका विधान है। अतः ज्ञानी लोकसंग्रहके लिये प्रत्येक शुभ कर्मका अनुष्ठान कर्तापनके अहंकारसे रहित तथा कर्मासक्ति और फलासक्तिसे सर्वथा अतीत हुआ कर सकता है; क्योंकि ज्ञानोत्तरकालमें किये जानेवाले किसी भी कर्मसे उसका लेप नहीं होता। (गीता ४ । २२; १८ । १७)।

सम्बन्ध—क्या विद्या और कर्मके समुच्चयका भी श्रुतिमें विधान है ? इसपर कहते हैं—

यदेव विद्ययेति हि ॥ ४ । १ । १८ ॥

यत्=जो; **एव**=भी; **विद्यया**=विद्याके सहित (किया जाता है); **इति**=इस प्रकार कथन करनेवाली श्रुति है; **हि**=इसलिये (विद्या कर्मोंका अङ्ग किसी जगह हो सकती है)।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा है कि 'जो कर्म विद्या, श्रद्धा और रहस्यज्ञानके सहित किया जाता है, वह अधिक सामर्थ्यसम्पन्न हो जाता है।' (छा० उ० १ । १ । १०) यह श्रुति कर्मोंके अङ्गभूत उद्गीथ आदिकी उपासनाके प्रकरणकी है, इसलिये इसका सम्बन्ध वैसी ही उपासनाओंसे है। तथा यह विद्या भी ब्रह्मविद्या नहीं है। अतः ज्ञानीसे या परमात्माकी प्राप्तिके लिये अभ्यास करनेवाले अन्य उपासकोंसे इस श्रुतिका सम्बन्ध नहीं है। इसलिये यह सिद्ध होता है कि उस प्रकारकी उपासनामें कही हुई विद्या ही उन कर्मोंका अङ्ग हो सकती है, ब्रह्मविद्या नहीं।

सम्बन्ध—ज्ञानीके प्रारब्ध-कर्मोंका नाश कैसे होता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

भोगेन त्वितरे क्षपयित्वा संपद्यते ॥ ४ । १ । १९ ॥

इतरे=सञ्चित और क्रियमाणके सिवा दूसरे प्रारब्धरूप शुभाशुभ कर्मोंको; **तु**=तो; **भोगेन**=उपभोगके द्वारा; **क्षपयित्वा**=क्षीण करके; **संपद्यते**=(वह ज्ञानी) परमात्माको प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या—ऊपर कहा जा चुका है कि विद्वान्‌के पूर्वकृत सञ्चित कर्म तो भस्म हो जाते हैं और क्रियमाण कर्मोंसे उसका सम्बन्ध नहीं होता; शेष रहे शुभाशुभ प्रारब्ध कर्म, उन दोनोंका उपभोगके द्वारा नाश करके ज्ञानी पुरुष परम पदको प्राप्त हो जाता है, यह बात श्रुतिमें कही गयी है (छा० उ० ६ । १४ । २)।

पहला पाद सम्पूर्ण।

दूसरा पाद

पहले पादमें उपासनाविषयक निर्णय करके जिन जीवन्मुक्त महापुरुषोंका ब्रह्मलोकादिमें गमन नहीं होता, उनको किस प्रकार परमात्माकी प्राप्ति होती है, इस विषयपर विचार किया गया। अब इस दूसरे पादमें, जो ब्रह्मविद्याके उपासक ब्रह्मलोकमें जाते हैं, उनकी गतिका प्रकार बताया जाता है। साधारण मनुष्यों-की और ब्रह्मविद्याके उपासककी गतिमें कहाँतक समानता है, यह स्पष्ट करनेके लिये पहले साधारण गतिके वर्णनसे प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

वाङ्मनसि दर्शनाच्छब्दाच्च ॥ ४ । २ । १ ॥

वाक्=वाणी; **मनसि**=मनमें स्थित हो जाती है; **दर्शनात्**=प्रत्यक्ष देखनेसे; **च**=और; **शब्दात्**=वेद-वाणीसे भी यह बात सिद्ध होती है।

व्याख्या—श्रुतिमें यह कहा गया है कि—'अस्य सोम्य पुरुषस्य प्रयतो वाङ्मनसि संपद्यते मनः प्राणे प्राणस्तेजसि तेजः परस्यां देवतायाम्।' 'इस मनुष्यके मरकर एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जाते समय वाणी मनमें स्थित होती है, मन प्राणमें और प्राण तेजमें तथा तेज परदेवतामें स्थित होता है।' (छा० उ० ६।८।६) इस वाक्यमें जो वाणीका मनमें स्थित होना कहा गया है, वह वाक्-इन्द्रियका ही स्थित होना है, केवल उसकी वृत्तिमात्रका नहीं; क्योंकि यह प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मरणासन्न मनुष्यमें मन विद्यमान रहते हुए ही वाक्-इन्द्रिय-का कार्य बंद हो जाता है तथा श्रुतिमें तो स्पष्ट शब्दोंमें यह बात कही ही है।

सम्बन्ध—'वाणी मनमें स्थित हो जाती है', यह कहनेके बाद वहाँ अन्य इन्द्रियोंके विषयमें कुछ नहीं कहा गया। केवल मनकी प्राणमें स्थिति बतायी गयी, अतः अन्य इन्द्रियोंके विषयमें क्या समझना चाहिये? इसपर कहते हैं—

अत एव च सर्वाण्यनु ॥ ४ । २ । २ ॥

अत एव=इसीसे; **च**=यह भी (समझ लेना चाहिये कि); **अनु**=उनके साथ-साथ; **सर्वाणि**=समस्त इन्द्रियाँ (मनमें स्थित हो जाती हैं)।

व्याख्या—प्रश्नोपनिषद्में कहा है कि—'तस्मादुपशान्ततेजाः पुनर्भव-मिन्द्रियैर्मनसि सम्पद्यमानैः।' 'अर्थात् जिसके शरीरकी गरमी शान्त हो चुकी है,

ऐसा जीवात्मा मनमें स्थित हुई इन्द्रियोंके सहित पुनर्जन्मको प्राप्त होता है।' (प्र० उ० ३ । ९) इस प्रकार श्रुतिमें किसी एक इन्द्रियका मनमें स्थित होना न कहकर समस्त इन्द्रियोंकी मनमें स्थिति बतायी गयी है तथा सभी इन्द्रियोंके कर्मोंका बंद होना प्रत्यक्ष भी देखा जाता है। अतः पूर्वोक्त दोनों प्रमाणोंसे ही यह भी सिद्ध हो जाता है कि वाक्-इन्द्रियके साथ-साथ अन्य इन्द्रियाँ भी मनमें स्थित हो जाती हैं।

सम्बन्ध—उसके बाद क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तन्मनः प्राण उत्तरात् ॥ ४ । २ । ३ ॥

उत्तरात्=उसके बादके कथनसे (यह स्पष्ट है कि); **तत्**=वह (इन्द्रियोंके सहित); **मनः**=मन; **प्राणे**=प्राणमें (स्थित हो जाता है)।

*व्याख्या—*पूर्वोक्त श्रुतिमें जो दूसरा वाक्य है, 'मनः प्राणे' (छा० उ० ६ । ८ । ६) उससे यह भी स्पष्ट है कि वह मन इन्द्रियोंके साथ ही प्राणमें स्थित हो जाता है।

सम्बन्ध—उसके बाद क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्यः ॥ ४ । २ । ४ ॥

तदुपगमादिभ्यः=उस जीवात्माके गमन आदिके वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि; **सः**=वह प्राण, मन और इन्द्रियोंके साथ; **अध्यक्षे**=अपने स्वामी जीवात्मामें (स्थित हो जाता है)।

*व्याख्या—*बृहदारण्यकमें कहा है कि 'उस समय यह आत्मा नेत्रसे या ब्रह्मरन्ध्रसे अथवा शरीरके अन्य किसी मार्गद्वारा शरीरसे बाहर निकलता है, उसके निकलनेपर उसीके साथ प्राण भी निकलता है और प्राणके निकलनेपर उसके साथ सब इन्द्रियाँ निकलती हैं।' (बृह० उ० ४ । ४ । २)। श्रुतिके इस गमनविषयक वाक्यसे यह सिद्ध हो जाता है कि इन्द्रिय और मनसहित प्राण अपने स्वामी जीवात्मामें स्थित होता है। यद्यपि पूर्व श्रुतिमें प्राणका तेजमें स्थित होना कहा है, किन्तु बिना जीवात्माके केवल प्राण और मनसहित इन्द्रियोंका गमन सम्भव नहीं; इसलिये दूसरी श्रुतिमें कहे हुए जीवात्माको भी यहाँ सम्मिलित कर लेना उचित है।

सम्बन्ध—उसके बाद क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

भूतेषु तच्छ्रुतेः ॥ ४ । २ । ५ ॥

तच्छ्रुतेः=तद्विषयक श्रुति-प्रमाणसे यह सिद्ध होता है कि; **भूतेषु**=(प्राण और मन-इन्द्रियोंसहित जीवात्मा) पाँचों सूक्ष्म भूतोंमें (स्थित होता है) ।

व्याख्या—पूर्वश्रुतिमें जो यह कहा है कि प्राण तेजमें स्थित होता है, उससे यह सिद्ध होता है कि जीवात्मा, मन और समस्त इन्द्रियाँ—ये सब-के-सब सूक्ष्मभूत-समुदायमें स्थित होते हैं, क्योंकि सभी सूक्ष्मभूत तेजके साथ मिले हुए हैं । अतः तेजके नामसे समस्त सूक्ष्मभूत-समुदायका ही कथन है ।

सम्बन्ध—पूर्व श्रुतिमें प्राणका केवल तेजमें ही स्थित होना कहा गया है, अतः यदि सब भूतोंमें स्थित होना न मानकर एक तेजस्तत्त्वमें ही स्थित होना मान लिया जाय तो क्या हानि है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

नैकस्मिन्दर्शयतो हि ॥ ४ । २ । ६ ॥

एकस्मिन्=एक तेजस्तत्त्वमें स्थित होना; **न**=नहीं माना जा सकता; **हि**=क्योंकि; **दर्शयतः**=श्रुति और स्मृति दोनों जीवात्माका पाँचों भूतोंसे युक्त होना दिखलाती हैं ।

व्याख्या—इस बातका निर्णय पहले (ब्रह्मसूत्र ३ । १ । २ में) कर दिया गया है कि एक जल या एक तेजके कथनसे पाँचों तत्त्वोंका ग्रहण है; क्योंकि उस प्रकरणमें पृथिवी, जल और तेज—इन तीन तत्त्वोंकी उत्पत्तिका वर्णन करके तीनोंका मिश्रण करनेकी बात कही है । अतः जिस तत्त्वकी प्रधानता है, उसीके नामसे वहाँ वे तीनों तत्त्व पुकारे गये हैं; इससे, शरीर पाञ्चभौतिक है, यह बात प्रत्यक्ष दिखायी देनेसे तथा श्रुतिमें भी पृथिवीमय, आपोमय, वायुमय, आकाशमय और तेजोमय (बृह० उ० ४ । ४ । ५)—इन विशेषणोंका जीवात्माके साथ प्रयोग देखा जानेसे भी यही सिद्ध होता है कि प्राण और मन-इन्द्रिय आदिके सहित जीवात्मा एकमात्र तेजस्तत्त्वमें स्थित नहीं होता; अपि तु शरीरके बीजभूत पाँचों भूतोंके सूक्ष्म स्वरूपमें स्थित होता है । वही इसका सूक्ष्म शरीर है, जो कि कठोपनिषद्में रथके नामसे कहा गया है (क० उ० १ । ३ । ३) । इसके सिवा स्मृतिमें भी कहा है—

अण्व्यो मात्रा विनाशिन्यो दशार्धानां तु याः स्मृताः ।
ताभिः सार्धमिदं सर्वं संभवत्यनुपूर्वशः ॥ (मनु० १ । २७)

'पाँचों भूतोंकी जो विनाशशील पाँच सूक्ष्म तन्मात्राएँ (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द) कही गयी हैं, उनके साथ यह सम्पूर्ण जगत् क्रमशः उत्पन्न होता है ।'

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि मरणकालकी गतिका जो वर्णन किया गया है, यह साधारण मनुष्योंके विषयमें है या ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले तत्त्ववेत्ताओंके विषयमें ? इसपर कहते हैं—

समाना चासृत्युपक्रमादमृतत्वं चानुपोष्य ॥ ४ । २ । ७ ॥

आसृत्युपक्रमात्=देवयानमार्गद्वारा ब्रह्मलोकमें जानेका क्रम आरम्भ होनेतक; **समाना**=दोनोंकी गति समान; **च**=ही है; **च**=क्योंकि; **अनुपोष्य**=सूक्ष्म शरीरको सुरक्षित रखकर ही; **अमृतत्वम्**=ब्रह्मलोकमें अमृतत्व लाभ करना ब्रह्मविद्याका फल बताया गया है ।

व्याख्या—वाणी मनमें स्थित होती है, यहाँसे लेकर प्राण, मन और इन्द्रियों-सहित जो जीवात्माके सूक्ष्म भूतसमुदायमें स्थित होनेतकका यानी स्थूल-शरीरसे निकलकर ब्रह्मलोकमें जानेका जो मार्ग बताया गया है, उसका आरम्भ होनेसे पहले साधारण मनुष्योंकी और ब्रह्मलोकमें जानेवाले ज्ञानी पुरुषकी गति एक समान ही बतायी गयी है; क्योंकि सूक्ष्म शरीरके सुरक्षित रहते हुए ही इस लोकसे ब्रह्म-लोकमें जाना होता है और वहाँ जाकर उसे अमृतस्वरूपकी प्राप्ति होती है। इसीलिये अलग-अलग वर्णन नहीं किया गया है ।

सम्बन्ध—उस प्रकरणके अन्तमें जो यह कहा गया है कि मन, इन्द्रियाँ और जीवात्माके सहित वह तेज परमदेवतामें स्थित होता है तो यह स्थित होना कैसा है; क्योंकि प्रकरण साधारण मनुष्योंका है, सभी समान भावसे परमदेव परमात्माको प्राप्त हो जायँ, यह सम्भव नहीं ! इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तदापीतेः संसारव्यपदेशात् ॥ ४ । २ । ८ ॥

संसारव्यपदेशात्=साधारण जीवोंका मरनेके बाद बार-बार जन्म ग्रहण करनेका कथन होनेके कारण (यही सिद्ध होता है कि); **तत्**=उनका वह सूक्ष्म

शरीर; **आ अपीतेः**=मुक्तावस्था प्राप्त होनेतक रहता है, इसलिये नूतन स्थूल शरीर प्राप्त होनेके पहले-पहले उनका परमात्मामें स्थित रहना प्रलयकालकी भाँति है।

व्याख्या—उस प्रकरणमें जो एक शरीरसे दूसरे शरीरमें जानेवालेको परम-देवतामें स्थित होना कहा गया है, वह प्रलयकालकी भाँति कर्म-संस्कार और सूक्ष्म शरीरके सहित अज्ञानपूर्वक स्थित होना है। अतः वह परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति नहीं है; किन्तु समस्त जगत् जिस प्रकार उस परम कारण परमात्मामें ही स्थित रहता है, उसी प्रकार स्थित होना है। यह स्थिति उस जीवात्माको जबतक अपने कर्मफल-उपभोगके उपयुक्त कोई दूसरा शरीर नहीं मिलता, तब तक रहती है; क्योंकि उसके पुनर्जन्मका श्रुतिमें कथन है (क० उ० २।२।७)। इसलिये जबतक उसे मुक्ति प्राप्त नहीं होती, तबतक उसका सूक्ष्म शरीरसे सम्बन्ध रहता है; अतः वह मुक्त पुरुषकी भाँति परमात्मामें विलीन नहीं होता।

सम्बन्ध—उस प्रकरणमें तो जीवात्माका सबके सहित आकाशादि भूतोंमें स्थित होना बताया गया है, वहाँ यह नहीं कहा गया कि वह सूक्ष्मभूत-समुदायमें स्थित होता है; अतः उसे स्पष्ट करते हैं—

सूक्ष्मं प्रमाणतश्च तथोपलब्धेः ॥ ४ । २ । ९ ॥

प्रमाणतः=वेद-प्रमाणसे; **च**=और; **तथोपलब्धेः**=वैसी उपलब्धि होनेसे भी (यही सिद्ध होता है कि); **सूक्ष्मम्**=(जिसमें जीवात्मा स्थित होता है वह) भूतसमुदाय सूक्ष्म है।

व्याख्या—मरणकालमें जिस आकाशादि भूतसमुदायमें सबके सहित जीवात्माका स्थित होना कहा गया है, वह भूतसमुदाय सूक्ष्म है, स्थूल नहीं है—यह बात श्रुतिके प्रमाणसे तो (सिद्ध है ही) प्रत्यक्ष उपलब्धिसे भी सिद्ध होती है; क्योंकि श्रुतिमें जहाँ परलोक-गमनका वर्णन किया गया है, वहाँ कहा है—

शतं चैका हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ॥

'इस जीवात्माके हृदयमें एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमेंसे एक कपालकी ओर निकली हुई है, इसीको सुषुम्णा कहते हैं, उसके द्वारा ऊपर जाकर मनुष्य अमृतभावको प्राप्त होता है, दूसरी नाडियाँ मरणकालमें नाना योनियोंमें ले

जानेवाली होती हैं।' (छा० उ० ८ । ६ । ६) इसमें जो नाडीद्वारा निकलकर जानेकी बात कही है, यह सूक्ष्म भूतोंमें स्थित जीवात्माके लिये ही सम्भव है; तथा मरणकालमें समीपवर्ती मनुष्योंको उसका निकलना नेत्रेन्द्रिय आदिसे दिखलायी नहीं देता। इससे भी उन भूतोंका सूक्ष्म होना प्रत्यक्ष है। इस प्रकार श्रुति-प्रमाण और प्रत्यक्ष प्रमाणसे भी उस भूतसमुदायका सूक्ष्म होना सिद्ध होता है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे उसी बातको सिद्ध करते हैं—

नोपमर्देनातः ॥ ४ । २ । १० ॥

अतः=वह भूतसमुदाय सूक्ष्म होता है, इसीलिये; **उपमर्देन**=इस स्थूल-शरीरका दाह आदिके द्वारा नाश कर देनेसे; **न**=उसका नाश नहीं होता।

व्याख्या—मरणकालमें जीवात्मा जिस आकाशादि भूत-समुदायरूप शरीरमें स्थित होता है, वह सूक्ष्म है; इसीलिये इस स्थूल शरीरका दाह आदिके द्वारा नाश कर देनेसे भी उस सूक्ष्म शरीरका कुछ नहीं बिगड़ता। जीवात्मा सूक्ष्म शरीरके साथ इस स्थूल शरीरसे निकल जाता है, इसीलिये इस स्थूल शरीरका दाह-संस्कार करनेपर भी जीवात्माको किसी प्रकारके कष्टका अनुभव नहीं होता।

सम्बन्ध—उपर्युक्त कथनकी ही पुष्टि करते हुए कहते हैं—

अस्यैव चोपपत्तेरेष ऊष्मा ॥ ४ । २ । ११ ॥

एषः=यह; **ऊष्मा**=गरमी (जो कि जीवित शरीरमें अनुभूत होती है); **अस्य एव**=इस सूक्ष्म शरीरकी ही है; **उपपत्तेः**=युक्तिसे; **च**=भी (यह बात सिद्ध होती है; क्योंकि सूक्ष्म शरीरके निकल जानेपर स्थूल शरीर गरम नहीं रहता)।

व्याख्या—सूक्ष्म शरीरसहित जीवात्मा जब इस स्थूल शरीरसे निकल जाता है, उसके बाद इसमें गरमी नहीं रहती, स्थूल शरीरके रूप आदि लक्षण वैसे-के-वैसे रहते हुए ही वह ठंडा हो जाता है। इस युक्तिसे भी यह बात समझी जा सकती है कि जीवित शरीरमें जिस गरमीका अनुभव होता है, वह इस सूक्ष्म शरीरकी ही है। अतएव इसके निकल जानेपर वह नहीं रहती।

सम्बन्ध—जिनके समस्त संकल्प यहीं नष्ट हो चुके हैं, जिनके मनमें किसी प्रकारकी वासना शेष नहीं रही, जिनको इसी शरीरमें परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति

हो गयी है, उनका ब्रह्मलोकमें गमन होना सम्भव नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें उनके गमनका निषेध है । इस बातको दृढ़ करनेके लिये पूर्वपक्ष उपस्थित करके उसका उत्तर दिया जाता है—

प्रतिषेधादिति चेन्न शारीरात् ॥ ४ । २ । १२ ॥

चेत्=यदि कहो; **प्रतिषेधात्**=प्रतिषेध होनेके कारण (उसका गमन नहीं होता); **इति न**=तो यह ठीक नहीं; **शारीरात्**=क्योंकि उस प्रतिषेध-वचनके द्वारा जीवात्मासे प्राणोंको अलग होनेका निषेध किया गया है ।

व्याख्या—पूर्वपक्षकी ओरसे कहा जाता है कि 'जो कामनारहित, निष्काम, पूर्णकाम और केवल परमात्माको ही चाहनेवाला है, उसके प्राण उत्क्रमण नहीं करते ।' (बृह० उ० ४ । ४ । ६) । इस श्रुतिमें कामनारहित महापुरुषकी गतिका अभाव बताया जानेके कारण यह सिद्ध होता है कि उसका ब्रह्मलोकमें गमन नहीं होता, किन्तु यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि उक्त श्रुतिमें जीवात्मासे प्राणोंके अलग होनेका निषेध है, न कि शरीरसे । अतः इससे गमनका निषेध सिद्ध नहीं होता, अपितु जीवात्मा प्राणोंके सहित ब्रह्मलोकमें जाता है, इसी बातकी पुष्टि होती है ।

सम्बन्ध—इसके उत्तरमें सिद्धान्ती कहते हैं—

स्पष्टो ह्येकेषाम् ॥ ४ । २ । १३ ॥

एकेषाम्=एक शाखावालोंकी श्रुतिमें; **स्पष्टः**=स्पष्ट ही शरीरसे प्राणोंके उत्क्रमण न होनेकी बात कही है; **हि**=इसलिये (यही सिद्ध होता है कि उसका गमन नहीं होता) ।

व्याख्या—एक शाखाकी श्रुतिमें स्पष्ट ही यह बात कही गयी है कि 'न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति'—'उस आप्तकाम महापुरुषके प्राण उत्क्रमण नहीं करते, यहीं विलीन हो जाते हैं; वह ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है ।' (नृसिंहो० ५) इसके सिवा, बृहदारण्यकोपनिषद्के अगले मन्त्रमें यह भी कहा है कि 'अत्र ब्रह्म समश्नुते'—'वह यहीं ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ।' (बृह० उ० ४ । ४ । ७) । दूसरी श्रुतिमें यह भी बताया गया है कि—

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र ।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥

'यह जीवात्मा समस्त प्राण, पाँचों भूत तथा अन्तःकरण और इन्द्रियोंके

सहित जिसमें प्रतिष्ठित है, उस परम अविनाशी परमात्माको जो जान लेता है, हे सोम्य! वह सर्वज्ञ महापुरुष उस सर्वरूप परमात्मामें प्रविष्ट हो जाता है।' (प्र० उ० ४ । ११)।

इन सब श्रुतिप्रमाणोंसे यही सिद्ध होता है कि उस महापुरुषका लोकान्तर-में गमन नहीं होता । तथा जीवात्मासे प्राणोंके उत्क्रमणके निषेधकी यहाँ आवश्यकता भी नहीं है; इसलिये उस श्रुतिके द्वारा जीवात्मासे प्राणोंके अलग होनेका निषेध मानना असङ्गत है ।

सम्बन्ध—स्मृति-प्रमाणसे उसी बातको दृढ़ करते हैं—

स्मर्यते च ॥ ४ । २ । १४ ॥

च=तथा; **स्मर्यते**=स्मृतिसे भी (यही सिद्ध होता है)।

व्याख्या—'जिसका मोह सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसा स्थितप्रज्ञ ब्रह्मवेत्ता ब्रह्ममें स्थित रहता हुआ न तो प्रियको पाकर हर्षित होता है और न अप्रियको पाकर उद्विग्न ही होता है।' * (गीता ५ । २०)। 'जिनके पाप सर्वथा नष्ट हो चुके हैं, जो सब प्राणियोंके हितमें संलग्न हैं तथा जिनके समस्त संशय नष्ट हो चुके हैं; ऐसे विजितात्मा महापुरुष शान्त ब्रह्मको प्राप्त हैं।' † (गीता ५। २५)। 'उनके सब ओर ब्रह्म ही वर्तता है।' ‡ (गीता ५।२६)। इस प्रकार स्मृतिमें जगह-जगह उन महापुरुषोंका जीवनकालमें ही ब्रह्मको प्राप्त होना कहा गया है तथा जहाँ गमनका प्रकरण आया है, वहाँ शरीरसे समस्त सूक्ष्म तत्त्वोंको साथ लेकर ही गमन करनेकी बात कही है (१५ । ७)। इसलिये भी यही सिद्ध होता है कि जिन महापुरुषोंको जीवनकालमें ही परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है, उनका किसी भी परलोकमें गमन नहीं होता है ।

सम्बन्ध— जो महात्मा जीवनकालमें परमात्माको प्राप्त हो चुके हैं, वे यदि परलोकमें नहीं जाते तो शरीरनाशके समय कहाँ रहते हैं? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तानि परे तथा ह्याह ॥ ४ । २ । १५ ॥

---

* न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद् ब्रह्मणि स्थितः ॥

† लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ॥

‡ अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ॥

तानि=वे प्राण, अन्तःकरण, पाँच सूक्ष्मभूत तथा इन्द्रियाँ सब-के-सब; **परे**=उस परब्रह्ममें (विलीन हो जाते हैं); **हि**=क्योंकि; **तथा**=ऐसा ही; **आह**=श्रुति कहती है ।

व्याख्या—जो महापुरुष जीवनकालमें ही परमात्माको प्राप्त हो जाता है, वह एक प्रकारसे निरन्तर उस परब्रह्म परमात्मामें ही स्थित रहता है; उससे कभी अलग नहीं होता तो भी लोकदृष्टिसे शरीरमें रहता है, अतः जब प्रारब्ध पूरा होनेपर शरीरका नाश हो जाता है, उस समय वह शरीर, अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि सब कलाओंके सहित उस परमात्मामें ही विलीन हो जाता है । श्रुतिमें भी यही कहा है—'उस महापुरुषका जब देहपात होता है, उस समय पंद्रह कलाएँ और मनसहित समस्त इन्द्रियोंके देवता —ये सब अपने-अपने अभिमानी देवताओंमें स्थित हो जाते हैं, उनके साथ जीवन्मुक्तका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसके बाद विज्ञानमय जीवात्मा, उसके समस्त कर्म और उपर्युक्त सब देवता—ये सब-के-सब परब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं ।' (मु० उ० ३ । २ । ७) ।

सम्बन्ध—शरीरसम्बन्धी सब तत्त्वोंके सहित वह महापुरुष उस परमात्मामें किस प्रकार स्थित होता है ? ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं—

अविभागो वचनात् ॥ ४ । २ । १६ ॥

वचनात्=श्रुतिके कथनसे (यह माळूम होता है कि); **अविभागः**=विभाग नहीं रहता ।

व्याख्या—मरणकालमें साधारण मनुष्योंका जीवात्माके सहित उस परमदेवमें स्थित होना कहा गया है तथा अपने-अपने कर्मानुसार भिन्न-भिन्न योनियोंमें कर्मफलका उपभोग करनेके लिये वहाँसे उनका जाना भी बताया गया है (क० उ० २ । ५ । ७) । इसलिये प्रलयकी भाँति परमात्मामें स्थित होकर भी वे उनसे विभक्त ही रहते हैं; किंतु यह ब्रह्मज्ञानी महापुरुष तो सब तत्त्वोंके सहित यहीं परमात्मामें लीन होता है; अतः विभागरहित होकर अपने परम कारणभूत ब्रह्ममें मिल जाता है । श्रुति भी ऐसा ही वर्णन करती है—'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ अपना-अपना नाम-रूप छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूपसे रहित होकर उत्तम-से-उत्तम दिव्य परमपुरुष परमात्माको प्राप्त हो जाता है ।' * (मु० उ० ३ । २ । ८)

* यह मन्त्र पृष्ठ ४७में अर्थसहित आ गया है ।

सम्बन्ध—ब्रह्मलोकमें जानेवालोंकी गतिका प्रकार बतानेके उद्देश्यसे प्रकरण आरम्भ करके सातवें सूत्रमें यह सिद्ध किया गया कि मृत्युकालमें प्राण, मन और इन्द्रियोंके सहित जीवात्मा स्थूल शरीरसे निकलते समय सूक्ष्म पाँच भूतोंके समुदायरूप सूक्ष्म शरीरमें स्थित होता है। यहाँतक तो साधारण मनुष्यके समान ही विद्वान्‌की भी गति है। उसके बाद आठवें सूत्रमें यह निर्णय किया गया कि साधारण मनुष्य तो सबके कारणरूप परमेश्वरमें प्रलयकालकी भाँति स्थित होकर परमात्माके विधानानुसार कर्मफलभोगके लिये दूसरे शरीरमें चले जाते हैं, किन्तु ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मलोकमें जाता है। फिर प्रसङ्गवश नवेंसे ग्यारहवें सूत्रतक सूक्ष्म शरीरकी सिद्धि की गयी और बारहवेंसे सोलहवेंतक, जिन महापुरुषोंको जीवनकालमें ही ब्रह्मका साक्षात्कार हो जाता है, वे ब्रह्मलोकमें न जाकर यहीं ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं यह निर्णय किया गया; अब इस सत्रहवें सूत्रसे पुनः ब्रह्मलोकमें जानेवाले विद्वान्‌की गतिके विषयमें विचार आरम्भ करते हैं। सूक्ष्म शरीरमें स्थित होनेके अनन्तर वह विद्वान् किस प्रकार ब्रह्मलोकमें जाता है, यह बतानेके लिये अगला प्रकरण प्रस्तुत किया जाता है—

तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो विद्यासामर्थ्यात्तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगाच्च हार्दानुगृहीतः शताधिकया॥ ४। २। १७॥

(स्थूल शरीरसे निकलते समय) **तदोकोऽग्रज्वलनम्**=उस जीवात्माका निवासस्थान जो हृदय है, उसके अग्रभागमें प्रकाश हो जाता है; **तत्प्रकाशितद्वारः**=उस प्रकाशसे जिसके निकलनेका द्वार प्रकाशित हो गया है, ऐसा वह विद्वान्; **विद्यासामर्थ्यात्**=ब्रह्मविद्याके प्रभावसे; **च**=तथा; **तच्छेषगत्यनुस्मृतियोगात्**=उस विद्याका शेष अङ्ग जो ब्रह्मलोकमें गमन है, उस गमनविषयक संस्कारकी स्मृतिके योगसे; **हार्दानुगृहीतः**=हृदयस्थ परमेश्वरकी कृपासे अनुगृहीत हुआ; **शताधिकया**=एक-सौ नाडियोंसे अधिक जो एक (सुषुम्ना) नाडी है, उसके द्वारा (ब्रह्मरन्ध्रसे निकलता है)।

व्याख्या—श्रुतिमें मरणासन्न मनुष्यके समस्त इन्द्रिय, प्राण तथा अन्तःकरणके लिङ्गशरीरमें एक हो जानेकी बात कहकर हृदयके अग्रभागमें प्रकाश होनेका कथन आया है* (बृह० उ० ४। ४। २) तथा साधारण मनुष्य और

---

* **'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति।'**

'इसके उस हृदयका अग्रभाग प्रकाशित होने लगता है, उसीसे यह आत्मा निकलता है।'

ब्रह्मवेत्ताके निकलनेका रास्ता इस प्रकार भिन्न-भिन्न बताया है कि 'हृदयसे सम्बद्ध एक सौ एक नाडियाँ हैं, उनमेंसे एक मस्तककी ओर निकली है, उसके द्वारा ऊपरकी ओर जानेवाला विद्वान् अमृतत्वको प्राप्त होता है, शरीरसे जाते समय अन्य नाडियाँ इधर-उधरके मार्गसे नाना योनियोंमें ले जानेवाली होती हैं* (छा० उ० ८ । ६ । ६) । इन श्रुतिप्रमाणोंसे यही निश्चय होता है कि मरण-कालमें वह महापुरुष हृदयके अग्रभागमें होनेवाले प्रकाशसे प्रकाशित ब्रह्मरन्ध्रके मार्गसे इस स्थूल शरीरके बाहर निकलता है और ब्रह्मविद्याके प्रभावसे उसके फलरूप ब्रह्मलोककी प्राप्तिके संस्कारकी स्मृतिसे युक्त हो हृदयस्थित सर्वसुहृद् परब्रह्म परमेश्वरसे अनुगृहीत हुआ सूर्यकी रश्मियोंमें चला जाता है ।

सम्बन्ध—उसके बाद क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

रश्म्यनुसारी ॥ ४ । २ । १८ ॥

रश्म्यनुसारी=सूर्यकी रश्मियोंमें स्थित हो उन्हींका अवलम्बन करके (वह सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है) ।

व्याख्या—'इस स्थूल शरीरसे बाहर निकलकर वह जीवात्मा इन सूर्यकी रश्मियोंद्वारा ऊपर चढ़ता है, वहाँ 'ॐ' ऐसा कहता हुआ जितनी देरमें मन जाता है, उतने ही समयमें सूर्यलोकमें पहुँच जाता है, यह सूर्य ही विद्वानोंके लिये ब्रह्मलोकमें जानेका द्वार है, यह अविद्वानोंके लिये बंद रहता है, इसलिये वे नीचेके लोकोंमें जाते हैं ।'† (छा० उ० ८ । ६ । ५) । इस श्रुतिके कथनसे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मरन्ध्रके मार्गद्वारा स्थूल शरीरसे बाहर निकलकर ब्रह्मवेत्ता सूर्यकी रश्मियोंमें स्थित होकर उन्हींका आश्रय ले सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है; उसमें उसको विलम्ब नहीं होता ।

सम्बन्ध—रात्रिके समय तो सूर्यकी रश्मियाँ नहीं रहतीं, अतः यदि किसी ज्ञानीका देहपात रात्रिके समय हो तो उसका क्या होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

निशि नेति चेन्न सम्बन्धस्य यावद्देहभावित्वा-द्दर्शयति च ॥ ४ । २ । १९ ॥

* यह मन्त्र सूत्र ४ । २ । ९ की व्याख्यामें अर्थसहित आ गया है ।

† 'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्वमाक्रमते स ओमिति वा होद् वा मीयते स यावत् क्षिप्येन्मनस्तावदादित्यं गच्छत्येतद् वै खलु लोकद्वारं विदुषां प्रपदनं निरोधोऽविदुषाम् ।'

चेत्=यदि कहो कि; **निशि**=रात्रिमें; **न**=सूर्यकी रश्मियोंसे नाडीद्वारा उसका सम्बन्ध नहीं होता; **इति न**=तो यह कहना ठीक नहीं; (**हि**)=क्योंकि; **सम्बन्धस्य**=नाडी और सूर्य-रश्मियोंके सम्बन्धकी; **यावद्देहभावित्वात्**=जबतक शरीर रहता है, तबतक सत्ता बनी रहती है, इसलिये (दिन हो या रात, कभी भी नाडी और सूर्य-रश्मियोंका सम्बन्ध विच्छिन्न नहीं होता); **दर्शयति च**=यही बात श्रुति भी दिखाती है।

व्याख्या—यदि कोई ऐसा कहे कि रात्रिमें देहपात होनेपर नाडियोंसे सूर्य-किरणोंका सम्बन्ध नहीं होगा, इसलिये उस समय मृत्युको प्राप्त हुआ विद्वान् सूर्यलोक-मार्गसे गमन नहीं कर सकता, तो उसका यह कहना ठीक नहीं है; क्योंकि श्रुतिमें कहा है कि—'इस सूर्यकी ये रश्मियाँ इस लोकमें और उस सूर्यलोकमें—दोनों जगह गमन करती हैं, वे सूर्यमण्डलसे निकलती हुई शरीरकी नाडियोंमें व्याप्त हो रही हैं तथा नाडियोंसे निकलती हुई सूर्यमें फैली हुई हैं।' * (छा० उ० ८। ६। २)। इसलिये श्रुतिके इस कथनानुसार जबतक शरीर रहता है, तबतक हर जगह और हर समय सूर्यकी रश्मियाँ उसकी नाडियोंमें व्याप्त रहती हैं; अतः किसी समय भी देहपात होनेपर सूक्ष्म शरीरसहित जीवात्माका नाडियोंके द्वारा तत्काल सूर्यकी रश्मियोंसे सम्बन्ध होता है और वह विद्वान् सूर्यलोकके द्वारसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है।

सम्बन्ध—क्या दक्षिणायनकालमें मरनेपर भी विद्वान् ब्रह्मलोकमें चला जाता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

अतश्चायनेऽपि दक्षिणे ॥ ४। २। २० ॥

अतः=इस पूर्वमें कहे हुए कारणसे; **च**=ही; **दक्षिणे**=दक्षिण; **अयने**=अयनमें; **अपि**=(मरनेवालेका) भी (ब्रह्मलोकमें गमन हो जाता है)।

व्याख्या—पूर्वसूत्रके कथनानुसार जिस प्रकार रात्रिके समय सूर्यकी रश्मियोंसे सम्बन्ध हो जानेमें कोई बाधा नहीं होती, उसी प्रकार दक्षिणायनकालमें भी कोई बाधा न होनेसे वह विद्वान् सूर्यलोकके मार्गसे जा सकता है। इसलिये यही समझना चाहिये कि दक्षिणायनके समय शरीर छोड़कर जानेवाला महापुरुष भी ब्रह्मविद्याके प्रभावसे सूर्यलोकके द्वारसे तत्काल ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता है।

---

* एता आदित्यस्य रश्मय उभौ लोकौ गच्छन्तीमं चामुं चामुष्मादादित्यात् प्रतायन्ते ता आसु नाडीषु सृप्ता आभ्यो नाडीभ्यः प्रतायन्ते तेऽमुष्मिन्नादित्ये सृप्ताः।

भीष्म आदि महापुरुषोंके विषयमें जो उत्तरायणकालकी प्रतीक्षाका वर्णन आता है, उसका आशय यह हो सकता है कि भीष्मजी वसु देवता थे, उनको देवलोकमें जाना था और दक्षिणायनके समय देवलोकमें रात्रि रहती है। इसलिये वे कुछ दिनोंतक प्रतीक्षा करते रहे।

सम्बन्ध—यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि 'हे अर्जुन! जिस कालमें शरीर त्यागकर गये हुए योगीलोग पीछे न लौटनेवाली और पीछे लौटनेवाली गतिको प्राप्त होते हैं, वह काल मैं तुझे बतलाता हूँ' (गीता ८।२३)—इस प्रकार प्रकरण आरम्भ करके दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायण आदि कालको तो अपुनरावृत्तिकारक बताया गया है तथा रात्रि और दक्षिणायन आदिको पुनरावृत्तिका काल नियत किया गया है; फिर यहाँ कैसे कहा गया कि रात्रि और दक्षिणायनमें भी देहत्याग करनेवाला विद्वान् ब्रह्मलोकमें जा सकता है ? इसपर कहते हैं—

योगिनः प्रति च स्मर्यते स्मार्ते चैते ॥ ४ । २ । २१ ॥

च=इसके सिवा; **योगिनः**=योगीके; **प्रति**=लिये (यह कालविशेषका नियम); **स्मर्यते**=स्मृतिमें कहा जाता है; **च**=तथा; **एते**=वहाँ कहे हुए ये अपुनरावृत्ति और पुनरावृत्तिरूप दोनों मार्ग; **स्मार्ते**=स्मार्त हैं।

व्याख्या—गीतामें जिन दो गतियोंका वर्णन है, वे स्मार्त अर्थात् श्रुतिवर्णित मार्गसे भिन्न हैं। इसके सिवा वे योगीके लिये कहे गये हैं। इस प्रकार विषयका भेद होनेके कारण वहाँ आवृत्ति और अनावृत्तिके लिये नियत किये हुए कालविशेषसे इस श्रुतिनिरूपित गतिमें कोई विरोध नहीं आता। जो लोग गीताके श्लोकोंमें काल शब्दके प्रयोगसे दिन, रात, शुक्लपक्ष, कृष्णपक्ष, उत्तरायण, दक्षिणायन—इन शब्दोंको कालवाचक मानकर उनसे कालविशेषको ही ग्रहण करते हैं, उन्हींके लिये यह समाधान किया गया है; किन्तु यदि उन शब्दोंका अर्थ लोकान्तरमें पहुँचानेवाले उन-उन कालोंके अभिमानी देवता मान लिया जाय तो श्रुतिके वर्णनसे कोई विरोध नहीं है।

दूसरा पाद सम्पूर्ण।

तीसरा पाद

दूसरे पादमें यह बताया गया कि ब्रह्मलोकमें जानेके मार्गका आरम्भ होनेसे पूर्वतककी गति (वाणीका मनमें लय होना आदि) विद्वान् और अविद्वान् दोनोंके लिये एक समान है; फिर अविद्वान् कर्मानुसार संसारमें पुनः नूतन शरीर ग्रहण करता है और ज्ञानी महापुरुष ज्ञानसे प्रकाशित मोक्षनाडीद्वारका आश्रय ले सूर्यकी रश्मियोंद्वारा सूर्यलोकमें पहुँचकर वहाँसे ब्रह्मलोकमें चला जाता है। रात्रि और दक्षिणायन-कालमें भी विद्वान्‌की इस ऊर्ध्वगतिमें कोई बाधा नहीं आती; किन्तु ब्रह्मलोकमें जानेका जो मार्ग है, उसका वर्णन कहीं अर्चिमार्ग, कहीं उत्तरायणमार्ग और कहीं देवयानमार्गके नामसे किया गया है तथा इन मार्गोंके चिह्न भी भिन्न-भिन्न बताये गये हैं। इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि उपासना और अधिकारीके भेदसे ये मार्ग भिन्न-भिन्न हैं या एक ही मार्गके ये सभी नाम हैं? इसके सिवा, मार्गमें कहीं तो नाना देवताओंके लोकोंका वर्णन आता है, कहीं दिन, पक्ष, मास, अयन और संवत्सरका वर्णन आता है और कहीं केवल सूर्यरश्मियों तथा सूर्यलोकका ही वर्णन आता है; यह वर्णनका भेद एक मार्ग माननेसे किस प्रकार संगत होगा? अतः इस विषयका निर्णय करनेके लिये तीसरा पाद तथा अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है—

अर्चिरादिना तत्प्रथितेः ॥ ४ । ३ । १ ॥

अर्चिरादिना=अर्चिसे आरम्भ होनेवाले एक ही मार्गसे (ब्रह्मलोकको जाते हैं); **तत्प्रथितेः**=क्योंकि ब्रह्मज्ञानियोंके लिये यह एक ही मार्ग (विभिन्न नामोंसे) प्रसिद्ध है।

व्याख्या—श्रुतियोंमें ब्रह्मलोकमें जानेके लिये विभिन्न नामोंसे जिसका वर्णन किया गया है, वह एक ही मार्ग है, अनेक मार्ग नहीं हैं। उस मार्गका प्रसिद्ध नाम अर्चिः आदि है, क्योंकि वह अर्चिसे प्रारम्भ होनेवाला मार्ग है। इसीसे ब्रह्मलोकमें जानेवाले सब साधक जाते हैं। इसीका देवयान, उत्तरायणमार्ग आदि नामोंसे वर्णन आया है। तथा मार्गमें आनेवाले लोकोंका जो वर्णन आता है, वह कहीं कम है, कहीं अधिक है। उन स्थलोंमें जहाँ जिस लोकका वर्णन

नहीं किया गया है, वहाँ उसका अन्यत्रके वर्णनसे अध्याहार कर लेना चाहिये।

सम्बन्ध—एक जगह कहे हुए लोकोंका दूसरी जगह किस प्रकार अध्याहार करना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

वायुमब्दादविशेषविशेषाभ्याम् ॥ ४ । ३ । २ ॥

वायुम्=वायुलोकको; **अब्दात्**=संवत्सरके बाद (और सूर्यके पहले समझना चाहिये); **अविशेषविशेषाभ्याम्**=क्योंकि कहीं वायुका वर्णन समानभावसे है और कहीं विशेषभावसे है।

व्याख्या—एक श्रुति कहती है 'जो इस प्रकार ब्रह्मविद्याके रहस्यको जानते हैं तथा जो वनमें रहकर श्रद्धापूर्वक सत्यकी उपासना करते हैं, वे अर्चि (ज्योति, अग्नि अथवा सूर्यकिरण) को प्राप्त होते हैं, अर्चिसे दिनको, दिनसे शुक्लपक्षको, शुक्लपक्षसे उत्तरायणके छः महीनोंको, छः महीनोंसे संवत्सरको, संवत्सरसे सूर्यको, सूर्यसे चन्द्रमाको तथा चन्द्रमासे विद्युत्को। वहाँसे अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके पास पहुँचा देता है, यह देवयानमार्ग है।' (छा० उ० ५ । १० । १-२)।

दूसरी श्रुतिका कथन है—'जब यह मनुष्य इस लोकसे ब्रह्मलोकको जाता है, तब वह वायुको प्राप्त होता है, वायु उसके लिये रथ-चक्रके छिद्रकी भाँति रास्ता देता है। उस रास्तेसे वह ऊपर चढ़ता है, फिर वह सूर्यको प्राप्त होता है, वहाँ उसे सूर्य लम्बर नामके वाद्यमें रहनेवाले छिद्रके सदृश रास्ता दे देता है। उस रास्तेसे ऊपर उठकर वह चन्द्रमाको प्राप्त होता है, चन्द्रमा उसके लिये नगारेके छिद्रके सदृश रास्ता दे देता है। उस रास्तेसे ऊपर उठकर वह शोकरहित ब्रह्मलोकको प्राप्त हो जाता है, वहाँ अनन्तकालतक निवास करता है (उसके बाद ब्रह्ममें लीन हो जाता है)।' (बृह०उ० ५ । १० । १)।

तीसरी श्रुति कहती है—'वह इस देवयानमार्गको प्राप्त होकर अग्निलोकमें आता है, फिर वायुलोक, सूर्यलोक, वरुणलोक, इन्द्रलोक तथा प्रजापतिलोकमें होता हुआ ब्रह्मलोकमें पहुँच जाता है।' (कौ० उ० १ । ३)

इन वर्णनोंमें वायुलोकका वर्णन दो श्रुतियोंमें आया है। कौषीतकि-उपनिषद्में तो केवल लोकोंका नाममात्र कह दिया, विशेषरूपसे क्रमका स्पष्टीकरण नहीं किया; किन्तु बृहदारण्यकमें वायुलोकसे सूर्यलोकमें जानेका

उल्लेख स्पष्ट है । अतः छान्दोग्योपनिषद्की अर्चिसे आरम्भ करके मार्गका वर्णन करनेवाली श्रुतिमें अग्निके स्थानमें तो अर्चि कही है, परन्तु वहाँ वायुलोकका वर्णन नहीं है, इसलिये वायुलोकको संवत्सरके बाद और सूर्यके पहले मानना चाहिये ।

सम्बन्ध—वरुण, इन्द्र और प्रजापति लोकका भी अर्चि आदि मार्गमें वर्णन नहीं है, अतः उनको किसके बाद समझना चाहिये ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

तडितोऽधि वरुणः सम्बन्धात् ॥ ४ । ३ । ३ ॥

तडितः=विद्युत्से; **अधि**=ऊपर; **वरुणः**=वरुणलोक (समझना चाहिये); **सम्बन्धात्**=क्योंकि उन दोनोंका परस्पर सम्बन्ध है ।

व्याख्या—वरुण जलका स्वामी है, विद्युत्का जलसे निकटतम सम्बन्ध है, इसलिये विद्युत्के ऊपर वरुणलोककी स्थिति समझनी चाहिये । उसके बाद इन्द्र और प्रजापतिके लोकोंकी स्थिति भी उस श्रुतिमें कहे हुए क्रमानुसार समझ लेनी चाहिये । इस प्रकार सब श्रुतियोंकी एकता हो जायगी और एक मार्ग माननेमें किसी प्रकारका विरोध नहीं रहेगा ।

सम्बन्ध—अर्चिरादि मार्गमें जो अर्चि, अहः, पक्ष, अयन, संवत्सर, वायु और विद्युत् आदि बताये गये हैं, वे जड हैं या चेतन ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

आतिवाहिकास्तल्लिङ्गात् ॥ ४ । ३ । ४ ॥

आतिवाहिकाः=वे सब साधकको एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा देनेवाले उन-उन लोकोंके अभिमानी पुरुष हैं, क्योंकि श्रुतिमें; **तल्लिङ्गात्**=वैसा ही लक्षण देखा जाता है ।

व्याख्या—अर्चि, अहः आदि शब्दोंद्वारा कहे जानेवाले ये सब उन-उन नाम और लोकोंके अभिमानी देवता या मानवाकृति पुरुष हैं । इनका काम ब्रह्मलोकमें जानेवाले जीवको एक स्थानसे दूसरे स्थानतक पहुँचा देना है, इसीलिये इनको आतिवाहिक कहते हैं । विद्युल्लोकमें पहुँचनेपर अमानव पुरुष उस ज्ञानीको ब्रह्मकी प्राप्ति कराता है । उसके लिये जो अमानव विशेषण दिया गया है, उससे सिद्ध होता है कि उसके पहले जो अर्चि आदि लोक प्राप्त होते हैं, वे उन-उन लोकोंके

अभिमानी देवता या मानवाकार पुरुष हैं। हैं वे भी दिव्य ही, परन्तु उनकी आकृति मानवों-जैसी है।

सम्बन्ध—इस प्रकार अभिमानी देवता माननेकी क्या आवश्यकता है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

उभयव्यामोहात्तत्सिद्धेः ॥ ४ । ३ । ५ ॥

उभयव्यामोहात्=दोनोंके मोहयुक्त होनेका प्रसङ्ग आ जाता है, इसलिये; **तत्सिद्धेः**=उनको अभिमानी देवता माननेसे ही उनके द्वारा ब्रह्मलोकतक ले जानेका कार्य सिद्ध हो सकता है। अतः (वैसा ही मानना चाहिये)।

व्याख्या—यदि अर्चि आदि शब्दोंसे उनके अभिमानी देवता न मानकर उन्हें ज्योति और लोकविशेषरूप जड पदार्थ मान लें तो दोनोंके ही मोहयुक्त (मार्ग-ज्ञानशून्य) होनेसे ब्रह्मलोकतक पहुँचना ही सम्भव न होगा; क्योंकि गमन करनेवाला जीवात्मा तो वहाँके मार्गसे परिचित है नहीं, उसको आगे ले जानेवाले अर्चि आदि भी यदि चेतन न हों तो मार्गको जाननेवाला कोई न रहनेसे देवयान और पितृयानमार्गका ज्ञान होना असम्भव हो जायगा। इसलिये अर्चि आदि शब्दोंसे उन-उनके अभिमानी देवताओंका वर्णन मानना आवश्यक है। तभी उनके द्वारा ब्रह्मलोकतक पहुँचानेका कार्य सिद्ध हो सकेगा। अतः मार्गमें जिन-जिन लोकोंका वर्णन आया है, उनसे उन-उन लोकोंके अधिष्ठाता देवताको ही समझना चाहिये, अपने लोकसे अगले लोकमें पहुँचा देना ही उनका काम है।

सम्बन्ध—विद्युत्-लोकके अनन्तर यह कहा गया है कि वह अमानव पुरुष उनको ब्रह्मके पास पहुँचा देता है। (छा० उ० ५। १०। १) तब बीचमें आनेवाले वरुण, इन्द्र और प्रजापतिके लोकोंके अभिमानी देवताओंका क्या काम रहेगा? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

वैद्युतेनैव ततस्तच्छ्रुतेः ॥ ४ । ३ । ६ ॥

ततः=वहाँसे आगे ब्रह्मलोकतक; **वैद्युतेन**=विद्युत्-लोकमें प्रकट हुए अमानव पुरुषद्वारा; **एव**=ही (पहुँचाये जाते हैं); **तच्छ्रुतेः**=क्योंकि वैसा ही श्रुतिमें कहा है—

व्याख्या—वहाँसे उनको वह विद्युत्-लोकमें प्रकट हुआ अमानव पुरुष ब्रह्मके

पास पहुँचा देता है, इस प्रकार श्रुतिमें स्पष्ट कहा जानेके कारण यही सिद्ध होता है कि विद्युत्-लोकसे आगे ब्रह्मलोकतक वही विद्युत्-लोकमें प्रकट अमानव पुरुष उनको पहुँचाता है, बीचके लोकोंके जो अभिमानी देवता हैं, उनका इतना ही काम है कि वे अपने लोकोंमें होकर जानेके लिये उनको मार्ग दे दें और अन्य आवश्यक सहयोग करें।

सम्बन्ध—ब्रह्मविद्याका उपासक अधिकारी विद्वान् वहाँ ब्रह्मलोकमें जिनको प्राप्त होता है, वह परब्रह्म है या सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला ब्रह्मा ? इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है, यहाँ पहले बादरि आचार्यकी ओरसे सातवें सूत्रसे ग्यारहवें सूत्रतक पूर्वपक्षकी स्थापना की जाती है—

कार्यं बादरिरस्य गत्युपपत्तेः ॥ ४ । ३ । ७ ॥

बादरिः=आचार्य बादरिका मत है कि; **कार्यम्**=कार्यब्रह्मको अर्थात् हिरण्यगर्भको (प्राप्त होते हैं); **गत्युपपत्तेः**=क्योंकि गमन करनेके कथनकी उपपत्ति; **अस्य**=इस कार्यब्रह्मके लिये ही (हो सकती है)।

व्याख्या—श्रुतिमें जो लोकान्तरमें गमनका कथन है, वह परब्रह्म परमात्माकी प्राप्तिके लिये उचित नहीं है; क्योंकि परब्रह्म परमात्मा तो सभी जगह हैं, उनको पानेके लिये लोकान्तरमें जानेकी क्या आवश्यकता है ? अतः यही सिद्ध होता है कि इन ब्रह्मविद्याकी उपासना करनेवालोंके लिये जो प्राप्त होनेवाला ब्रह्म है, वह परब्रह्म नहीं; किन्तु कार्यब्रह्म ही है; क्योंकि इस कार्यब्रह्मकी प्राप्तिके लिये लोकान्तरमें जाकर उसे प्राप्त करनेका कथन सर्वथा युक्तिसंगत है।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे अपने पक्षको दृढ़ करते हैं—

विशेषितत्वाच्च ॥ ४ । ३ । ८ ॥

च=तथा; **विशेषितत्वात्**=विशेषण देकर स्पष्ट कहा गया है, इसलिये भी (कार्यब्रह्मकी प्राप्ति मानना ही उचित है)।

व्याख्या—'मानस पुरुष इनको ब्रह्मलोकोंमें ले जाता है' (बृह० उ० ६ । २ । १५) इस श्रुतिमें ब्रह्मलोकमें बहुवचनका प्रयोग किया गया है तथा ब्रह्मलोकोंमें ले जानेकी बात कही गयी है, ब्रह्मको प्राप्त होनेकी बात नहीं कही गयी, इस प्रकार विशेषरूपसे स्पष्ट कहा जानेके कारण भी यही सिद्ध होता है कि कार्यब्रह्मको

ही प्राप्त होता है, क्योंकि वह लोकोंका स्वामी है; अतः भोग्यभूमि अनेक होनेके कारण लोकोंके साथ बहुवचनका प्रयोग उचित ही है।

सम्बन्ध—दूसरी श्रुतिमें जो यह कहा है कि वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके समीप ले जाता है, वह कथन कार्यब्रह्म माननेसे उपयुक्त नहीं होता; क्योंकि श्रुतिका उद्देश्य यदि कार्यब्रह्मकी प्राप्ति बताना होता तो ब्रह्माके समीप पहुँचा देता है, ऐसा कथन होना चाहिये था! इसपर कहते हैं—

सामीप्यात्तु तद्व्यपदेशः ॥ ४ । ३ । ९ ॥

तद्व्यपदेशः=वह कथन; **तु**=तो; **सामीप्यात्**=ब्रह्मकी समीपताके कारण ब्रह्माके लिये हो सकता है।

व्याख्या—'जो सबसे पहले ब्रह्माको रचता है; तथा जो उसको समस्त वेदोंका ज्ञान प्रदान करता है, परमात्म-ज्ञानविषयक बुद्धिको प्रकट करनेवाले उस प्रसिद्ध परमदेव परमेश्वरकी मैं मुमुक्षु साधक शरण ग्रहण करता हूँ।'* (श्वेता० उ० ६ । १८) इस श्रुतिकथनके अनुसार ब्रह्मा उस परब्रह्मका पहला कार्य होनेके कारण ब्रह्माको 'ब्रह्म' कहा गया है, ऐसा मानना युक्तिसंगत हो सकता है।

सम्बन्ध—गीतामें कहा है कि ब्रह्माके लोकतक सभी लोक पुनरावृत्तिशील हैं (गीता ८ । १६)। इस प्रसङ्गमें ब्रह्माकी आयु पूर्ण हो जानेपर वहाँ जानेवालोंको वापस लौटना अनिवार्य है और श्रुतिमें देवयानमार्गसे जानेवालोंका वापस न लौटना स्पष्ट कहा है; इसलिये कार्यब्रह्मकी प्राप्ति न मानकर परब्रह्मकी प्राप्ति मानना ही उचित मालूम होता है, इसपर पूर्वपक्षकी ओरसे कहा जाता है—

कार्यात्यये तदध्यक्षेण सहातः परमभिधानात् ॥ ४ । ३ । १० ॥

कार्यात्यये=कार्यरूप ब्रह्मलोकका नाश होनेपर; **तदध्यक्षेण**=उसके स्वामी ब्रह्माके; **सह**=सहित; **अतः**=इससे; **परम्**=श्रेष्ठ परब्रह्म परमात्माको; **अभिधानात्**=प्राप्त होनेका कथन है, इसलिये (पुनरावृत्ति नहीं होगी)।

व्याख्या—'जिन्होंने उपनिषदोंके विज्ञानद्वारा उनके अर्थभूत परमात्माका भलीभाँति निश्चय कर लिया है तथा कर्मफल और आसक्तिके त्यागरूप योगसे

* यह मन्त्र पृष्ठ ६६ में अर्थसहित आ गया है।

जिनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है, वे सब साधक ब्रह्मलोकोंमें जाकर अन्तकालमें परम अमृतस्वरूप होकर भलीभाँति मुक्त हो जाते हैं।'* (मु० उ० ३ । २ । ६) इस प्रकार श्रुतिमें उन सबकी मुक्तिका कथन होनेसे यह सिद्ध होता है कि प्रलयकालमें ब्रह्मलोकका नाश होनेपर उसके स्वामी ब्रह्माके सहित वहाँ गये हुए ब्रह्मविद्याके उपासक भी परब्रह्मको प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं, इसलिये उनकी पुनरावृत्ति नहीं होती ।

सम्बन्ध—स्मृति-प्रमाणसे पूर्वपक्षको पुष्ट करते हैं—

स्मृतेश्च ॥ ४ । ३ । ११ ॥

स्मृतेः=स्मृति-प्रमाणसे; **च**=भी (यही बात सिद्ध होती है) ।

व्याख्या—'वे सब शुद्ध अन्तःकरणवाले पुरुष प्रलयकाल प्राप्त होनेपर समस्त जगत्‌के अन्तमें ब्रह्माके साथ उस परमपदमें प्रविष्ट हो जाते हैं।'† (कू० पु० पूर्वख० १२ । २६९) इस प्रकार स्मृतिमें भी यही भाव प्रदर्शित किया है, इसलिये कार्यब्रह्मकी प्राप्ति होती है, यही मानना ठीक है ।

सम्बन्ध—यहाँतक पूर्वपक्षकी स्थापना करके उसके उत्तरमें आचार्य जैमिनिका मत उद्धृत करते हैं—

परं जैमिनिर्मुख्यत्वात् ॥ ४ । ३ । १२ ॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनिका कहना है कि; **मुख्यत्वात्**=ब्रह्मशब्दका मुख्य वाच्यार्थ होनेके कारण; **परम्**=परब्रह्मको प्राप्त होता है (यही मानना युक्तिसङ्गत है) ।

व्याख्या—वह अमानव पुरुष इनको ब्रह्मके समीप पहुँचा देता है (छा० उ० ४ । १५ । ५) श्रुतिके इस वाक्यमें कहा हुआ 'ब्रह्म' शब्द मुख्यतया परब्रह्म परमात्माका ही वाचक है, इसलिये अर्चि आदि मार्गसे जानेवाले परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त होते हैं, कार्यब्रह्मको नहीं । जहाँ मुख्य अर्थकी उपयोगिता नहीं हो, वहीं गौण अर्थकी कल्पना की जा सकती है, मुख्य अर्थकी उपयोगिता रहते हुए नहीं । वह परब्रह्म परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण होनेपर भी उसके परम

---

* यह मन्त्र पृष्ठ २९३ में अर्थसहित आ गया है ।

† **ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसंचरे । परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम् ॥**

धामका प्रतिपादन और वहाँ विद्वान् उपासकोंके जानेका वर्णन श्रुति (क० उ० १। ३। ९), (प्र० उ० १। १०) और स्मृतियोंमें (गीता १५। ६) जगह-जगह किया गया है। इसलिये उसके लोकविशेषमें गमन करनेके लिये कहना कार्यब्रह्मका द्योतक नहीं है। बहुवचनका प्रयोग भी आदरके लिये किया जाना सम्भव है तथा उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके अपने लिये रचे हुए अनेक लोकोंका होना भी कोई असम्भव बात नहीं है। अतः सर्वथा यही सिद्ध होता है कि वे उसीके परमधाममें जाते हैं तथा परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त होते हैं, कार्यब्रह्मको नहीं।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे जैमिनिके मतको दृढ़ करते हैं—

दर्शनाच्च ॥ ४ । ३ । १३ ॥

दर्शनात्=श्रुतिमें जगह-जगह गतिपूर्वक परब्रह्मकी प्राप्ति दिखायी गयी है, इससे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि कार्यब्रह्मकी प्राप्ति नहीं है)।

व्याख्या—'उनमेंसे सुषुम्ना नाडीद्वारा ऊपर उठकर अमृतत्वको प्राप्त होता है।' (छा० उ० ८। ६। ६) 'वह संसारमार्गके उस पार उस विष्णुके परमपदको प्राप्त होता है।' (क० उ० १। ३। ९) इसके सिवा सुषुम्ना नाडीद्वारा शरीरसे निकलकर जानेका वर्णन कठोपनिषद्‌में भी वैसा ही आया है (क० उ० २। ३। १६) इस प्रकार जगह-जगह गतिपूर्वक परब्रह्म परमात्माकी प्राप्ति श्रुतिमें प्रदर्शित की गयी है। इससे यही सिद्ध होता है कि देवयान-मार्गके द्वारा जानेवाले ब्रह्मविद्याके उपासक परब्रह्मको ही प्राप्त होते हैं, न कि कार्यब्रह्मको।

सम्बन्ध—प्रकारान्तरसे जैमिनिके मतको दृढ़ करते हैं—

न च कार्ये प्रतिपत्त्यभिसन्धिः ॥ ४ । ३ । १४ ॥

च=इसके सिवा; **प्रतिपत्त्यभिसन्धिः**=उन ब्रह्मविद्याके उपासकोंका प्राप्तिविषयक संकल्प भी; **कार्ये**=कार्यब्रह्मके लिये; **न**=नहीं है।

*व्याख्या—*इसके सिवा, उन ब्रह्मविद्याके उपासकोंका जो प्राप्तिविषयक संकल्प है, वह कार्यब्रह्मके लिये नहीं है; अपितु परब्रह्म परमात्माको ही प्राप्त करनेके लिये उनकी साधनमें प्रवृत्ति देखी गयी है; इसलिये भी उनको कार्यब्रह्मकी प्राप्ति नहीं हो सकती, परब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है। श्रुतिमें जो यह कहा गया है कि वे

प्रजापतिके सभाभवनको प्राप्त होते हैं (छा० उ० ८ । १४ । १) । उस प्रसङ्गमें भी उपासकका लक्ष्य प्रजापतिके लोकमें रहना नहीं है; किंतु परब्रह्मके परमधाममें जाना ही है, क्योंकि वहाँ जिस यशोंके यश यानी महायशका वर्णन है, वह ब्रह्मका ही नाम है, यह बात अन्यत्र श्रुतिमें कही गयी है (श्वेता० उ० ४ । १९) तथा उसके पहले (छा० उ० ८ । १३ । १) के प्रसङ्गसे भी यही सिद्ध हो सकता है कि वहाँ साधकका लक्ष्य परब्रह्म ही है ।

सम्बन्ध—इस प्रकार पूर्वपक्ष और उसके उत्तरकी स्थापना करके अब सूत्रकार अपना मत प्रकट करते हुए सिद्धान्तका वर्णन करते हैं—

अप्रतीकालम्बनान्नयतीति बादरायण उभयथा-
दोषात्तत्क्रतुश्च ॥ ४ । ३ । १५ ॥

अप्रतीकालम्बनान्=वाणी आदि प्रतीकका अवलम्बन करके उपासना करनेवालोंके सिवा अन्य सब उपासकोंको; **नयति**=(ये अर्चि आदि देवतालोग देवयानमार्गसे) ले जाते हैं; **उभयथा**=(अतः) दोनों प्रकारकी; **अदोषात्**=मान्यतामें कोई दोष न होनेके कारण; **तत्क्रतुः**=उनके संकल्पानुसार परब्रह्मको; **च**=और कार्यब्रह्मको प्राप्त कराना सिद्ध होता है; **इति**=यह; **बादरायणः**=व्यासदेव कहते हैं ।

व्याख्या—आचार्य बादरायण अपना सिद्धान्त बतलाते हुए यह कहते हैं कि जिस प्रकार वाणी आदिमें ब्रह्मकी प्रतीक-उपासनाका वर्णन है, उसी प्रकार दूसरी-दूसरी वैसी उपासनाओंका भी उपनिषदोंमें वर्णन है। उन उपासकोंके सिवा, जो ब्रह्मलोकोंके भोगोंको स्वेच्छानुसार भोगनेकी इच्छावाले कार्यब्रह्मके उपासक हैं और जो परब्रह्म परमात्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे उस सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वरकी उपासना करनेवाले हैं, उन दोनों प्रकारके उपासकोंको उनकी भावनाके अनुसार कार्यब्रह्मके भोगसम्पन्न लोकोंमें और परब्रह्म परमात्माके परमधाममें दोनों जगह ही वह अमानव पुरुष पहुँचा देता है, इसलिये दोनों प्रकारकी मान्यतामें कोई दोष नहीं है; क्योंकि उपासकका संकल्प ही इस विशेषतामें कारण है । श्रुतिमें भी यह वर्णन स्पष्ट है कि 'जिनको परब्रह्मके परमधाममें पहुँचाते हैं, उनका मार्ग भी प्रजापति ब्रह्माके लोकमें होकर ही है (कौ० उ० १ । ३) । अतः जिनके अन्तःकरणमें लोकोंमें रमण करनेके संस्कार होते हैं, उनको वहाँ

छोड़ देते हैं, जिनके मनमें वैसे भाव नहीं होते, उनको परमधाममें पहुँचा देते हैं; परन्तु देवयानमार्गसे गये हुए दोनों प्रकारके ही उपासक वापस नहीं लौटते।

सम्बन्ध—प्रतीकोपासनावालोंको अर्चिमार्गसे नहीं ले जानेका क्या कारण है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

विशेषं च दर्शयति ॥ ४ । ३ । १६ ॥

विशेषम्=इसका विशेष कारण; **च**=भी; **दर्शयति**=श्रुति दिखाती है।

व्याख्या—वाणी आदि प्रतीकोपासनावालोंको देवयानमार्गके अधिकारी क्यों नहीं ले जाते, इसका विशेष कारण उन-उन उपासनाओंके विभिन्न फलका वर्णन करते हुए श्रुति स्वयं ही दिखलाती है, वाणीमें प्रतीकोपासनाका फल जहाँतक वाणीकी गति है, वहाँतक इच्छानुसार विचरण करनेकी शक्ति बताया गया है (छा० उ० ७।२।२)। इसी प्रकार दूसरी प्रतीकोपासनाका अलग-अलग फल बताया है, सबके फलमें एकता नहीं है। इसलिये वे उपासक देवयानमार्गसे न तो कार्यब्रह्मके लोकमें जानेके अधिकारी हैं और न परब्रह्म परमेश्वरके परमधाममें ही जानेके अधिकारी हैं; अतः उस मार्गके अधिकारी देवताओंका अर्चिमार्गसे उनको न ले जाना उचित ही है।

तीसरा पाद सम्पूर्ण।



चौथा पाद

तीसरे पादमें अर्चि आदि मार्गद्वारा परब्रह्म और कार्यब्रह्मके लोकमें जानेवालोंकी गतिके विषयमें निर्णय किया गया । अब उपासकोंके संकल्पानुसार ब्रह्मलोकमें पहुँचनेके बाद जो उनकी स्थितिका भेद होता है, उसका निर्णय करनेके लिये चौथा पाद आरम्भ किया जाता है । उसमें पहले उन साधकोंके विषयमें निर्णय करते हैं, जिनका उद्देश्य परब्रह्मकी प्राप्ति है और जो उस परब्रह्मके अप्राकृत दिव्य परमधाममें जाते हैं—

सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ॥ ४ । ४ । १ ॥

सम्पद्य=परमधामको प्राप्त होकर (इस जीवका); **स्वेन**=अपने वास्तविक स्वरूपसे; **आविर्भावः**=प्राकट्य होता है; **शब्दात्**=क्योंकि श्रुतिमें ऐसा ही कहा गया है ।

व्याख्या—'जो यह उपासक इस शरीरसे ऊपर उठकर परम ज्ञानस्वरूप परमधामको प्राप्त हो (वहाँ) अपने वास्तविक स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है । यह आत्मा है—ऐसा आचार्यने कहा—यह (उसको प्राप्त होनेवाला) अमृत है, अभय है और यही ब्रह्म है । निस्सन्देह उस इस (प्राप्तव्य) परब्रह्मका नाम सत्य है ।' (छा० उ० ८ । ३ । ४)—इस श्रुतिसे यही सिद्ध होता है कि परमधामको प्राप्त होते ही वह साधक अपने वास्तविक स्वरूपसे सम्पन्न हो जाता है अर्थात् प्राकृत सूक्ष्म शरीरसे रहित, श्रुतिमें बताये हुए पुण्य-पापशून्य, जरा-मृत्यु आदि विकारोंसे रहित, सत्यकाम, सत्य-संकल्प, शुद्ध एवं अजर-अमररूपसे युक्त हो जाता है । (छा० उ० ८ । १ । ५) इस प्रकरणमें जो संकल्पसे ही पितर आदिकी उपस्थिति होनेका वर्णन है, वह ब्रह्मविद्याके माहात्म्यका सूचक है । उसका भाव यह है कि जीवनकालमें ही हृदयाकाशके भीतर संकल्पसे पितृलोक आदिके सुखका अनुभव होता है, न कि ब्रह्मलोकमें जानेके बाद; क्योंकि उस प्रकरणके वर्णनमें यह बात स्पष्ट है । वहाँ जीवनकालमें ही उनका संकल्पसे उपस्थित होना कहा है (छा० उ० ८ । २ । १ से १०) । इसके बाद, उसके लिये प्रतिदिन यहाँ हृदयमें ही परमानन्दकी प्राप्ति होनेकी बात कही है (छा० उ० ८ । ३ । ३) । तदनन्तर शरीर छोड़कर परमधाममें जानेकी

बात बतायी गयी है (छा० उ० ८ । ३ । ४) और उसका नाम सत्य अर्थात् सत्यलोक कहा है । उसके पूर्व जो यह कहा है कि 'जो यहाँ इस आत्माको तथा इन सत्यकामोंको जानकर परलोकमें जाते हैं, उनका सब लोकोंमें इच्छानुसार गमन होता है' (छा० उ० ८ । १ । ६) यह वर्णन आत्म-ज्ञानकी महिमा दिखानेके लिये है । किन्तु दूसरे खण्डका वर्णन तो स्पष्ट ही जीवनकालका है ।

उक्त प्रकरण दहर-विद्याका है और (दहर) यहाँ परब्रह्म परमेश्वरका वाचक है, यह बात पहले सिद्ध की जा चुकी है, (ब्र० सू० १ । ३ । १४) इसलिये यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यह प्रकरण हिरण्यगर्भकी या जीवात्माके अपने स्वरूपकी उपासनाका है ।

सम्बन्ध—उस परमधाममें जो वह उपासक अपने वास्तविक रूपसे सम्पन्न होता है, उसमें पहलेकी अपेक्षा क्या विशेषता होती है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

मुक्तः प्रतिज्ञानात् ॥ ४ । ४ । २ ॥

प्रतिज्ञानात्=प्रतिज्ञा की जानेके कारण यह सिद्ध होता है कि; **मुक्तः**=(वह स्वरूप) सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त (होता) है ।

*व्याख्या—*श्रुतिमें जगह-जगह यह प्रतिज्ञा की गयी है कि 'उस परब्रह्म परमात्माके लोकको प्राप्त होनेके बाद यह साधक सदाके लिये सब प्रकारके बन्धनोंसे छूट जाता है ।' (मु० उ० ३ । २ । ६) इसीसे यह सिद्ध होता है कि अपने वास्तविक स्वरूपसे सम्पन्न होनेपर उपासक सब प्रकारके बन्धनोंसे रहित, सर्वथा शुद्ध, दिव्य, विभु और विज्ञानमय होता है, उसमें किसी प्रकारका विकार नहीं रहता । पूर्वकालमें अनादिसिद्ध कर्मसंस्कारोंके कारण जो इसका स्वरूप कर्मानुसार प्राप्त शरीरके अनुरूप हो रहा था; (ब्र० सू० २ । ३ । ३०) परमधाममें जानेके बाद वैसा नहीं रहता । यह सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है ।

सम्बन्ध—यह कैसे निश्चय होता है कि उस समय उपासक सब बन्धनोंसे मुक्त हो जाता है? इसपर कहते हैं—

आत्मा प्रकरणात् ॥ ४ । ४ । ३ ॥

प्रकरणात्=प्रकरणसे (यह सिद्ध होता है कि वह); **आत्मा**=शुद्ध आत्मा ही हो जाता है ।

व्याख्या—उस प्रकरणमें जो वर्णन है, उसमें यह स्पष्ट कहा गया है कि 'वह ब्रह्मलोकमें प्राप्त होनेवाला स्वरूप आत्मा है' (छा० उ० ८ । ३ । ४)। अतः उस प्रकरणसे ही यह सिद्ध होता है कि उस समय वह सब प्रकारके बन्धनोंसे मुक्त होकर परमात्माके समान परम दिव्य शुद्ध स्वरूपसे युक्त हो जाता है। (गीता १४ । २; तथा मु० उ० ३ । १ । ३)।

सम्बन्ध—अब यह जिज्ञासा होती है कि ब्रह्मलोकमें जाकर उस उपासककी परमात्मासे पृथक् स्थिति रहती है या वह उन्हींमें मिल जाता है। इसका निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं। पहले क्रमशः तीन प्रकारके मत प्रस्तुत करते हैं—

अविभागेन दृष्टत्वात् ॥ ४ । ४ । ४ ॥

अविभागेन=(उस मुक्तात्माकी स्थिति उस परब्रह्ममें) अविभक्त रूपसे होती है; **दृष्टत्वात्**=क्योंकि यही बात श्रुतिमें देखी गयी है।

व्याख्या—श्रुतिमें कहा गया है कि—

'यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति ।
एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥'

'हे गौतम ! जिस प्रकार शुद्ध जलमें गिरा हुआ शुद्ध जल वैसा ही हो जाता है, उसी प्रकार परमात्माको जाननेवाले मुनिका आत्मा हो जाता है।' (क० उ० २ । १ । १५)। 'जिस प्रकार बहती हुई नदियाँ नामरूपोंको छोड़कर समुद्रमें विलीन हो जाती हैं, वैसे ही परमात्माको जाननेवाला विद्वान् नाम-रूपसे मुक्त होकर परात्पर, दिव्य, परब्रह्म परमात्माको प्राप्त हो जाता है।'* (मु० उ० ३ । २ । ८)। श्रुतिके इस वर्णनसे यह सिद्ध होता है कि मुक्तात्मा उस परब्रह्म परमात्मामें अविभक्त रूपसे ही स्थित होता है।

सम्बन्ध—इस विषयमें जैमिनिका मत बतलाते हैं—

ब्राह्मेण जैमिनिरुपन्यासादिभ्यः ॥ ४ । ४ । ५ ॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि कहते हैं कि; **ब्राह्मेण**=ब्रह्मके सदृश रूपसे स्थित होता है; **उपन्यासादिभ्यः**=क्योंकि श्रुतिमें जो उसके स्वरूपका निरूपण किया गया है, उसे देखनेसे और श्रुति-प्रमाणमें भी यही सिद्ध होता है।

* यह मन्त्र पृष्ठ ९४ में अर्थसहित आया है।

व्याख्या–आचार्य जैमिनिका कहना है कि श्रुतिमें 'वह निर्मल होकर परम समताको प्राप्त हो जाता है।' (मु० उ० ३ । १ । ३) ऐसा वर्णन मिलता है। तथा उक्त प्रकरणमें भी उसका दिव्य स्वरूपसे सम्पन्न होना कहा गया है (छा० उ० ८ । ३ । ४) एवं गीतामें भी भगवान्‌ने कहा है कि 'इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरे दिव्य गुणोंकी समताको प्राप्त हुए महापुरुष सृष्टिकालमें उत्पन्न और प्रलयकालमें व्यथित नहीं होते।' (गीता १४ । २)। इन प्रमाणोंसे यह सिद्ध होता है कि वह उपासक उस परमात्माके सदृश दिव्य स्वरूपसे सम्पन्न होता है।

सम्बन्ध–*इसी विषयमें आचार्य औडुलोमिका मत उपस्थित करते हैं*—

चितितन्मात्रेण तदात्मकत्वादित्यौडुलोमिः ॥ ४ । ४ । ६ ॥

चितितन्मात्रेण=केवल चेतनमात्र स्वरूपसे स्थित रहता है; **तदात्मकत्वात्**=क्योंकि उसका वास्तविक स्वरूप वैसा ही है; **इति**=ऐसा; **औडुलोमिः**=आचार्य औडुलोमि कहते हैं।

व्याख्या–परमधाममें गया हुआ मुक्तात्मा अपने वास्तविक चैतन्यमात्र स्वरूपसे स्थित रहता है; क्योंकि श्रुतिमें उसका वैसा ही स्वरूप बताया गया है। बृहदारण्यकमें कहा है कि 'स यथा सैन्धवघनोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नो रसघन एवैवं वा अरेऽयमात्मानन्तरोऽबाह्यः कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव।'—'जिस प्रकार नमकका डला बाहर-भीतरसे रहित सब-का-सब रसघन है, वैसे ही यह आत्मा बाहर-भीतरके भेदसे रहित सब-का-सब प्रज्ञानघन ही है।' (बृह० उ० ४ । ५ । १३) इसलिये उसका अपने स्वरूपसे सम्पन्न होना चैतन्य घनरूपमें ही स्थित होना है।

सम्बन्ध–*अब आचार्य बादरायण इस विषयमें अपना सिद्धान्त प्रस्तुत करते हैं*—

एवमप्युपन्यासात् पूर्वभावादविरोधं बादरायणः ॥ ४ । ४ । ७ ॥

एवम्=इस प्रकारसे अर्थात् औडुलोमि और जैमिनिके कथनानुसार; **अपि**=भी; **उपन्यासात्**=श्रुतिमें उस मुक्तात्माके स्वरूपका निरूपण होनेसे तथा; **पूर्वभावात्**=पहले (चौथे सूत्रमें) कहे हुए भावसे भी; **अविरोधम्**=सिद्धान्तमें कोई विरोध नहीं है; **बादरायणः (आह)**=यह बादरायण कहते हैं।

व्याख्या–आचार्य जैमिनिके कथनानुसार मुक्तात्माका स्वरूप परब्रह्म

परमात्माके सदृश दिव्यगुणोंसे सम्पन्न होता है—यह बात श्रुतियों और स्मृतियोंमें कही गयी है तथा आचार्य औडुलोमिके कथनानुसार चेतनमात्र स्वरूपसे स्थित होनेका वर्णन भी पाया जाता है। इसी प्रकार पहले (४ । ४ । ४ सूत्रमें) जैसा बताया गया है, उसके अनुसार परमेश्वरमें अभिन्नरूपसे स्थित होनेका वर्णन भी मिलता है। इसलिये यही मानना ठीक है कि उस मुक्तात्माके भावानुसार उसकी तीनों ही प्रकारसे स्थिति हो सकती है। इसमें कोई विरोध नहीं है।

सम्बन्ध—यहाँतक परमधाममें जानेवाले उपासकोंके विषयमें निर्णय किया गया। अब जो उपासक प्रजापति ब्रह्माके लोकको प्राप्त होते हैं, उनके विषयमें निर्णय करनेके लिये अगला प्रकरण आरम्भ किया जाता है। यहाँ प्रश्न होता है कि उन उपासकोंको ब्रह्मलोकोंके भोगोंकी प्राप्ति किस प्रकार होती है, इसपर कहते हैं—

संकल्पादेव तु तच्छ्रुतेः ॥ ४ । ४ । ८ ॥

तु=(उन भोगोंकी प्राप्ति) तो; **संकल्पात्**=संकल्पसे; **एव**=ही होती है; **तच्छ्रुतेः**=क्योंकि श्रुतिमें यही बात कही गयी है।

व्याख्या—'यह आत्मा मनरूप दिव्य नेत्रोंसे ब्रह्मलोकके समस्त भोगोंको देखता हुआ रमण करता है।' (छा० उ० ८ । १२ । ५, ६) यह बात श्रुतिमें कही गयी है; इससे यह सिद्ध होता है कि मनके द्वारा केवल संकल्पसे ही उपासकको उस लोकके दिव्य भोगोंका अनुभव होता है।

सम्बन्ध—युक्तिसे भी उसी बातको दृढ़ करते हैं—

अत एव चानन्याधिपतिः ॥ ४ । ४ । ९ ॥

अत एव=इसीलिये; **च**=तो; **अनन्याधिपतिः**=(मुक्तात्माको) ब्रह्माके सिवा अन्य स्वामीसे रहित बताया गया है।

व्याख्या—'वह स्वाराज्यको प्राप्त हो जाता है, मनके स्वामी हिरण्यगर्भको प्राप्त हो जाता है; अतः वह स्वयं बुद्धि, मन, वाणी, नेत्र और श्रोत्र—सबका स्वामी हो जाता है।' (तै० उ० १ । ६)। भाव यह कि एक ब्रह्माजीके सिवा अन्य किसीका भी उसपर आधिपत्य नहीं रहता, इसीलिये पूर्वसूत्रमें कहा

गया है कि 'वह मनके द्वारा संकल्पमात्रसे ही सब दिव्य भोगोंको प्राप्त कर लेता है ।'

सम्बन्ध—उसे संकल्पमात्रसे जो दिव्य भोग प्राप्त होते हैं, उनके उपभोगके लिये वह शरीर भी धारण करता है या नहीं ? इसपर आचार्य बादरिका मत उपस्थित करते हैं—

अभावं बादरिराह ह्येवम् ॥ ४ । ४ । १० ॥

अभावम्=उसके शरीर नहीं होता ऐसा; **बादरिः**=आचार्य बादरि मानते हैं; **हि**=क्योंकि; **एवम्**=इसी प्रकार; **आह**=श्रुति कहती है ।

व्याख्या—आचार्य बादरिका कहना है कि उस लोकमें स्थूल शरीरका अभाव है, अतः बिना शरीरके केवल मनसे ही उन भोगोंको भोगता है; क्योंकि श्रुतिमें इस प्रकार कहा है—'स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते । य एते ब्रह्मलोके ।' (छा० उ० ८ । १२ । ५, ६) 'निश्चय ही वह यह आत्मा इस दिव्य नेत्र मनके द्वारा जो ये ब्रह्मलोकके भोग हैं, इनको देखता हुआ रमण करता है ।' इसके सिवा, उसका अपने दिव्यरूपसे सम्पन्न होना भी कहा है (८ । १२ । २) । दिव्य रूप स्थूल देहके बन्धनसे रहित होता है । इसलिये कार्यब्रह्मके लोकमें गये हुए मुक्तात्माके स्थूल शरीरका अभाव मानना ही उचित है । (८ । १३ । १) ।

सम्बन्ध—इस विषयमें आचार्य जैमिनिका मत बतलाते हैं—

भावं जैमिनिर्विकल्पामननात् ॥ ४ । ४ । ११ ॥

जैमिनिः=आचार्य जैमिनि; **भावम्**=मुक्तात्माके शरीरका अस्तित्व मानते हैं; **विकल्पामननात्**=क्योंकि कई प्रकारसे स्थित होनेका श्रुतिमें वर्णन आता है ।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिका कहना है कि 'मुक्तात्मा एक प्रकारसे होता है, तीन प्रकारसे होता है, पाँच प्रकारसे होता है, सात प्रकारसे, नौ प्रकारसे तथा ग्यारह प्रकारसे होता है, ऐसा कहा गया है ।' (छा० उ० ७ । २६ । २) इस तरह श्रुतिमें उसका नाना भावोंसे युक्त होना कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि उसके स्थूल शरीरका भाव है अर्थात् वह शरीरसे युक्त होता है, अन्यथा इस प्रकार श्रुतिका कहना सङ्गत नहीं हो सकता ।

सम्बन्ध—अब इस विषयमें आचार्य बादरायण अपना मत प्रकट करते हैं—

द्वादशाहवदुभयविधं बादरायणोऽतः ॥ ४ । ४ । १२ ॥

बादरायणः=वेदव्यासजी कहते हैं कि; **अतः**=पूर्वोक्त दोनों मतोंसे; **द्वादशाहवत्**=द्वादशाह यज्ञकी भाँति; **उभयविधम्**=दोनों प्रकारकी स्थिति उचित है ।

व्याख्या—वेदव्यासजी कहते हैं कि दोनों आचार्योंका कथन प्रमाणयुक्त है; अतः उपासकके संकल्पानुसार शरीरका रहना और न रहना दोनों ही सम्भव हैं । जैसे द्वादशाह-यज्ञ श्रुतिमें कहीं अनेककर्तृक होनेपर 'सत्र' और नियत-कर्तृक होनेपर 'अहीन' माना गया है, उसी तरह यहाँ भी श्रुतिमें दोनों प्रकारका कथन होनेसे मुक्तात्माका स्थूल शरीरसे युक्त होकर दिव्य भोगोंका भोगना और बिना शरीरके केवल मनसे ही उनका उपभोग करना भी सम्भव है । उसकी यह दोनों प्रकारकी स्थिति उचित है, इसमें कोई विरोध नहीं है ।

सम्बन्ध—बिना शरीरके केवल मनसे उपभोग कैसे होता है ? इस जिज्ञासा-पर कहते हैं—

तन्वभावे सन्ध्यवदुपपत्तेः ॥ ४ । ४ । १३ ॥

तन्वभावे=शरीरके अभावमें; **सन्ध्यवत्**=स्वप्नकी भाँति (भोगोंका उपभोग होता है); **उपपत्तेः**=क्योंकि यही मानना युक्तिसंगत है ।

व्याख्या—जैसे स्वप्नमें स्थूल शरीरके बिना केवल मनसे ही समस्त भोगों-का उपभोग होता देखा जाता है, वैसे ही ब्रह्मलोकमें भी बिना शरीरके समस्त दिव्य भोगोंका उपभोग होना सम्भव है; इसलिये बादरायणकी यह मान्यता सर्वथा उचित ही है ।

सम्बन्ध—शरीरके द्वारा किस प्रकार उपभोग होता है ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

भावे जाग्रद्वत् ॥ ४ । ४ । १४ ॥

भावे=शरीर होनेपर; **जाग्रद्वत्**=जाग्रत्-अवस्थाकी भाँति (उपभोग होना युक्तिसंगत है) ।

व्याख्या—आचार्य जैमिनिके मतानुसार जिस मुक्तात्माको शरीरकी उपलब्धि होती है, वह उसके द्वारा उसी प्रकार उन भोगोंका उपभोग करता है, जैसे यहाँ जाग्रत्-अवस्थामें साधारण मनुष्य विषयोंका अनुभव करता है। ब्रह्मलोकमें ऐसा होना भी सम्भव है; इसलिये दोनों प्रकारकी स्थिति माननेमें कोई आपत्ति नहीं है।

सम्बन्ध—जैमिनिने जिस श्रुतिका प्रमाण दिया है, उसके अनुसार मुक्तात्माके अनेक शरीर होनेकी बात ज्ञात होती है, इसलिये यह जिज्ञासा होती है कि वे अनेक शरीर निरात्मक होते हैं या उनका अधिष्ठाता इससे भिन्न होता है? इसपर कहते हैं—

प्रदीपवदावेशस्तथा हि दर्शयति ॥ ४ । ४ । १५ ॥

प्रदीपवत्=दीपककी भाँति; **आवेशः**=सभी शरीरोंमें मुक्तात्माका प्रवेश हो सकता है; **हि**=क्योंकि; **तथा दर्शयति**=श्रुति ऐसा दिखाती है।

व्याख्या—जैसे अनेक दीपकोंमें एक ही अग्नि प्रकाशित होती है अथवा जिस प्रकार अनेक बल्वोंमें बिजलीकी एक ही शक्ति व्याप्त होकर उन सबको प्रकाशित कर देती है, उसी प्रकार एक ही मुक्तात्मा अपने संकल्पसे रचे हुए समस्त शरीरोंमें प्रविष्ट होकर दिव्यलोकके भोगोंका उपभोग कर सकता है; क्योंकि श्रुतिमें उस एकका ही अनेकरूप होना दिखाया गया है (छा० उ० ७ । २६ । २)।

सम्बन्ध—मुक्तात्मा तो समुद्रमें नदियोंकी भाँति नाम-रूपसे मुक्त होकर उस परब्रह्म परमेश्वरमें विलीन हो जाता है (मु० उ० ३ । २ । ८) यह बात पहले कह चुके हैं। इसके सिवा, और भी जगह-जगह इसी प्रकारका वर्णन मिलता है। फिर यहाँ उनके नाना शरीर धारण करनेकी और यथेच्छ भोगभूमियोंमें विचरनेकी बात कैसे कही गयी है? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

स्वाप्ययसम्पत्त्योरन्यतरापेक्षमाविष्कृतं हि ॥ ४ । ४ । १६ ॥

स्वाप्ययसम्पत्त्योः=सुषुप्ति और परब्रह्मकी प्राप्ति—इन दोनोंमेंसे; **अन्यतरापेक्षम्**=किसी एककी अपेक्षासे कहे हुए (वे वचन हैं); **हि**=क्योंकि; **आविष्कृतम्**=श्रुतियोंमें इस बातको स्पष्ट किया गया है।

व्याख्या—श्रुतिमें जो किसी प्रकारका ज्ञान न रहनेकी और समुद्रमें नदीकी भाँति उस परमात्मामें मिल जानेकी बात कही गयी है, वह कार्यब्रह्मके लोकोंको प्राप्त होनेवाले अधिकारियोंके विषयमें नहीं है; अपितु कहीं सुषुप्ति-अवस्थाको लेकर वैसा कथन है, (बृह० उ० ४ । ३ । १९) कहीं प्रलयकालको लक्ष्य करके ऐसा कहा है (प्र० उ० ६ । ५; उस समय भी प्राणियोंकी स्थिति सुषुप्तिकी भाँति ही रहती है, इसलिये उसका पृथक् उल्लेख सूत्रमें नहीं किया, यही अनुमान होता है)। और कहीं परब्रह्मकी प्राप्ति अर्थात् सायुज्य मुक्तिको लेकर वैसा कहा गया है (मु० उ० ३ । २ । ८; बृह० उ० २ । ४ । १२)। भाव यह कि लय-अवस्था और सायुज्यमुक्ति इन दोनोंमेंसे किसी एकके उद्देश्यसे वैसा कथन है; क्योंकि ब्रह्मलोकोंमें जानेवाले अधिकारियोंके लिये तो स्पष्ट शब्दोंमें वहाँके दिव्य भोगोंके उपभोगकी, अनेक शरीर धारण करनेकी तथा यथेच्छ लोकोंमें विचरण करनेकी बात श्रुतिने उन-उन स्थलोंमें कही गयी है। इसलिये किसी प्रकारका विरोध या असम्भव बात नहीं है।

सम्बन्ध—यदि ब्रह्मलोकमें गये हुए मुक्त आत्माओंमें इस प्रकार अपने अनेक शरीर रचकर भोगोंका उपभोग करनेकी सामर्थ्य है, तब तो उनमें परमेश्वरकी भाँति जगत्की रचना आदि कार्य करनेकी भी सामर्थ्य हो जाती होगी? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

जगद्व्यापारवर्जं प्रकरणादसन्निहितत्वाच्च ॥ ४ । ४ । १७ ॥

जगद्व्यापारवर्जम्=जगत्की रचना आदि व्यापारको छोड़कर और बातोंमें ही उनकी सामर्थ्य है; **प्रकरणात्**=क्योंकि प्रकरणसे यही सिद्ध होता है; **च**=तथा; **असन्निहितत्वात्**=जगत्की रचना आदि व्यापारसे इनका कोई निकट सम्बन्ध नहीं दिखाया गया है (इसलिये भी यही बात सिद्ध होती है)।

व्याख्या—जहाँ-जहाँ इस जड-चेतनात्मक समस्त जगत्की उत्पत्ति, संचालन और प्रलयका प्रकरण श्रुतियोंमें आया है, (तै० उ० ३ । १; छा० उ० ६ । २ । १—३; ऐ० उ० १ । १; बृह० उ० ३ । ७ । ३ से २३ तक; शतपथ० १४ । ३ । ५ । ७ से ३१ तक)। वहाँ सभी जगह यह कार्य उस परब्रह्म परमात्माका ही बताया गया है। ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले मुक्तात्माओंका सृष्टि-रचनादि कार्यसे सम्बन्ध कहीं नहीं बताया

गया है । इन दोनों कारणोंसे यही बात सिद्ध होती है कि इस जडचेतनात्मक समस्त जगत्‌की रचना, उसका संचालन और प्रलय आदि जितने भी कार्य हैं, उनमें उन मुक्तात्माओंका कोई हाथ या सामर्थ्य नहीं है, वे केवल वहाँके दिव्य भोगोंका उपभोग करनेकी ही यथेष्ट सामर्थ्य रखते हैं ।

सम्बन्ध—इसपर पूर्वपक्ष उठाकर उसके समाधानपूर्वक पूर्वसूत्रमें कहे हुए सिद्धान्तको पुष्ट करते हैं—

प्रत्यक्षोपदेशादिति चेन्नाधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः ॥ ४ । ४ । १८ ॥

चेत्=यदि कहो कि; **प्रत्यक्षोपदेशात्**=वहाँ प्रत्यक्षरूपसे इच्छानुसार लोकोंमें विचरनेका उपदेश है, अर्थात् वहाँ जाकर इच्छानुसार कार्य करनेका अधिकार बताया गया है; **इति न**=तो यह बात नहीं है; **आधिकारिकमण्डलस्थोक्तेः**=क्योंकि वह कहना अधिकारियोंके लोकोंमें स्थित भोगोंका उपभोग करनेके लिये ही है ।

व्याख्या—यदि कोई ऐसी शङ्का करे कि 'वह स्वराट् हो जाता है, उसकी समस्त लोकोंमें इच्छानुसार गमन करनेकी शक्ति हो जाती है ।' (छा० उ० ७ । २५ । २) 'वह स्वाराज्यको प्राप्त हो जाता है ।' (तै० उ० १ । ६ । २) इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें उसे स्पष्ट शब्दोंमें स्वराट् और स्वाराज्यको प्राप्त बताया है तथा इच्छानुसार भिन्न-भिन्न लोकोंमें विचरनेकी सामर्थ्यसे सम्पन्न कहा गया है, इससे उसका जगत्‌की रचना आदिके कार्यमें अधिकार है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है, तो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वहाँ यह भी कहा है कि 'वह सबके मनके स्वामीको प्राप्त हो जाता है ।' (तै० उ० १ । ६ । २) । अतः उसकी सब सामर्थ्य उस ब्रह्मलोककी प्राप्तिके प्रभावसे है और ब्रह्माके अधीन है, इसलिये जगत्‌के कार्यमें हस्तक्षेप करनेकी उसमें शक्ति नहीं है । उसे जो शक्ति और अधिकार दिये गये हैं, वे केवल उन-उन अधिकारियोंके लोकोंमें स्थित भोगोंका उपभोग करनेकी स्वतन्त्रताके लिये ही हैं । अतः वह कथन वहींके लिये है ।

सम्बन्ध—यदि इस प्रकार उन-उन लोकोंके विकारमय भोगोंका उपभोग करनेके लिये ही वे सब शरीर, शक्ति और अधिकार आदि उसे मिले हैं, तब

तो देवलोकोंको प्राप्त होनेवाले कर्माधिकारियोंके सदृश ही ब्रह्मविद्याका भी फल हुआ; इसमें विशेषता क्या हुई ? इस जिज्ञासापर कहते हैं—

विकारावर्ति च तथा हि स्थितिमाह ॥ ४ । ४ । १९ ॥

च=इसके सिवा; **विकारावर्ति**=वह मुक्तात्मा जन्मादि विकारोंसे रहित ब्रह्मरूप फलका अनुभव करता है; **हि**=क्योंकि; **तथा**=उसकी वैसी; **स्थितिम्**=स्थिति; **आह**=श्रुति कहती है ।

व्याख्या—श्रुतिमें ब्रह्मविद्याका मुख्य फल परब्रह्मकी प्राप्ति बताया गया है, 'जो जन्म, जरा आदि विकारोंको न प्राप्त होनेवाला, अजर-अमर, समस्त पापोंसे रहित तथा कल्याणमय दिव्य गुणोंसे सम्पन्न है ।' (छा० उ० ८ । १ । ५) इसलिये यही सिद्ध होता है कि उसको प्राप्त होनेवाला फल कर्मफलकी भाँति विकारी नहीं है । ब्रह्मलोकके भोग तो आनुषंगिक फल हैं । ब्रह्मविद्याकी सार्थकता तो परब्रह्मकी प्राप्ति करानेमें ही है । श्रुतिमें उस मुक्तात्माकी ऐसी ही स्थिति बतायी गयी है—'यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते । अथ सोऽभयं गतो भवति ।' (तै० उ० २ । ७) अर्थात् 'जब यह जीवात्मा इस देखनेमें न आनेवाले, शरीररहित, बतलानेमें न आनेवाले तथा दूसरेका आश्रय न लेनेवाले परब्रह्म परमात्मामें निर्भयतापूर्वक स्थिति लाभ करता है, तब वह निर्भय पदको प्राप्त हो जाता है ।'

सम्बन्ध—पहले कहे हुए सिद्धान्तको ही प्रमाणसे दृढ़ करते हैं—

दर्शयतश्चैवं प्रत्यक्षानुमाने ॥ ४ । ४ । २० ॥

प्रत्यक्षानुमाने=श्रुति और स्मृति; **च**=भी; **एवम्**=इसी प्रकार; **दर्शयतः**=दिखलाती हैं ।

व्याख्या—श्रुतिमें स्पष्ट कहा है कि 'वह परम ज्योतिको प्राप्त हो अपने वास्तविक रूपसे सम्पन्न हो जाता है । यह आत्मा है, यही अमृत एवं अभय है और यही ब्रह्म है ।' (छा० उ० ८ । ३ । ४) ब्रह्मलोक अन्य लोकों-की भाँति विकारी नहीं है । श्रुतिमें उसे नित्य (छा० उ० ८ । १३ । १), सब पापोंसे रहित (छा० उ० ८ । ४ । १) तथा रजोगुण आदिसे शून्य—विशुद्ध (प्र० उ० १ । १६) कहा गया है । गीतामें भी कहा है कि 'इस ज्ञानकी

उपासना करके मेरे सदृश धर्मोंको अर्थात् निर्लेपता आदि दिव्य कल्याणमय भावोंको प्राप्त हो जाते हैं; अतः वे न तो जगत्की रचनाके कालमें उत्पन्न होते हैं और न प्रलयकालमें मरनेका दुःख ही भोगते हैं।'* इस प्रकार श्रुतियों और स्मृतियोंमें जगह-जगह मुक्तात्माकी वैसी स्थिति दिखायी गयी है। उसका जो उन-उन अधिकारीवर्गोंके लोकोंमें जाना-आना और वहाँके भोगोंका उपभोग करना है, वह लीलामात्र है, बन्धनकारक या पुनर्जन्मका हेतु नहीं है।

सम्बन्ध—ब्रह्मलोकमें जानेवाले मुक्तात्माका जगत्की उत्पत्ति आदिमें अधिकार या सामर्थ्य नहीं है, इस पूर्वोक्त बातको इस प्रकरणके अन्तमें पुनः सिद्ध करते हैं—

भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च ॥ ४ । ४ । २१ ॥

भोगमात्रसाम्यलिङ्गात्=भोगमात्रमें समतारूप लक्षणसे; **च**=भी (यही सिद्ध होता है कि उसका जगत्की रचना आदिमें अधिकार नहीं होता)।

व्याख्या—जिस प्रकार वह ब्रह्मा समस्त दिव्य कल्याणमय भोगोंका उपभोग करता हुआ भी उनसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार यह मुक्तात्मा भी उस ब्रह्मलोकमें रहते समय, उपासनाकालमें की हुई भावनाके अनुसार प्राप्त हुए वहाँके दिव्य भोगोंका बिना शरीरके स्वप्नकी भाँति केवल संकल्पसे या शरीर-धारणपूर्वक जाग्रत्की भाँति उपभोग करके भी उनसे लिप्त नहीं होता। इस प्रकार भोगमात्रमें उस ब्रह्माके साथ उसकी समानता है। इस लक्षणसे भी यही सिद्ध होता है कि जगत्की रचना आदि कार्यमें उसका ब्रह्माके समान किसी भी अंशमें अधिकार या सामर्थ्य नहीं है।

सम्बन्ध—यदि ब्रह्मलोकको प्राप्त होनेवाले मुक्त आत्माकी सामर्थ्य सीमित है, परमात्माके समान असीम नहीं है, तब तो उसके उपभोगका समय पूर्ण होनेपर उसका पुनर्जन्म भी हो सकता है? इसपर कहते हैं—

अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात् ॥ ४ । ४ । २२ ॥

---

* इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च॥
(गीता १४ । २)

अनावृत्तिः=ब्रह्मलोकमें गये हुए आत्माका पुनरागमन नहीं होता; **शब्दात्**=यह बात श्रुतिके वचनसे सिद्ध होती है; **अनावृत्तिः**=पुनरागमन नहीं होता; **शब्दात्**=यह बात श्रुतिके वचनसे सिद्ध होती है ।

व्याख्या—श्रुतिमें बार-बार यह बात कही गयी है कि ब्रह्मलोकमें गया हुआ साधक वापस नहीं लौटता (बृह० उ० ६ । २ । १५; प्र० उ० १ । १०; छा० उ० ८ । ६ । ६; ४ । १५ । ६; ८ । १५ । १) । इस शब्द-प्रमाणसे यही सिद्ध होता है कि ब्रह्मलोकमें जानेवाला अधिकारी वहाँसे इस लोकमें नहीं लौटता । 'अनावृत्तिः शब्दात्' इस वाक्यकी आवृत्ति ग्रन्थकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

चौथा पाद सम्पूर्ण ।

श्रीवेदव्यासरचित वेदान्तदर्शन (ब्रह्मसूत्र) का
चौथा अध्याय पूरा हुआ ।

वेदान्त-दर्शन सम्पूर्ण ।



श्रीहरिः

श्रीहरिकृष्णदासजी गोयन्दकाद्वारा अनुवादित अन्य पुस्तकें

१—श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य—[हिन्दी-अनुवादसहित] इसमें मूल श्लोक, भाष्य, हिन्दीमें भाष्यार्थ, टिप्पणी तथा अन्तमें शब्दानुक्रमणिका भी दी गयी है। साइज २२×२९ आठपेजी, पृष्ठ ५२०, तिरंगे चित्र ३, मूल्य २।।।)

२—श्रीमद्भगवद्गीता रामानुजभाष्य—[हिन्दी-अनुवादसहित] आकार डिमाई आठपेजी, पृष्ठ-सं० ६०८, तीन बहुरंगे चित्र, कपड़ेकी जिल्द, मूल्य २।।)

इसमें भी शांकरभाष्यकी तरह ही श्लोक, श्लोकार्थ, मूल भाष्य तथा उसके सामने ही हिन्दी अर्थ दिया है। कई जगह टिप्पणी भी दी गयी है।

३—पातञ्जलयोगदर्शन—[हिन्दी-व्याख्यासहित] इसमें महर्षि पतञ्जलिकृत योगदर्शन सम्पूर्ण मूल, उसका शब्दार्थ एवं प्रत्येक सूत्रका दूसरे सूत्रसे सम्बन्ध दिखाते हुए उन सूत्रों-की सरल भाषामें व्याख्या की गयी है। अकारादि-क्रमसे सूत्रोंकी वर्णानुक्रमणिका भी दी गयी है।

आकार २०×३०-१६ पेजी, पृष्ठ १७६, मूल्य ।।।), सजिल्द १)

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

सूचीपत्र मुफ्त मँगवाइये।

श्रीमद्बादरायणप्रणीतब्रह्मसूत्राणां वर्णानुक्रमणिका

फ.

ब.

भ.

म.

अ० पा० सू०

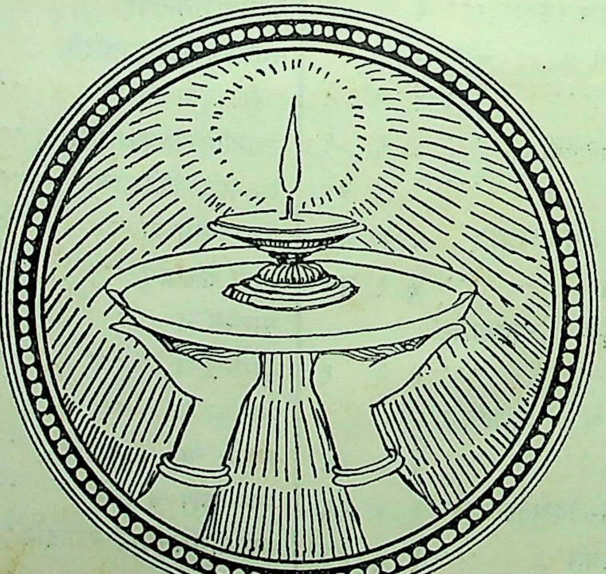
य.

र.

ल.

अ० पा० सू०

व.



मिलनेका पता—
गीताप्रेस, पो॰ गीताप्रेस (गोरखपुर)